मनोरमा शर्मा

नाटककार उदयशंकर भट्ट

नाटककार उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट की रचनाएं

उपन्यास

दो अध्याय	१.५०

नाटक

क्रान्तिकारी (पुरस्कृत)	२.००
मुक्तिदूत (पुरस्कृत)	२.००
एकला चलो रे	१.००
दाहर अथवा सिन्ध-पतन	२.००
नया समाज	१.५०
नहुष निपात	१.००

एकाकी

विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य (पुरस्कृत)	३.००
आदिम युग और अन्य नाटक (पुरस्कृत)	४.००
पर्दे के पीछे (पुरस्कृत)	३.००
कालिदास (पुरस्कृत)	२.००
जवानी और छः एकाकी	२.५०
सात प्रहसन	२.५०
समस्या का अन्त (पुरस्कृत)	३.००

कविता

मानसी (पुरस्कृत)	२.००
अमृत और विष	२.००
कणिका	१.५०
इत्यादि	३.५०
पूर्वापर	५.००

निबन्ध

साहित्य के स्वर	३.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

नाटककार उदयशंकर भट्ट

लेखिका

मनोरमा शर्मा, एम. ए.

दो शब्द

नरेन्द्र शर्मा

१९६३

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

NATAKKAR UDAY SHANKAR BHATT
by
Manorma Sharma, M.A.

Rs. 4 00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, सचालक
आत्माराम एण्ड सस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

शाखाएं
हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौडा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
महानगर, लखनऊ-६

मूल्य : चार रुपए
प्रथम सस्करण · १९६३

मुद्रक
पुरी प्रिंटर्स
नई दिल्ली-५

आशीर्वचन

श्री उदयशंकर भट्ट हिन्दी के प्रख्यात कवि एवं नाटककार है। यद्यपि साहित्य की विभिन्न विधाओ के माध्यम से उन्होने हिन्दी की श्रीवृद्धि की है, फिर भी नाटक के क्षेत्र मे उनका योगदान विशेष रूप से उल्लेख्य है। विषय-वैविध्य और शैलीगत नवीनता की दृष्टि से उनकी रचनाओ का हिन्दी-नाट्य साहित्य मे अन्यतम स्थान है। किन्तु, लगभग तीस नाट्य-कृतियो के रचयिता होने पर भी भट्टजी के कृतित्व का आलोचनात्मक अनुशीलन प्राय: नगण्य रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध द्वारा कुमारी मनोरमा शर्मा ने इस अभाव की पूर्ति करने का प्रशसनीय कार्य किया है।

भट्टजी के नाटको की समीक्षा करते समय लेखिका की दृष्टि श्रद्धा-समन्वित होने पर भी प्राय वस्तुनिष्ठ रही है। यद्यपि लेखिका का यह प्रथम प्रयास ही है, फिर भी उनकी नाट्य-कला की सभी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन-विश्लेषण करने मे उसे पर्याप्त सफलता मिली है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य के अध्येता सामान्यत: और श्री उदयशकर भट्ट के साहित्य के प्रेमी पाठक विशेषत: इस अभिनव कृति का स्वागत करेंगे।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-६

—नगेन्द्र

दो शब्द

प्रस्तुत प्रबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहा ह, यह देखकर मेरे आनन्द का द्विगुणित हो जाना स्वाभाविक है। प्रबन्ध का विषय मेरे साहित्यिक अग्रज आदरणीय श्री उदयशंकर भट्ट के नाट्य साहित्य से सम्बन्धित है और प्रबन्ध की लेखिका, कुमारी मनोरमा शर्मा मेरे एक पुराने सहपाठी और मित्र, श्री नन्दकिशोर शर्मा, की सुपुत्री है। शिक्षा-दीक्षा, साहित्य के प्रति सुरुचिपूर्ण अनुराग और विद्या-विनय के संस्कार पुत्री को पिता से प्राप्त हुए है; इस सत्य की झाँकी प्रबन्ध को पढते समय मै सहज ही प्राप्त कर सका।

भट्टजी हिन्दी के उन साहित्य-सेवियो मे अग्रगण्य है, जिनकी प्रतिभा बहुमुखी है। वह कवि, कथाकार, नाटककार और साहित्य-अध्येता के रूप मे हमारे सामने आते है। उनका जीवन एक भावनिष्ठ देशभक्त और हिन्दी-सेवी साहित्यिक का सक्रिय जीवन है। उनकी गणना हिन्दी संसार के अति विशिष्ट व्यक्तियो मे होनी चाहिए।

स्वाभाविक है कि हिन्दी संसार भट्टजी के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय मे सामान्य से कुछ अधिक जानकारी पाना चाहे। इस दिशा मे पथ-प्रदर्शन करने के लिए हमे कुमारी मनोरमा शर्मा के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

युवाओं की प्रगति देखकर वयस्को को जो सुख मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए अपने सुख की कामना से मै चाहता हूँ कि कुमारी मनोरमा शर्मा भट्टजी के काव्य और कथा-साहित्य पर भी एक ऐसा ही प्रबन्ध प्रकाशित कराएँ जिससे अध्ययन की इस दिशा मे उनका एक कार्य सागोपागपूर्ण हो।

मैं कुमारी मनोरमा शर्मा और उनके इस अध्ययन-कार्य का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और सफलता के लिए उन्हें अपनी मंगल-कामनाएँ अर्पित करता हूँ।

विविध भारती,
आकाशवाणी,
नई दिल्ली

—नरेन्द्र शर्मा

प्रस्तावना

शुभश्री मनोरमा शर्मा ने 'नाटककार उदयशकर भट्ट' नाम्नी इस पुस्तक का निर्माण एम० ए० परीक्षा के प्रश्नपत्र के रूप मे किया था। सौभाग्य से इस सुयोग्य शिष्या के पथ-प्रदर्शन का कार्य मुझे ही करना पडा था अतः इनसे और इनकी कृति से भली-भाँति परिचित होने के कारण भूमिका के रूप मे संक्षेपत' अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार मै त्याग न सका।

माननीय उदयशकर भट्ट हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ नाटककार है। नाटको के अतिरिक्त उन्होने काव्य, उपन्यास एव निबन्ध आदि भी प्रचुर मात्रा मे लिखे है। परन्तु लेखिका ने प्रस्तुत पुस्तक मे उनके केवल 'नाटककार' रूप को ही अकित किया है। इस चित्रण मे उन्होने भट्टजी की प्रकाशित और अप्रकाशित सभी मौलिक, अनूदित तथा सकलित रचनाओ पर गाम्भीर्य एव विस्तार से प्रकाश डाला है।

भट्टजी ने विषय-भेद से पौराणिक, ऐतिहासिक एव सामाजिक नाटको का सृजन किया है तथा विषय-भेद से उन्होने नाटक, भावनाट्य, गीतिनाट्य तथा एकाकियों की रचना की है। लेखिका ने इन सभी का बडा ही सुन्दर विश्लेषण एवं विवेचन किया है।

प्रथम अध्याय मे नाटककार के जीवनवृत्त एव कृतियो का उल्लेख है। कलाकार का व्यक्तित्व उसकी रचनाओ मे प्रतिबिम्बित होता है अत' पुस्तक का आरम्भ बडी ही मनोवैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है। इसमे भट्टजी के क्रमिक काव्योन्मेष तथा उनकी बहुमुखी प्रतिभा का भी सुन्दर विवेचन है।

अग्रिम अध्यायो मे क्रमश पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों का सभी दृष्टियो से समालोचन, नाटक-तत्वो के आधार पर नाटको का विश्लेषण, भाव-नाट्य, गीतिनाट्य तथा रेडियो-रूपको का विवेचन, एकाकियों का निरूपण, नाटको मे उल्लिखित गीतो का भाव एव कला की दृष्टि से परीक्षण और अन्त मे नाट्य-परम्परा का सक्षिप्त विकास-प्रतिपादन तथा उसमे भट्टजी का स्थान-निर्धारण हुआ है। इस प्रकार क्रमशः विषय के चयन, प्रतिपादन एव उल्लेखन मे

बड़ा ही सामंजस्य है तथा साथ ही ये आधुनिक वैज्ञानिक सरणि पर आधृत हैं, अतः सराहनीय है।

लेखिका ने पौराणिक एव ऐतिहासिक नाटकों मे कथावस्तु की पृष्ठभूमि, राजनैतिक नाटको मे राजनीति तथा सामाजिक नाटकों मे समाज का दर्शन हमे अत्यन्त ही स्पष्ट रूप मे कराया है। इसमें अतीत और वर्तमान दोनो के ही दर्शन उपलब्ध होते हैं। भावनाट्य, गीतिनाट्य तथा रेडियो रूपको का भेद-प्रकाशन एवं निरूपण भी अत्यन्त समुचित और तर्कसंगत है।

इस पुस्तक मे विविध नाटकों के समीक्षण के साथ-साथ प्रमुख पात्रो के चरित्र का जो विश्लेषणात्मक अंकन हुआ है, वह वास्तव में बड़ा ही हृदय-ग्राह्य है।

इस प्रकार इस पुस्तक में भट्टजी के 'नाटककार' रूप का हमें सम्पूर्ण चित्र उपलब्ध होता है। निर्देशक के नाते मेरे द्वारा पुस्तक की अधिक स्तुत्यात्मक आलोचना स्तुत्य न होगी अतः और अधिक न लिखता हुआ इतना अवश्य कहूँगा कि नाटककार भट्टजी पर इतनी सर्वांगीण पुस्तक अब तक निर्मित नहीं हुई।

अन्त मे मैं लेखिका को इस प्रयास के लिए बधाई देता हूँ तथा साहित्य-सेवियो द्वारा इसके सम्मान की मगल-कामना करता हूँ।

—विमलकुमार जैन

दिल्ली कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

निवेदन

पं० उदयशंकर भट्ट हिन्दी साहित्य के यशस्वी और लोकप्रिय नाटककार हैं। उनके नाटकों तथा एकाकियो का केवल साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक महत्त्व ही नही है, सास्कृतिक महत्त्व भी है। आधुनिक नाट्य-साहित्य के साथ-साथ वह भारतीय समाज के उन्नायक है। हमारे सम्मुख वह कवि, उपन्यासकार, नाटककार और एकाकीकार के रूप में प्रस्तुत होते है।

भट्टजी के व्यक्तित्व और काव्य सामग्री की ओर मेरा आरम्भ से ही झुकाव रहा है। उनकी प्रायः समस्त रचनाओ का मैंने अनुशीलन किया है। उनके साहित्य के सम्बन्ध मे प्रकाशित समीक्षाओ को भी देखने-पढने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। भट्टजी के साहित्य को देखते हुए यह सामग्री अत्यन्त अल्प मात्रा मे है। भट्टजी के साहित्य के विषय की स्पष्टता के लिए विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त उनके नाटककार रूप पर एम० ए० परीक्षा के एक प्रश्नपत्र के रूप मे श्रद्धेय गुरुवर डा० नगेन्द्र की अनुमति से यह प्रबन्ध लिखा है।

छः अध्यायों के इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे नाटककार के जीवन को प्रस्तुत किया गया है क्योंकि लेखक का जीवन-वृत्त उसके व्यक्तित्व-निर्माण का बाह्य उपकरण होता है और जीवन-दर्शन आभ्यन्तर। काव्य में कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है अतः लेखक के काव्य के अध्ययन मे जीवनी का अत्यधिक महत्त्व है। प्रथम अध्याय मे नाटककार के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनकी प्रकाशित, अप्रकाशित, मौलिक, अनूदित, संकलित—सभी प्रकार की रचनाओं का उल्लेख किया है। भट्टजी के जीवन का पूर्ण विवरण देते हुए उनके काव्य के क्रमिक विकास का सकेत भी किया है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के साथ उनके कवि, उपन्यासकार, नाटककार तथा एकाकीकार आदि

अनेक रूपो का दिग्दर्शन है।

द्वितीय अध्याय मे उनके पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको का कालक्रमानुसार विश्लेपण है। यह अध्याय तीन खण्डों मे विभक्त है। प्रथम खण्ड में उनके पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय है। द्वितीय खण्ड मे भट्टजी के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तत्व का सामंजस्य और सामाजिक नाटकों मे समाज का यथार्थ चित्रण आदि का विवेचन है। तृतीय खण्ड मे भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों द्वारा निर्धारित नाटक के मुख्य तत्व—कथावस्तु, पात्र (चरित्र-चित्रण), रस, कथोपकथन, भाषा-शैली और रंगमच की दृष्टि से नाटको का विश्लेषण है।

तृतीय अध्याय को भी तीन खण्डों मे विभक्त किया है। प्रथम खण्ड मे भावनाट्य और गीतिनाट्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए भावनाट्य के तत्वों के आधार पर भट्टजी के भावनाट्यो का विश्लेषण है। द्वितीय खण्ड मे भट्टजी के गीतिनाट्यो को विवेचन का आधार बनाया है और तृतीय खण्ड मे रेडियो रूपक के तत्वो के आधार पर भट्टजी के रेडियो-रूपकों को परखने का प्रयास है।

चतुर्थ अध्याय मे उनके एकाकियो की कथावस्तु का संक्षिप्त परिचय एवं एकाकी के तत्वो के आधार पर उनकी विवेचना है।

पचम अध्याय के अन्तर्गत सभी नाटको मे आये हुए गीतों का भावपक्ष, कलापक्ष के साथ-साथ परिस्थिति, भावों आदि की दृष्टि से विश्लेषण किया है। इनका अलग विवेचन इसलिए किया है क्योकि गीत नाटक का आवश्यक तत्त्व है, दूसरे उनका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है।

षष्ठ अध्याय मे हिन्दी नाट्य परम्परा का सक्षिप्त विकास है और उसमें भट्टजी के स्थान को निर्धारित करने का प्रयास है।

परिशिष्ट भी तीन खण्डों मे विभक्त है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत भट्टजी के नाटको और एकाकियों में प्रयुक्त सूक्तियाँ संकलित हैं, द्वितीय खण्ड में भट्टजी की प्रस्तुत पुस्तक मे चर्चित पुस्तको की सूची है। तृतीय खण्ड में सहायक ग्रन्थो की सूची।

प्रस्तुत प्रबन्ध दिल्ली कालेज के प्राध्यापक डा० विमलकुमार जैन के निर्देशन में लिखा गया है। उन्ही के आदेशानुसार यत्र-तत्र परिवर्द्धित एव संशोधित करके इसे पुस्तक के रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है। उनके मनोयोगपूर्ण मार्गदर्शन के फलस्वरूप ही इसे यह रूप मिल सका है। डा० जैन के अतिरिक्त डा० महेन्द्रकुमार, डा० स्नातक से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। इन सभी गुरुजनों की आभार स्वीकृति मे धन्यवाद देना तुच्छ समझ मैं श्रद्धा-सहित प्रणाम करती हूँ। इस ग्रन्थ के प्रणयन मे भट्टजी से मुझे बहुमूल्य सुझाव एव सामग्री मिलती रही है। उनका वात्सल्यपूर्ण व्यवहार और सहायता मेरे लिए सदैव सम्बल रहे है। अतः उनके प्रति विनम्र भाव से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

श्रद्धेय गुरुवर डा० नगेन्द्रजी (जिन्होने इस प्रबन्ध को लिखने की मुझे सहर्ष अनुमति दी थी) एवं श्रद्धेय कविवर नरेन्द्रजी शर्मा (जिन्होने 'दो शब्द' लिखकर मेरे प्रबन्ध की महत्ता को द्विगुणित किया है) के सम्मुख मैं मौन भाव से नत हूँ।

जिन विद्वानो के ग्रन्थो का अनुशीलन करके यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ है उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। अन्त मे अपने बन्धुवरो को (जिन्होने परिशिष्ट एवं अन्य प्रकार की सहायता दी है) धन्यवाद की अपेक्षा नही क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास है कि अपनी इस पुस्तक का प्रकाशन देखकर ये लोग मुझसे कम प्रसन्न नही होंगे। प्रकाशक महोदय ने अत्यधिक उत्साह से इस कृति को प्रकाशित किया है एतदर्थ वह मेरे धन्यवाद के पात्र है। इत्यलम्।

—मनोरमा शर्मा

क्रम

१ | भट्टजी का जीवन-वृत्त

समाज मे रहने के कारण साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार की परिस्थितियो से प्राभवित होता ही रहता है। उसका प्रादेशिक, लौकिक, धार्मिक और कौटुम्बिक वातावरण सामान्य रूप से उसे इतना घेरे रहता है कि इससे बाहर निकलना उसके लिए सहज नही होता। यदि निकल भी जाय तो भी उसके प्रबल सस्कार उसे बलात् उस दिशा मे प्रेरित करते ही रहते है। क्योकि साहित्य व्यक्ति की आत्मा की अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है और मेरे विचार मे आत्माभिव्यक्ति सस्कारो से भिन्न और कोई वस्तु नही। अत यह स्वाभाविक ही है कि कोई भी कृति साहित्यकार के अपने स्वय के सस्कारो की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। आज का आलोचक भी इसीलिए किसी भी साहित्यकार के साहित्य का मूल्याकन करने से पूर्व उसके व्यक्तित्व और जीवन-वृत्त का विश्लेषण करना अनिवार्य समझता है, क्योकि इससे उसे एक ओर जहाँ उसकी कृति को समझने मे सहायता मिलती है वहाँ दूसरी ओर वह कवि या लेखक के प्रति न्याय भी कर सकता है। प्रस्तुत प्रसग के अन्तर्गत इन्ही तथ्यो को दृष्टि में रखकर नाटककार उदयशकर भट्ट के जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व का विश्लेषण करने का यह विनम्र प्रयास है। प्रस्तुत जीवन-वृत्त का आधार भट्टजी के साथ किया गया मेरा वार्तालाप एव उन्ही के द्वारा लिखित स्मृतिचिह्न नामक लेख है।

पूर्वज—नाटककार भट्टजी के पिता का नाम मेहता फतेहशकर भट्ट था। भट्टजी के पूर्वज सिद्धपुर (गुजरात) से आकर सर्वप्रथम जिला बुलन्दशहर (उत्तर-प्रदेश) मे गङ्गातट पर स्थित कर्णवास ग्राम मे बसे थे। इससे पूर्व वे लोग इन्दौर नरेश की ओर से वहाँ न्यायाध्यक्ष होकर आए थे। उनका राज्य गंगातट तथा आस-पास तक था। इसके पश्चात् वे इन्दौर नरेश के राजपडित हुए, राज-अध्यक्ष भी। कहा जाता है कि वे कर्णवास के आस-पास चौरासी

गाँवो के स्वामी थे। उनके घर मे संस्कृतमय वातावरण था। प्रायः घर के सभी सदस्य घनजरावली के साथ पूर्ण वेद-पाठी थे। घर मे बडे लोग सस्कृत और गुजराती बोलते थे। संस्कृतमय वातावरण की प्रधानता एव परम आस्तिक विचार होने पर भी भट्टजी के पिता ने अग्रेजी का अध्ययन किया। ऐसे सुन्दर और अनुकूल वातावरण मे भट्टजी को रहने का सुअवसर मिला। अपनी बाल्यावस्था मे वह भी सस्कृत बोलते थे। जैसा कि उन्हे स्मरण है वह कभी-कभी अनुष्टुप छन्द मे बात करने का अभ्यास करते थे।

भट्टजी के पिता रेलवे के कार्यालय मे पहले बम्बई तत्पश्चात् अजमेर मे कर्मचारी रहे। धार्मिक विचारो के साथ-साथ ब्रजभाषा और तुलसीदास के साहित्य के प्रेमी होने के कारण वे कभी-कभी कवित्त-सवैया लिखते और होली-दिवाली पर सयुक्त प्रान्त के व्यक्तियो की गोष्ठी मे ब्रजभाषा की होलियाँ तथा कवित्त सुनाते थे। भट्टजी को इस प्रकार की गोष्ठी में अपार आनन्द प्राप्त होता और इसी प्रकार रचना करने की सोचा करते थे।

जन्म-तिथि एवं स्थान—भट्टजी का जन्म श्रावण शुक्ला नाग पचमी विक्रम सम्वत् १९५४ (ई० सन् ३ अगस्त, १८९८) को इटावा मे उनकी ननसाल मे हुआ।[१]

बाल्यावस्था मे भट्टजी की शिक्षा नियमित रूप से नही हो सकी। आरम्भिक अध्ययन मे अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहे और जीवन के ये उलट-फेर उनकी बाद की पढाई व जीवन मे भी बने रहे। बचपन में भट्टजी की स्मरण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। संस्कृतमय वातावरण के कारण शब्द-रूपावली, धातुरूपावली, अमरकोष के दो काण्ड भट्टजी को कंठस्थ थे। परन्तु स्कूल जाने से वह सदैव जी चुराते थे। स्कूल के बहाने कभी आनासागर की बारह-दरी मे बैठकर घण्टो झील के सौन्दर्य का आनन्द उठाते तो कभी स्टेशन पर बैठकर गाडियो का आना-जाना, लोगो का रेल मे चढ़ना, दौड-धूप देखा करते थे। इस प्रकार एक ओर आनासागर का प्रशान्त वातावरण और दूसरी

१. 'स्मृतिचिन्ह' नामक लेख।

ओर कोलाहल से परिपूर्ण रेलवे स्टेशन—ये दोनों ही भट्टजी के आकर्पण-प्रिय स्थान थे।

भट्टजी प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण के लिए अपने पिता के साथ जाया करते थे। एक बार अजमेर से आगरे जाते हुए भट्टजी को रामायण के टीकाकार पण्डित रामेश्वर के यहाँ ठहरने का अवसर मिला। रामेश्वरजी के कनिष्ठ पुत्र बदरीनाथ उन दिनो 'सरस्वती' के सहकारी सम्पादक और सम्भवतः 'बालसखा' के सम्पादक थे। भट्टजी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। किन्तु इस व्यक्ति से वार्तालाप करने की तीव्र लालसा होने पर भी वे सुअवसर न खोज पाते। कभी-कभी भट्टजी उनकी अनुपस्थिति मे चुपचाप कमरे मे जाकर पत्रिकाएँ टटोलने लगते और कहानी पढते थे। तभी से वे 'सरस्वती' पढ़ने के लिए सदैव लालायित रहने लगे। इधर भट्टजी के पिता भी बद्रीनाथ-जैसे पुत्र के कारण रामेश्वरलालजी को सौभाग्यशाली समझते थे। इसका भट्टजी पर बहुत प्रभाव पडा और उन्होने किस्सा तोता-मैना, सिंहासन-बत्तीसी, जासूसी उपन्यास, चन्द्रकान्ता-सन्तति के कुछ अश, सुखसागर, तुलसी रामायण आदि ग्रन्थ पढ़ लिए।

तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था से अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था तक भट्टजी का जीवन बड़े सघर्ष का, उतार-चढाव का जीवन है। उनके जीवन का यह काल आँधी-तूफानो के वक्षस्थल पर सवार होकर चला है। कभी वह उड़-कर हिमालय के ऊपर पहुँचा है तो कभी समुद्र की गहराइयो मे जा डूबा है और कभी थपेड़े खाकर मूर्छित हो गया है। उन्होने जीवन की भभकती चट्टान पर बैठकर समाज की उपेक्षा की लपटो मे खेलते हुए अभावो का विष भी पिया है। स्वयं भट्टजी के शब्दों मे -

"इस बीच के काल मे अकल्पनीय प्रचण्डता से भाग्य के फलाफल में जो देखा उसकी कल्पना कर सकता हूँ कि उत्तरी ध्रुव मे ही नही मेरे जीवन मे भी निरन्तर तीन-चार साल की काली रात्रि आ गई और यदि सूर्य निकला भी तो वह केवल मेघाच्छन्न, जैसे किनारे का दृश्य देखते ही देखते किसी ने तूफानी नदी में से तैरने-डूबने या बह जाने के लिए फेक दिया हो।''''''इन

वर्षों मे माता-पिता का देहान्त हो जाने से घर की व्यवस्था नष्टप्राय: हो गई। जिनसे संरक्षण मिलने की आशा थी उनसे मिला तिरस्कार और आक्रोश। मकान मेरे लिए खण्डहर थे और मनुष्य प्रेत के अट्टहास से गुंजित कंकाल, सत्कार और निरादर। आश्रम सड़क की धूल में गुम्फित चट्टान का टुकड़ा।...डगमगाते हुए पथिक के सदृश मेरी जीवन नौका धीरे-धीरे ससार-सरिता मे प्रवाहित हो रही थी।"[१]

पिता की मृत्यु के पश्चात् भट्टजी के जीवन का नया मोड़ आरम्भ हुआ। उस समय भट्टजी अनिश्चित दिशा का सहारा लेकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं की ओर देखते हुए भूखे पेट चले जाते थे। जीवन का वह चित्र आज भी उनके सम्मुख ज्यो का त्यों अंकित है। अपना अध्ययन सुचारु रूप से चलाने के लिए उनको अनेक ऐसे कार्य करने पडे जिन्हे ससार आज भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उस समय भट्टजी को इन व्यक्तियो के मध्य रहकर जो अनुभव हुआ वह 'मजदूर' नामक कविता मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'हस' के एक अक मे प्रकाशित भगी कविता की प्रेरणा का स्रोत भी उसकी वास्तविक दशा तथा एक बार भगियों द्वारा की गई हडताल के समय का उनका अनुभव ही है—इस सबका प्रभाव भट्टजी के साहित्य पर पडा और वे यथार्थ की ओर झुक गए। स्वय भट्टजी ने भी इसका समर्थन किया।

"कदाचित् इन्ही कारणो से मैं साहित्य मे यथार्थवाद का अनुयायी बना हूँ। मेरे अध्ययन मे आँख खोलकर प्राप्त किये गए जीवन के इन अनुभवों ने विशेष योग दिया है। कदाचित् इसीलिए मैं स्वभाव से दार्शनिक और अनुभव से प्रगति-प्रेमी बन सका हूँ। जिसमें यथार्थता ने मुझको साहित्यिक बनने के लिए बाध्य किया है।...उन्नीस-बीस वर्ष तक मेरे जीवन में दुःख के जो तूफान आए, नदी मे तिनके की तरह जो मैं इधर-उधर बहता रहा उन सबने मुझे नया जीवन दिया, नई प्रेरणा दी।"[२]

---

१. 'स्मृतिचिन्ह' नामक लेख।

२. वही।

इन्ही दिनो १९२०-२१ मे गांधीजी का प्रथम असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हुआ। तब भट्टजी बनारस-विश्वविद्यालय में अध्ययन करते थे। असहयोग आन्दोलन करने वालो में उनका १६वाँ-१७वाँ स्थान था। यद्यपि भट्टजी का इस समय एक मात्र उद्देश्य परीक्षा मे उत्तीर्ण होना था तो भी वे देश-प्रेम के मोह से न बच सके। देश-भक्ति के आवेश में आकर उन्होने विद्यालय को छोड दिया। अब भट्टजी पढाई को छोडकर देश-विजय-विद्यालय की ओर उन्मुख हुए। तत्पश्चात् भट्टजी का अधिकाश समय छात्रावास में रहने वालो को हटाने, उन्हे धिक्कारने, उनमे पढाई के प्रति घृणा उत्पन्न कराने में व्यतीत होने लगा। कुछ सीमा तक वे इसमे सफल भी हुए। अस्तु।

भट्टजी का निर्माण जिस वातावरण मे हुआ उसमे आकस्मिकता को प्रधानता मिली। एक ओर पूजापाठ, कर्मकाण्ड, खाने-पीने मे आचार-विचार को प्रमुख स्थान देने तथा उत्सव-आयोजन मे नियम-विधि का पूर्ण पालन करने में तत्पर पिता के कृत्यों से भट्टजी सदैव ही प्रभावित रहे तो दूसरी ओर माता की आस्तिकता ने जब-तब उठने वाली विद्रोही प्रवृत्तियो को दबाने में सहायता ही दी, किन्तु भट्टजी ने चेतना के जागृत होने पर विचारो के सघर्ष में यह निर्णय किया कि ये मर्यादाएँ केवल रूढि के आग्रह से प्रसूत एक प्रकार का अस्वाभाविक विकासहीन बन्धन है। उनके शब्दो मे—

"साहित्य जगत् मे प्रवेश करने पर सबसे पहला मेरा काम यह हुआ कि उस भीति को, उस मूढग्राह को दूर कर दूं। रूढ़ि दुराग्रह की कुहेलिका मे पोषित भ्रान्त धारणाओं, परम्परा के नाम से मस्तिष्क को विकृत करने वाली चेतना के तन्तुओं मे बद्धमूल भ्रान्ति को मैं तोड दूं।...कदाचित् चिन्तन, स्वाध्याय और स्वयं प्रस्फुटित होने वाले विवेक का मैं आदर न करने पर उसी गण्डलिका प्रवाह मे बहता जो एक साहित्यिक के लिए कुम्भीपाक होता।"[1]

परन्तु भट्टजी इन विघ्न-बाधाओ से घबराने वाले व्यक्ति न थे। इसके द्वारा उनके हृदय में एक अडिग लगन और माँ भारती के लिए सेवा की तीव्र

---

१. 'स्मृतिचिन्ह' नामक लेख।

आकाक्षा उत्पन्न हो गई। यही भावना भट्टजी को आगे बढ़ा लाई। आर्थिक सकट और पारिवारिक उलझनो के इसी चक्कर मे भट्टजी ने सस्कृत तथा अग्रेजी का ज्ञान अर्जित किया।[1] इस प्रकार जीवन से सघर्ष करते हुए भट्टजी ने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश सन् १९२८ ई० मे किया। यों तो उनका 'साँख्य-दर्शन के कर्ता' शीर्षक पहला लेख सन् १९१७ ई० में 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित हो चुका था। उन्ही दिनों महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भट्टजी को लिखते रहने की प्रेरणा दी। उनके साहित्यिक जीवन का प्रमुख केन्द्र लाहौर ही रहा, जहाँ भट्टजी सन् १९२३ से १९४६ तक रहे। लाहौर में वे कुछ समय तक सनातन धर्म कालिज में प्रोफेसर रहे। तत्पश्चात् पहले लाला लाजपतराय के द्वारा स्थापित नेशनल कालिज मे फिर लायलपुर खालसाक ालिज मे प्राध्यापक रहे।

भारत विभाजन के उपरान्त भट्टजी ने दिल्ली को अपनी साहित्य-सेवा का केन्द्र बनाया। देश के दुर्भाग्यपूर्ण बटवारे का उनको अत्यन्त तीखा और कटु अनुभव हुआ जिसका प्रभाव उनकी इस सम्बन्ध मे लिखी कविताओ से प्रकट होता है। भट्टजी मानव के इस निर्मम हत्याकाण्ड को देखकर आकुल हो उठे और इस पशुताभरी मानवता के प्रति उन्होने अपनी घृणा व्यक्त की।

कहता मनुष्य—हूँ विश्व में सभी से उच्च
अल्लाह का पुत्र और ज्ञान का महान पुज
इससे तो अच्छा था तू—
पशु बना रहता रे·······।

इसके बाद वे साहित्य सृजन मे निरन्तर जुटे रहे। वे आल-इण्डिया रेडियो के हिन्दी परामर्शदाता रह चुके है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर उन्होने हिन्दी परिषदो का उद्घाटन किया है। बम्बई मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व किया। इससे पूर्व १९२१-२२ में चौराचौरी काण्ड के समय बरेली कांग्रेस के सभापति, फिर डिक्टेटर और बरेली जिला कांग्रेस के

१. भट्टजी के साथ किये गए वार्तालाप के आधार पर।

उपाध्यक्ष भी रह चुके हैं। उन्हीं दिनों पं० मोतीलालजी द्वारा स्थापित स्व-राज्य पार्टी के मन्त्रीपद को भी उन्होंने सुशोभित किया था।

आजकल उनके रूपक, ध्वनिरूपक, नाटक, एकांकी प्रसारित होते रहते हैं। अब तक उनकी निम्न रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं :

काव्य

१.	तक्षशिला—खण्ड काव्य	१९२८
२.	राका—कविता संग्रह	१९३०
३.	विसर्जन—कविता संग्रह	१९३१
४.	मानसी—खण्ड काव्य	१९३३ (ती० सं० १९६१)
५.	अमृत और विष—कविता संग्रह	१९४४ (ती० सं० १९६१)
६.	युगदीप— (पूर्वापर) कविता संग्रह	१९४४ (दू० सं० १९६३)
७.	यथार्थ और कल्पना—(,,) कविता संग्रह	१९४८ (दू० सं० १९६३)
८.	कौन्तेय कथा (विजय पथ)—खण्ड काव्य	१९५० (दू० सं० १९६२)
९.	कणिका—मुक्तक संग्रह	१९६१
१०.	इत्यादि—कविता संग्रह	१९६१
११.	अन्तर्दर्शन : तीन चित्र	१९५८ (दू० सं० १९६०)

नाटक

१.	विक्रमादित्य—ऐतिहासिक नाटक	१९२९ (दू० सं० १९५७)
२.	दाहर अथवा सिन्ध पतन— ,,	१९३० (दू० सं० १९६२)
३.	विद्रोहिणी अम्बा—पौराणिक नाटक	१९३१
४.	सगर-विजय— ,,	१९३२
५.	कमला—सामाजिक नाटक	१९३५
६.	अन्तहीन-अन्त— ,,	१९३८
७.	मुक्तिदूत (मुक्तिपथ)—ऐतिहासिक नाटक	१९४४ (दू० सं० १९६०)
८.	शक-विजय— ,,	१९४८ (दू० सं० १९५५)
९.	क्रान्तिकारी—राजनीतिक नाटक	१९५३ (दू० सं० १९६०)
१०.	नया समाज—सामाजिक नाटक	१९५५ (दू० सं० १९६२)

११.	अशोकवनबन्दिनी—गीतिनाट्य	१९५८ (द्वि० सं० १९५९)
१२.	पार्वती—सामाजिक नाटक	१९५८
१३.	एकला चलो रे—पद्य-नाटक	१९४८ (द्वि० सं० १९६०)
१४.	नहुष-निपात	१९६१

एकांकी नाटक

१.	अभिनव एकांकी	१९३३
२.	विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य	१९३४-३५ (द्वि० सं० १९६०)
३.	आदिम युग और अन्य नाटक	१९३५-३६ (ती० सं० १९५६)
४.	स्त्री का हृदय	१९४०
५.	समस्या का अन्त	१९४७ (द्वि० सं० १९६२)
६.	कालिदास—ध्वनि रूपक	१९४८ (द्वि० सं० १९६१)
७.	धूमशिखा	१९५०
८.	अन्धकार और प्रकाश	१९५२
९.	पर्दे के पीछे	१९५४ (द्वि० सं० १९६०)
१०.	आज का आदमी	१९५९
११.	जवानी और छ. एकांकी	१९६१
१२	सात प्रहसन	१९६२
१३.	नारी के रूप (असुर सुन्दरी)	१९६२

उपन्यास

१.	वह जो मैंने देखा—दो भाग	१९४०-४३
२.	नये मोड (डा० शेफाली)	१९४८ (द्वि० सं० १९६०)
३.	लोक-परलोक	१९५५
४.	शेष-अशेष	
५.	सागर, (उत्तराधिकारी) लहरे और मनुष्य	१९५८
६.	दो अध्याय	१९६२

निबन्ध

१.	साहित्य के स्वर	१९६१

सम्पादित

१.	कृष्णचन्द्रिका (गुमानी मिश्र)	१९२३
२.	शकुन्तला (कालिदास)	१९३८
३.	समस्याएँ और हम (एकाकी)	१९५०
४.	जीवन और सघर्ष ,,	१९५२[1]

भट्टजी के इस अनेकागी साहित्य मे हमे उनके कवि, नाटककार, एकाकीकार और उपन्यासकार के दर्शन होते है। रेडियो रूपक और भाव-नाट्य तो उनके नाटककार रूप की ही देन हे।

भट्टजी के विभिन्न रूपों का संक्षिप्त परिचय

कवि के रूप में भट्टजी—कविता के क्षेत्र मे भट्टजी ने काव्य जनोचित्य देश की परतन्त्रता, सैनिक की महानता, स्वतन्त्रता की पुकार, पूँजीपतियो द्वारा शोषित किए जाने वाले मध्य वर्ग की अवस्था का यथार्थ चित्र अंकित किया है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता, प्रगतिशीलता और आधुनिकता के नाम पर मानसिक दासता के प्रचार का सत्य रूप अकित किया है। एक ओर बलिदान, त्याग और वीरता के पुज सैनिक की वन्दना है दूसरी ओर सत्य और अहिसा का जयघोप है। भट्टजी की इन कविताओ मे सामयिक विचार-धारा की छाप है। किन्तु सभी स्थानो पर एक स्वर संचारी है—वह है उनका 'मानव-प्रेम' और 'मानव की महानता में विश्वास'। जीवन-सघर्ष के युग की पुकार के साथ-साथ राष्ट्रीयता की दृष्टि से प्राचीन भारत की महानता, गौरव, सभ्यता और सस्कृति, वर्तमान की सभी सामाजिक और राजनीतिक चेतनाएँ भी अपने कलामय रूप मे चमकी हैं। भट्टजी ने दुःख, निराशा, खेद और क्षोभ को जीवन में स्वीकार किया है। उनके काव्य में दो परस्पर विरोधी भावनाओं के दर्शन होते है। एक ओर जहाँ उनकी कविता की विपय वस्तु आदर्श की ओर उंगली उठाती है वहाँ दूसरी ओर

---

१. उपर्युक्त विषयसूची अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि यह मुझे भट्टजी द्वारा ही प्राप्त हुई है।

वह यथार्थ का चित्र अंकित करती है, प्राचीन कुसस्कार और रूढियों के विरोध मे है तो नवीनता की जटिलता की ओर भी विरोध का भाव प्रदर्शित करती है। जनता का प्रतिनिधि होने के कारण कवि ने जनता की भावनाओ को वाणी देकर साथ-साथ आदर्श की ओर सकेत कर कविता को सार्थक किया है।

'नाटककार' के रूप मे हिन्दी साहित्य को भट्टजी की देन और भी महान् है। उनकी नाटकीय प्रतिभा विविध शैलियो एव विषयो के नाटक लिखने मे स्पष्ट हुई है। जहाँ उनमे विषयों की विविधता है वहाँ शैलियों की नवीनता भी है। उनके नाटको मे अतीत के उज्ज्वल रूपों का मार्मिक चित्रण है तो आधुनिक जीवन और नवीन समाज की जीती-जागती मूर्ति भी है। उनके नाटको का क्षेत्र सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि के समान विस्तृत, विविध और व्यापक है। उनकी दृष्टि सर्वतोन्मुखी है। पौराणिक, धार्मिक समस्याओं से लेकर सामाजिक, राजनीतिक क्रान्ति तक की सम्पूर्ण समस्याएँ उनके नाटको मे फैली हुई हैं। भट्टजी के नाटको का सबसे अधिक प्रभावशाली दृष्टिकोण है—काव्यात्मक, जिसमे उनका व्यक्तित्व प्रबल नही प्रत्युत प्रखर भी है। उनके विचार साहित्य, कला, जीवन-दर्शन आदि के प्रति सर्वथा निर्भ्रान्त और स्पष्ट हैं उनका वक्तव्य अजस्र प्रवाहपूर्ण झरने के वेग की भाँति श्रोता को चमत्कृत कर देता है। उनके व्यक्तित्व की प्रबलता उनके तर्कों से भी स्पष्ट होती है। नाटको की भूमिकाओ मे भट्टजी की तर्क-पूर्ण शैली के दर्शन होते है जिसके नियोजन का मुख्य कारण अपनी आत्मा के प्रति उनकी ईमानदारी है।

नाटककार के साथ-साथ भट्टजी एक कुशल अभिनेता भी है। १९२०-२१ के आन्दोलनो के दिनों मे प्रसिद्ध देशभक्त चितरजनदास का उन्होने अभिनय किया था जिसकी उस समय अत्यन्त प्रशसा हुई।

भट्टजी ने एकाकी नाटक लिखना सन् १९३८ ई० से आरम्भ किया। इन एकाकियो द्वारा उन्होने जीवन के विभिन्न पहलुओ के सजीव चित्र उपस्थित किए है। 'कालिदास और दो ध्वनि रूपक', 'एकला चलो रे', 'पर्दे के पीछे' आदि में आपकी कला का अच्छा प्रदर्शन हुआ है। नाटक के विभिन्न रूप

लिखने के लिए उन्हे उनके दैनिक जीवन से, उनकी प्राचीन परिस्थितियों से, सहायता मिली है। भट्टजी के शब्दो में—

"बचपन मे मैंने अभिनय अवश्य किया है भिन्न-भिन्न नाटकों मे। बाल्य-काल मे रासलीला, नौटकी, दशहरा देखने का अत्यन्त शौक था। मथुरा मे रासलीला देखने की धुन ने तो मुझे पागल कर दिया। खाना-पीना भूलकर मैं दिन मे भी रासलीला के स्वप्न देखता—ये ही कारण हैं जिन्होने मुझे नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया।"[१]

इसके अतिरिक्त जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे स्वस्थ दृष्टिकोण को खोजने की चाह उनमे प्रारम्भ से ही है। अतः छात्र-जीवन से लेकर अभी तक आप विभिन्न विषयो की खोज करने के लिए सदैव भ्रमण करते रहे है। उनके अपने शब्दो मे—

"इस भ्रमण ने ही मुझे नाटक के लिए प्रेरित किया है······सम्भव है कि यदि मै भ्रमण न करता तो आज कही प्राध्यापक होता। आज भी मै भ्रमण करता हूँ।"[२]

भट्टजी की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से 'उपन्यास क्षेत्र' भी अछूता नही रहा। इस ओर भी उन्होंने अनेक अमूल्य रत्न प्रदान किए है।

'वह जो मैंने देखा', 'नए मोड़' आदि विस्तृत उपन्यास है। इनमे देश, समाज और व्यक्ति की विषमताओ और उनकी उथल-पुथल का सजीव चित्रण है। उनके उपन्यासो मे मानव-जीवन के उतार-चढ़ाव और पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का वास्तविक एव मार्मिक चित्रण है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी साहित्य-सेवा से बढकर अन्य किसी सम्मान को नहीं चाहते। वे सरस्वती के उन योग्यतम पुत्रो मे से है जिन्हे साहित्यिकता का वरदान चौमुखे-दीपक की भाँति चारो दिशाओ को आलोकित करता हुआ प्राप्त हुआ है। उन्होंने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी लेखनी

१. भट्टजी का वक्तव्य।
२. वही।

से अलंकृत किया है। मेरे पूछने पर कि आप अब भी लिखते है भट्टजी ने उत्तर दिया—"आजकल कोई बड़ा नाटक तो नही लिख रहा हूँ, सोच रहा हूँ कि अभी कई दृष्टियो से एकाकी नाटक ही लिखूं। मुझे ऐसा लगता है कि एकांकी नाटक के लिए बहुत ही विस्तृत क्षेत्र मेरे सामने है और सत्य तो यह है कि वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर लेखक को स्वयं ही रिटायर्ड हो जाना चाहिए।"

आजकल आप संस्मरण लिख रहे है।

२ | भट्टजी के नाटक

नाटककार उदयशंकर भट्ट की बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनी लेखनी से अलकृत किया है। उनकी नाटकीय प्रतिभा विविध शैलियो और विभिन्न विषयों के नाटक लिखने मे पूर्णत: विकसित हुई है। उनके नाटकों मे एक ओर आधुनिक जीवन और नवीन समाज की यथार्थ स्थिति का चित्रण है तो दूसरी ओर अतीत के उज्ज्वल रूपो की मार्मिक व्याख्या भी दृष्टिगत होती है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि भट्टजी ने अपने नाटको मे पौराणिक, ऐतिहासिक, सास्कृतिक, प्रागैतिहासिक काल से लेकर वैदिक युग के सामाजिक आचार-विचार एव मर्यादाओ का चित्रण करते हुए आधुनिक, सामाजिक और सामयिक समस्याओ को विवेचन का आधार या प्रतिपाद्य बनाया। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से उनके नाटकों को चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :

१. पौराणिक नाटक—विद्रोहिणी अम्बा, सगर-विजय
२. ऐतिहासिक नाटक—विक्रमादित्य, दाहर अथवा सिंध पतन, मुक्तिदूत और शक-विजय।
३. राजनीतिक नाटक—क्रान्तिकारी
४. सामाजिक नाटक—कमला, अन्तहीन अन्त, नया समाज और पार्वती।

पौराणिक नाटक

विद्रोहिणी अम्बा—पौराणिक शैली पर लिखा हुआ 'विद्रोहिणी अम्बा' वियोगान्त नाटक है। अम्बा की कथावस्तु का मूलाधार श्रीमद्भागवत से लिया गया है। नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है—

काशीराज की तीन पुत्रियाँ—अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका थीं। काशीराज ने हस्तिनापुर के महाराज शान्तनु की पत्नी सत्यवती के पुत्र विचित्र-वीर्य को कन्याओ के स्वयवर मे आमन्त्रित नही किया क्योकि सत्यवती धीवर की कन्या थी। इस पर भीष्म ने प्रतिशोध के लिए अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए काशीराज की तीनो कन्याओ का बलपूर्वक अपहरण किया। अम्बिका और अम्बालिका ने विचित्रवीर्य से विवाह करना स्वीकार कर लिया किन्तु अम्बा ने मन मे राजा शाल्व को पतिरूप मे पहले ही स्वीकार कर लिया था, अत: उसे राजा शाल्व के यहाँ भेज दिया गया। इधर राजा शाल्व ने भी पर-पुरुष द्वारा बलपूर्वक हरण किए जाने के कारण अम्बा को अस्वीकार कर दिया। शाल्व द्वारा तिरस्कृत होने के कारण अम्बा अपमान की अग्नि में जलती है। शाल्व की राज्यसभा को छोडते हुए क्रोध और निराशा से भरी कहती है :—

"···किन्तु जाती हुई एक बार तुम्हे कहे देती हूँ कि इसी मान-अपमान की आग मे, इसी क्षत्रियत्व की अविवेकिनी अग्नि-शिखा मे जलना होगा। इसी पापी समाज का अनन्तकाल के लिए नाश होगा। वीरता और विवेक की आँखों से देखने का छूछा आडम्बर रखने वाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य मे दास, निकृष्ट दास बनना होगा ··।"[1]

अम्बा भीष्म से प्रतिशोध लेने के लिए उद्यत हो जाती है क्योकि भीष्म ने ही उसका अपहरण किया जिसके फलस्वरूप वह अपमानित हुई। अत: वह भीष्म से बदला लेने के हेतु परशुराम से सहायता की भिक्षा माँगती है किन्तु परशुराम युद्ध मे परास्त हुए। अन्त मे चारों ओर से निराश हो अम्बा ने शिवजी की उपासना की और वरदान रूप मे भीष्म के नाश का कारण बनने की याचना की। वर प्राप्ति के उपरान्त ही उसने गगा मे कूदकर आत्म-हत्या कर ली जिससे वह प्रतिशोध के लिए शीघ्र ही पुनर्जन्म प्राप्त कर सके। नाटक के अन्त मे अम्बा शिखण्डी के रूप मे जन्म लेकर भीष्म की मृत्यु का कारण बनी।

---

१. विद्रोहिणी अम्बा, पृष्ठ ८० ।

उसका रूप 'मनुष्य का उपहास, दर्प की तुच्छता, हृदय की बेहोशी है।'

'विद्रोहिणी अम्बा' नाटक में अम्बा आज के नारी वर्ग की प्रतीक है जो अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार स्थापित करना चाहता है। प्रस्तुत नाटक में युगो से चली आ रही नारी-जीवन की प्रधान समस्या को लेखक ने अभिव्यक्त किया है। रामगोपाल सिंह चौहान के शब्दो मे—"भट्टजी ने तत्कालीन सामन्ती आदर्शों के खोखले और मानवीय मुलम्मे मे अमानवीय रूप को स्पष्ट कर इस रूप मे सामने रखा है कि हम सामन्ती युग की सीमाओं को जाँच-परख सकें, प्राचीन आदर्शों को नवीन सदर्भ मे ग्रहण करते समय उनके उचित-अनुचित की परख कर सकें।"[1] डा० नगेन्द्र के शब्दो मे "अम्बा में भी चिरन्तन नारीत्व की समस्या अत्यन्त तीखे रूप मे हमारे सामने आती है।"[2]

सगर-विजय—पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है जो नैतिक उद्देश्य से परिपूर्ण है। प्रस्तुत नाटक मे नीति, सत्य और धर्म की विजय तथा प्राचीन गौरव की भावना की प्रधानता है।

कथावस्तु—सगर अयोध्या के महाराज बाहु के पुत्र थे। जिनके (बाहु के) दो रानियाँ थी—विशालाक्षी और बर्हि। दुर्भाग्यवश दुर्दम नामक अत्याचारी राजा ने बाहु को राज्यच्युत कर स्वय राज्यसिंहासन ग्रहण किया। बाहु अपनी गर्भवती पत्नी विशालाक्षी को लेकर वन मे छिप गए। उनकी दूसरी पत्नी बर्हि सपत्नी-ईर्ष्या की अग्नि मे भभक रही थी। अत वन मे अवसर पाकर उन दोनो को विष दे देती है। जिसके परिणामस्वरूप बाहु की मृत्यु हो गई और विशालाक्षी बच गई। आश्रयहीना गर्भवती विशालाक्षी को वशिष्ठ ऋषि अपने आश्रम में ले गए। वही पर सगर का जन्म तथा पालन-पोषण हुआ, किन्तु प्रतिहिंसा की मूर्ति बर्हि ने छलपूर्वक बालक सगर का हरण कर उसके प्राण लेने चाहे परन्तु कुन्त और त्रिपुर की सहायता से वह बच गया। अन्त मे बड़ा होकर सगर अयोध्या का राजा बनता है। रानी बर्हि आत्महत्या कर लेती

---

१. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ १५५।
२. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १२२।

है। इसी दुःख से व्यथित होकर विशालाक्षी भी काल का ग्रास बन गई। राजा दुर्दम का अन्त भी बन्दीगृह मे होता है। राजा सगर विश्व पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती राजा बने।

'सगर-विजय' मे देश-प्रेम की चेतना का प्राधान्य है। नारी का भयंकर रूप वर्हि के चरित्र मे लक्षित होता है। प्रस्तुत नाटक मे नारी के दो रूप है—पहला वर्हि का जो क्रोध, प्रतिहिंसा, क्रूरता, भयानकता की प्रतीक है। नारी अपनापन खोकर कितनी भीषण और क्रूर बन सकती है यह वर्हि के चरित्र से स्पष्ट है। उसके प्रतिकूल विशालाक्षी दया की मूर्ति है परन्तु नाटककार ने अत मे दोनों के चरित्र का समन्वय सफल रूप से किया है।

ऐतिहासिक नाटक

भट्टजी ने अपनी नाटकीय प्रतिभा के बल पर ऐतिहासिक क्षेत्र को भी समुन्नत किया है। जिसकी मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है और कथावस्तु ऐतिहासिक है। भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक नाटको द्वारा राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने के लिए उत्तम आदर्श प्रस्तुत किए है। नाटककार ने उन ऐतिहासिक घटनाओं को ही आधार बनाया है जिनमे नाटकीयता, मार्मिकता और नवीनता का उचित समावेश हो सके।

विक्रमादित्य—यह ऐतिहासिक चरित्र प्रधान आदर्शवादी नाटक है जिसका मूलाधार विल्हण कृत 'विक्रमाकवदेवचरित्र' है।

कथासार—कल्याण राज्य के स्वामी आहवमल्लदेव के सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह नामके तीन पुत्र थे। विक्रमादित्य सोमेश्वर की अपेक्षा अधिक योग्य था। पिता ने विक्रमादित्य को राज्यभार सौपने की अपनी इच्छा प्रकट की परन्तु विक्रमादित्य ने अपनी प्रशंसा और राज्यभार संभालने के प्रति उदासीनता प्रकट करते हुए अपने बड़े भाई सोमेश्वर का स्पष्ट शब्दो में समर्थन किया और स्वय पिता की आज्ञा से दिग्विजय के लिए चला गया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सोमेश्वर मन मे षड्यन्त्र द्वारा विक्रम के नाश का उपाय ढूढ़ने लगा। इधर गृह-कलह का समाचार सुनकर चोल देश के पराजित

राजा के पुत्र ने विक्रमादित्य को अपने यहाँ बुलाकर अपनी बहन चन्द्रलेखा का विवाह उसके साथ कर दिया। विक्रम के विवाह का समाचार सुनकर सोमेश्वर ने विक्रमादित्य का नाम लेना भी दण्डनीय घोषित कर दिया। विक्रमादित्य भी कल्याण न जाकर तुगभद्रा के किनारे ही बस गया। अब उसका मन भी युद्ध आदि से विमुख हो गया, उसके विचारो मे दार्शनिकता झलकने लगी। इसी समय विक्रमादित्य को एक ज्योतिषी द्वारा कल्याण राज्य के समाचार मिले, साथ ही अपने साले की पराजय और मृत्यु का दु:खद समाचार मिला। विक्रमादित्य ने चोल राज्य की रक्षा के लिए प्रस्थान किया। तभी सोमेश्वर ने यह समाचार पाकर अपने विश्वस्त कर्मचारी चण्डाशुक को यह आज्ञा दी कि वह विक्रमादित्य का शरीर-रक्षक बनकर उसकी मृत्यु का उपाय सोचे। चण्डाशुक आज्ञानुसार चन्द्रकेतु का सहायक बनकर विक्रमादित्य का शरीर-रक्षक बन गया। विक्रमादित्य के चले जाने पर चन्द्रलेखा और अनंग मुद्रा ने परस्पर परामर्श करके सिंहल के दो राजकुमारो का वेश धारण किया और चेगी के गुप्त रहस्यो का पता लगाने मे समर्थ हुई। किन्तु दुर्भाग्यवश पथ-भ्रष्ट हो जाने के कारण चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा विक्रमादित्य को शत्रु की ओर से सावधान न कर सकी। युद्धक्षेत्र मे विक्रमादित्य को चण्डाशुक ने छल से बीहड़ जंगल मे ले जाकर घायल कर दिया, तब तक सोमेश्वर को चन्द्रलेखा ने तीर मारकर मूर्छित कर दिया। अन्त मे विक्रमादित्य ने भाई की घातक चन्द्रलेखा को मौत के घाट उतार दिया। इसी प्रकार चेंगी ने अनगमुद्रा और अनंगमुद्रा ने चेगी को मार दिया। इस युद्ध मे विक्रमादित्य ही जीवित रहे जिन्होने चोल-राज्य मन्त्री साम्ब को दिया और स्वय कल्याण आकर राज्य करने लगे।

'विक्रमादित्य' नाटक में नाटककार ने गृहकलह और वैमनस्य के कारण देश की पतनावस्था का चित्र-चित्रित किया है। सामन्ती जीवन की अस्पष्टताओं के फलस्वरूप राजाओ के व्यक्तिगत स्वार्थ, लोलुपता, कुचक्रो आदि का अंकन है।

दाहरा अथवा सिन्ध पतन—इसमें विदेशियों के भारत पर आक्रमण करने की ऐतिहासिक कथा को अंकित किया गया है। भारत मे प्राचीन काल

से लेकर आज तक किस प्रकार धार्मिक, सामाजिक एवं वर्गवाद आदि के वैमनस्य, धार्मिक असहिष्णुता, धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त मतमतान्तर पतन की ओर उन्मुख करते रहे है। यही कथा भट्टजी के प्रस्तुत नाटक का प्रतिपाद्य है। भट्टजी ने नाटक की विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे लिखा है।

"हमारी जातीयता मे धर्मवाद की निकम्मी, थोथी रूढ़ियों ने हमें विवेक से गिरा दिया, मनुष्यत्व से खीचकर दासता, भातृ-विद्रोह, विवेक-शून्यता के गढे मे ले जाकर पीस दिया, मार डाला!"[1] अत भट्टजी ने उपर्युक्त पंक्तियों मे न केवल प्रतिपाद्य का ही उल्लेख किया है अपितु सिन्ध-पतन के विभिन्न कारणों का भी उल्लेख किया है।

कथासार—सिन्ध के महाराजा दाहर राजनीति के कुचक्रो पर विचार करते है और अपने राज्य मे शान्ति के हेतु पितरों द्वारा पददलित किये हुए लुहान, जाट और गूजरो को पुन अधिकार देने के लिए चिन्तन करते है। दूसरी ओर बगदाद का खलीफा राजा दाहर को अरबी व्यापार को स्वतन्त्र करने का सन्देश देता है। जिसे सुनकर महाराज दाहर की वीरता उत्तेजित होती है। वह प्रत्युत्तर मे "हम लोग आर्य है, हममे क्षत्रियत्व है, एक बगदादी राजा की तो बात ही क्या, यदि समस्त ससार भी दाहर पर अनुचित दबाव डालकर उसके देश को छीनने की चेष्टा करेगा तो दाहर उसके दात खट्टे कर देगा…"[2] कहकर भेज देता है। इसी समय दाहर कन्याएँ एक अरबी को षड्यन्त्र मे विफल कर देती है। परन्तु दाहर शरणागत की रक्षा कर उसे अभयदान देता है।

दूत द्वारा प्राप्त प्रत्युत्तर से हैजाज द्वेष से भर जाता है। सिन्ध को पीस डालने के लिए अपने सेनापति अब्दुल्ला को ससैन्य चढाई करने की आज्ञा देता है परन्तु पराजित होता है। इसी बीच ज्ञानबुद्ध देशद्रोही बनकर बौद्ध धर्म का आश्रय ले अब्दुल्ला की मृत्यु पर शोक प्रकट कर हैजाज को अपनी सहायता

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन,' भूमिका, पृष्ठ २।
२. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृष्ठ २५।

का वचन देता है। देश की आपसी फूट से लाभ उठाने के लिए वह मुहम्मद बिन कासिम की अध्यक्षता मे एक बड़ी सेना लेकर पुनः आक्रमण के लिए उद्धत हो जाता है। ज्ञानबुद्ध लालचवश समस्त बौद्धों एवं ब्राह्मणों को गूजरों के सम्वाद से भड़काकर दाहर के विरुद्ध कर देता है। इस प्रकार दो जातियो में भयंकर युद्ध होता है और ज्ञानबुद्ध के षड्यन्त्र के कारण राजा दाहर मृत्यु को प्राप्त करते है। दाहर की मृत्यु के पश्चात् सिन्ध का प्रत्येक व्यक्ति अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध करता है। दाहर की दोनो पुत्रियाँ उन्हे उत्साहित करती है फिर भी सिन्ध पराजित होता है। अन्त मे वीर बालाएँ सूर्य और परमाल शत्रुओ के विलास-साधन बनने से पूर्व ही वीरतापूर्वक मृत्यु का वरण करती है। खलीफा को सम्बोधित करती हुई कहती है कि—"तू क्या मारेगा ? ले ! मृत्यु हमारे लिए खेल है। प्रतिहिंसा पूर्ण हुई। इस वीभत्स काण्ड मे, स्वर्णाक्षरो मे सिन्ध का बदला लिखा रहेगा। खलीफा······देख, वह उड रहा है।"[१]

मुक्तिदूत—भट्टजी का तीसरा ऐतिहासिक नाटक है 'मुक्तिदूत' जिसमे गौतम का ऐतिहासिक विकास है। प्रस्तुत नाटक मे तीन अंक है जो क्रमशः विस्तृत होते जाते है। नाटक की भूमिका मे कथा की मूल प्रेरणा को सूचित करते हुए लेखक ने यह सन्देश दिया कि—

"अन्धानुकरण मत करो। सोचो और प्रयोग करो, इसी मे जीवन की सार्थकता है।"[२]

बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया का फल था और उसका जन्म दो समान्तर धर्मों के पारस्परिक संघर्षों को लेकर हुआ। यही संघर्ष मुक्तिपथ सिद्धार्थ और देवदत्त के नेतृत्व में ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष के रूप मे अंकित किया गया है।

नाटक का कथानक राजकुमार सिद्धार्थ के जीवन से सम्बन्ध रखता है

---

१ 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृष्ठ १०७।

२. 'मुक्तिदूत' (भूमिका), पृष्ठ १।

जिसमे उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति, उनकी वैमनस्य भावना, उनके गृहत्याग, ज्ञान-प्राप्ति तथा मोक्ष के आदेश आदि घटनाओ का वर्णन है। प्रथम अंक मे ही सिद्धार्थ विचारप्रवण और गम्भीर है आखेट के आनन्द मे भी उन्हें दु:ख मिलता है, उनकी यह गम्भीरता प्रतिक्षण बढती ही जाती है। शुद्धोदन के समस्त उद्योग व्यर्थ सिद्ध होते है। गोपा का आकर्षण उसे और भी उत्तेजित करता है, अन्त में सिद्धार्थ कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाते है। उनकी असमर्थता छायाचित्र के रूप में उपस्थित हो उन्हे डिगाना चाहती है। पर वे सबको सोता हुआ छोड़कर वन में प्रस्थान कर जाते है—दु:ख के निवारण के हेतु। पुत्र के जन्मोत्सव का सारा उछाह समाप्त हो जाता है। तीसरे अक के दृश्यों मे सिद्धार्थ ज्ञान की खोज मे भटकते हैं और शनै:-शनै बुद्धत्व को प्राप्त करते है। एक दिन अन्त मे अपनी नगरी मे आकर पत्नी को 'वत्से और माँ' से सम्बोधित करते है—उन्हे आशीर्वाद देते है। इस प्रकार नाटक समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक मे अनेक भावो को व्यक्त किया गया है। नाटक मे विविध भावो, सकुचित स्वार्थ के स्थान पर त्याग, मानव कल्याण, दया, क्षमा, प्रेम, अहिसा आदि भावो की प्रधानता है। इस नाटक मे अन्य नाटको की भाँति सास्कृतिक चेतना विद्यमान है, तत्कालीन वातावरण का यथार्थ चित्र है। 'मुक्तिदूत' का कथानक अधिकाशत: जटिल होते हुए भी उलझा हुआ नही। बुद्धजीवन को कथा का मूलाधार बनाकर सिद्धार्थ के चरित्र मे विचार-प्रवणता और गम्भीरता का समावेश किया है।

शक-विजय—इसका कथानक जैन साधु कालकाचार्य की विद्रोह-भावना से है। अवन्ती के महाराज गन्धर्वसेन ने किसी कारणवश कालकाचार्य की भगिनि एव सती-साध्वी का अपहरण कर उसे अपने महल में वन्दी बना लिया। यद्यपि उन्होने नैतिक कारणवश (कि सरस्वती के सौन्दर्य से आकर्षित होकर नगर के युवक जैन धर्म मे दीक्षित होते जा रहे थे) ही यह कठोर कार्य, योगीराज मखलिपुत्र की अनुमति से, किया किन्तु कालकाचार्य एव जनता के लोग इस उद्देश्य से अनवगत थे अतः उन्होने राजा को दोषी ठहराया। इसके साथ ही कालकाचार्य ने विदेशी आक्रान्ता जाति शकों को आमन्त्रित ही नही किया,

प्रत्युत साधन जुटाकर उन्हे अपने आक्रमण में सफल भी बनाया। शकराज भी सरस्वती को जिसके उद्धार के लिए वह लाया गया था अपने अधीन करना चाहता था। अधिकारलोलुप गणराज्यो की अवस्था ऊँची न उठ सकी। आचार्य कालक शको के अत्याचार से दुखी होकर हिमालय की कन्दरा मे तप करने चले जाते है। सरस्वती भी नरसहार को बचाने और अपने सतीत्व की रक्षा के हेतु आत्महत्या कर लेती है। अन्त मे आचार्य कालक अपनी भूल स्वीकार कर लेते है। गन्धर्वसेन के सहायक शकराज को परास्त करके बीडा उठाते है। इधर जैन, बौद्ध भी शको के अत्याचार के कारण उनके विरुद्ध हो जाते हे। अन्त मे वरद नामक व्यक्ति की अवतारणा करके नाटककार ने राष्ट्र को शको से मुक्त किया।

यद्यपि नाटक का आरम्भ जैन और शको के सघर्ष से होता है परन्तु नाटक का अन्त सुखद हे। कालकाचार्य अपनी भूल स्वीकार करते हुए, धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश देते हुए प्राण त्याग देते है। प्रस्तुत नाटक मे जातीयता की समस्या का पूर्णत समाधान किया गया है। अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला गया है कि विदेशी न्याय-प्रिय राज्य से स्वदेश का अन्याय-प्रिय राज्य भी श्रेष्ठ है।

इस प्रकार भट्टजी ने इन पौराणिक और ऐतिहासिक नाटको मे तत्कालीन वातावरण और पृष्ठभूमि की इतिहास-सम्मत सत्यता और गम्भीरता का यथावत् चित्राकन किया है। 'दाहर' और 'विक्रमादित्य' वियोगान्त शैली पर आधारित सफल नाटक हैं। 'दाहर' 'शक-विजय' मे विदेशियो के आक्रमण की ऐतिहासिक कथा का सजीव चित्रण है। 'विक्रमादित्य' मे भारतीय साहित्य और कला के स्वर्णयुग के नायक महाराजा विक्रमादित्य की महानता का चित्र है। 'मुक्तिदूत' मे महाराजा सिद्धार्थ के ज्ञान और बौद्ध धर्म का प्रतिपादन है। ऐतिहासिक नाटको मे प्राचीन को नवीन विचारो से सजीव बनाया है। 'शक-विजय' मे राजा को प्रजा की इच्छा और राष्ट्र की थाती कहा है। यही कारण है कि ये नाटक बीसवी शताब्दी के प्रतीत होते है।

कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक नाटको

के कथानक वे ही चुने है जिनमे आधुनिकता है, नवीनता है, मार्मिकता है जिनमे नाटकीय तत्वो का उचित समावेश हो जाता है, जिनमें राष्ट्रीयता का महत्व है। इस प्रकार भट्टजी के ऐतिहासिक नाटक उनकी नाटकीय प्रतिभा के द्योतक है। श्री रामगोपालसिंह के शब्दो मे—"लेखक ने इतिहास की महानताओं और दुर्बलताओ दोनों को तटस्थ रूप में दिखाकर प्राचीन सास्कृतिक गौरव की झाँकी प्रस्तुत की है। उनके ऐतिहासिक नाटको मे जहाँ उन प्राचीन महानताओ का दिग्दर्शन हुआ है, जिनके कारण भारत ससार मे अपना मस्तक ऊँचा कर सका तो साथ ही उन दुर्बलताओं और कमजोरियो का भी लेखा-जोखा लेखक ने प्रस्तुत किया है जिनके कारण समय-समय पर देश को सकट का सामना करना पडा और उसका विकास अवरुद्ध होकर पतनोन्मुखी हो उठा। उनके नाटक हमे अपनी प्राचीन परम्परा की शक्ति और कमजोरी दोनो का अनुभव प्रदान कर वर्तमान जीवन मे अपने राष्ट्र के निर्माण में उनसे सजग रहने की प्रेरणा देते है।"[1]

राजनीतिक नाटक

प्रो० रामचरण महेन्द्र द्वारा पूछे जाने पर कि "इस राजनीति के युग मे रहकर क्या आप राजनीतिक समस्याओं से प्रभावित नही हुए हैं?" भट्टजी ने स्वीकार करते हुए कहा, "राजनीति से मैं अछूता नही रहा। मेरे काव्य-ग्रन्थो के साथ-साथ 'क्रान्तिकारी' नाटक मे राजनीतिक क्रान्ति के विस्फोट का चित्रण है।"[2] अतः 'क्रान्तिकारी' नाटक मे राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सहानुभूति और असहयोग आन्दोलन के प्रति तीव्र लालसा प्रतीत होती है। राजनीतिक नाटक 'क्रान्तिकारी' मे आतुरता और विचारो में क्रान्ति विद्यमान थी। यह नाटक वस्तुतः हमारे पिछले जागरण की एक झाँकी है। विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का इसमे दिग्दर्शन है। यद्यपि इसमे एक

---

१. 'हिन्दी नाटक—सिद्धान्त और समीक्षा', पृष्ठ १४८।

२. 'श्री उदयशकर भट्ट से एक भेंट' नामक लेख, पृष्ठ ४।

ही अक है, फिर भी बडे नाटक की पूर्णता विद्यमान है। कथा का मूल सकेत तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो की ओर है। प्रमुख पात्रो और घटनाओ को सकलित करके कथासार का सक्षेप इस प्रकार है—

नाटक का आरम्भ प्रमुख पात्र और प्रतिनायक दोनो के साक्षात्कार से होता है। मनोहर और दिवाकर एक साथ पढते थे, और उस समय अभिन्न मित्र थे। किन्तु मनोहर अब पुलिस अफसर है और दिवाकर देश की स्वतन्त्रता के लिए लडने वाला क्रान्तिकारी। सयोगवश दिवाकर को अपने विरोधी विचार धारा वाले मित्र के घर शरण लेनी पडती है जबकि उसके पकडने के लिए पुरस्कार की घोषणा हो जाती है। पहले तो मनोहर पुरानी मित्रता को निभाने के हेतु उसकी रक्षा का प्रयत्न करता है किन्तु बाद मे धन के लोभवश, अपने स्वार्थ के लिए, यश के लिए वह अपने अभिन्न मित्र को—जो देश के लिए अपने जीवन की बाजी भी लगा देने के लिए तत्पर है, मौत के घाट उतारने मे तनिक भी सकोच नही करता। भावावेश मे आकर दिवाकर के विषय मे सभी कुछ अपनी पत्नी को बता देता है।

दूसरी ओर पुलिस अफसर की पत्नी वीणा दिवाकर से प्रभावित होकर उसके गुट मे शामिल होने का विचार करती है। इसके लिए सफल प्रयत्न भी करती है। मनोहर अपने मित्र का अहित करे, इससे पूर्व ही वीणा उसे (दिवाकर को) लेकर अपने घर से भाग जाती है। दिवाकर के गुट वाले मनोहर के यहाँ शरण लेने के कारण उससे क्रोधित हैं। दिवाकर के विश्वास दिलाए जाने पर भी कि वीणा अब मनोहर की पत्नी नही है, अपितु वह भी देश के लिए मर-मिटने के लिए तैयार है और हमारे दल मे सम्मिलित होने के लिए तयार है, वे लोग वीणा पर विश्वास नहीं करते। दल के अनुसार दिवाकर को उसकी त्रुटियो के लिए प्राणदण्ड की सजा दी जाती है। दिवाकर अपनें दल द्वारा निर्धारित आज्ञा का पालन करता है। पुलिस अफसर की भी हत्या कर दी जाती है। वीणा की परीक्षा इस प्रकार होती है कि दल मे प्रविष्ट होने से पूर्व वह अपने पति को मारे। वीणा भी अपने कार्य मे सफल

होती है। अन्त मे दिवाकर के दल वाले दिवाकर को इस प्रकार का दण्ड देने के लिए अपनी त्रुटि स्वीकार करते हुए पश्चात्ताप करते है।

नाटककार ने यह स्पष्ट नही किया है कि क्रान्तिकारी वह होता है जो जनता को सगठित करता है और उसे अपने भाग्य-निर्माण का मार्ग प्रदर्शित कराता है, न कि वह व्यक्ति जो जनता का भरोसा न कर एक-दो वीर व्यक्तियो पर विश्वास करता है। फिर भी यह नाटक पाश्चात्य राज्य की अंग्रेजी सत्ता के अत्याचारो का, दमन नीति का यथार्थ चित्र अंकित करता है। इसमे सबसे प्रभावशाली दृश्य वे है जहाँ लेखक ने दिवाकर की पत्नी और माँ की गरीबी, लाचारी, उन पर किये गए अत्याचार का मार्मिक चित्र अंकित किया है। देश-सेवा, आत्म-त्याग और बलिदान की भावना का भी इसमे उत्कृष्ट रूप विद्यमान है। नाटक के सम्बन्ध में कविवर पन्त की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—"क्रान्तिकारी मे भट्टजी की प्रतिभा नवीन वस्तुक्षेत्र मे प्रवेशकर उसे प्रभावोत्पादक रंगमंच पर प्रतिष्ठित कर सकी है। समस्त नाटक जैसे दिवाकर के बलिदान के लिए उत्तप्त यज्ञकुण्ड है, जिसकी आत्माहुति उसकी अप्रतिहत चारित्रिक दृढता को निखारती है। द्वितीत दृश्य जितना करुण तथा हृदयद्रावक है, अन्तिम दृश्य उतना ही कठोर और रोमांटिक······, नाटक मे अनेक प्रकार के इंगित निहित हैं······नाटक की सर्वांगीण सफलता के लिए भट्टजी को बहुत बधाई है।"[1]

सामाजिक नाटक

भट्टजी मूलत. पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक विषयो से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। सन् १९४२ से १९४६ तक आते-आते भट्टजी सामाजिक कुरीतियो, विषमताओं, अत्याचार, समाज की हृदय-हीनता आदि से पूर्णतः अभिगत हो चुके थे। अतः सामाजिक क्षेत्र मे वे बौद्धिक पक्ष की ओर अधिक झुकते हुए प्रतीत होते है। इन सामाजिक नाटको मे विकृत

१. 'क्रान्तिकारी नाटक' की भूमिका, पृष्ठ १।

अहं की उत्पत्ति तथा उसके द्वारा समाज मे फैलाये हुए सघर्ष का यथार्थ चित्रण है। प्रो० रामचरण महेन्द्र के शब्दो मे—

"एक व्यापक दृष्टिकोण से भट्टजी समाज, व्यक्ति और साहित्य को विनाशकारी कीटाणुओ से मुक्त कराना चाहते है······उन्होने समाज की प्रवृत्तियो को सूक्ष्मता से देखा है। आपका नाटक-साहित्य मूलत समाज की आलोचना तथा सास्कृतिक पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। यद्यपि आपके प्रारम्भिक नाटक राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित थे, तथापि आगे के नाटको मे आपने सामाजिक आचार-विचार, रूढिवादी रीति-रिवाजो का खण्डन, समाज के कृत्रिम रहन-सहन का उथलापन, जीर्ण-शीर्ण सामाजिक नियम, दकियानूसी बन्धन, समाज के दुराग्रह, मूढताएँ तथा रूढियो को चित्रित किया है।"[1]

कमला—भट्टजी के सामाजिक नाटको मे कमला का स्थान श्रेष्ठ है जिसमे लेखक ने अनमेल विवाह की प्रमुख समस्या के साथ-साथ नैतिक-अनैतिक के मापदण्ड का चित्रण, अग्रेजी शासन मे जमीदारो का अह, प्रजा पर किये गए अत्याचार, सरकारी चापलूसी, वश का अभिमान, व्यक्तित्व की महत्ता, पुरुष द्वारा नारी पर भयंकर अत्याचार, ग्राम-सुधार, शिक्षा आन्दोलन, गाधीवाद का प्रभाव आदि समस्याओ का कलात्मक और यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

कथासार—देवनारायण गाँव का जमीदार है। यद्यपि आयु की दृष्टि से वह वृद्ध है किन्तु उसके हृदय में अब भी कामवासना की तरगे उठती है। स्त्री उसक उपभोग की वस्तु है। अतः वृद्ध होने पर भी वह कमला नामक युवती से विवाह करता है। कमला आधुनिक युग की नारी है जो सुशिक्षित, सहृदय और सरल हृदया है। वह समाज-सेवा करती है। कमला का वृद्ध पति अपनी हीन-भावना से प्रेरित होकर कमला के चरित्र पर शका करता है। कमला अनाथालय के एक अनाथ बालक शशिकुमार को अपने पास रख लेती है, उसे पुत्रवत् प्यार करती है। अनाथालय का स्वामी शशिकुमार को लेने आता है किन्तु कमला उसे जाने नही देती। इस पर देवनारायण का सन्देह

१. 'एकांकीकार भट्ट' लेख, पृष्ठ ५।

विश्वास मे परिवर्तित हो जाता है कि शशिकुमार कमला का अवैध पुत्र है। वास्तव मे शशिकुमार उमा से उत्पन्न देवनारायण के बड़े पुत्र यज्ञनारायण की अवैध सन्तान है। परन्तु नारी समाज मे सर्वत्र से ही अपमानित होती रही है इसीलिए देवनारायण का विश्वास और भी दृढ हो जाता है और वह चरित्र-हीन, राक्षसी आदि अपशब्दो से कमला को अपमानित कर उसे घर से निकाल देता है। चारो ओर से तिरस्कृत होकर कमला आत्मवेदना से विह्वल हो नदी मे डूबकर आत्महत्या कर लेती है। शशिकुमार की भी मृत्यु हो जाती है। वास्तविकता का पता चलने पर देवनारायण पश्चात्ताप करता है। उसका वचन अत्यन्त मार्मिक हो जाता है—

"आग, चारो तरफ आग। पाप जीवन की साँसो मे इतना गहरा छिपा है, जाना न था। हाय'' '''जमीदार''''''(मर जाता है)।" 'कमला' नाटक में कौमार्य जीवन की भूलो के परिणाम के साथ-साथ वर्तमान जीवन की बडी-से-बडी समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

पार्वती—आधुनिक युग मे बडप्पन का मिथ्या अभिमान करने वाली नारी की अवस्था को भट्टजी ने दो अक के इस नाटक मे अभिव्यक्त किया है। आज की नारी अपनी कमजोरियों को छिपाते हुए व्यर्थ ही अपनी महानता का गर्व करती हुई किस प्रकार अपने जीवन को कटकमय बना देती है और दूसरी ओर ममता की मूर्ति माँ दरिद्रता की चक्की मे पिसकर, कठोर परिश्रम से समाज की अनेक यातनाएँ सहन करती हुई अपने एकमात्र आधार (पुत्र) का जीवन निर्मित करती है। गुलाब का पति परमानन्द निर्धन परिवार मे उत्पन्न होने वाला अपनी विधवा माँ का एकमात्र सहारा है। मातृभक्ति के सुदृढ़ सस्कारों के अतिरिक्त सत्य-निष्ठा, सरलता आदि उसके पाथेय है। आधुनिक खोखली टीपटाप से अनभिज्ञ होने पर भी वह आत्म-सस्कार से शून्य नही किन्तु उसकी पत्नी गुलाब एक सम्पन्न परिवार की कन्या है जिसके माता-पिता निःसकोच होकर रिश्वत लेना अपना परम धर्म स्वीकार करते है। गुलाब को अपने पूंजीपति पिता का मिथ्या दर्प सदैव असभ्य एवं असंस्कृत बनाए रहता है। वह अपनी वृद्धा असहाय सास को अपमानित करके घर से निकाल देती है।

आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए वह रिश्वत लेना पुण्य कर्म समझती है। तहसील के चपरासी द्वारा वंशी से पाँच सौ रुपए पति को सूचित किए बिना ले लेती है जिसके फलस्वरूप परमानन्द को न केवल नौकरी से ही हाथ धोना पडा, प्रत्युत दण्ड भी भुगतना पडा। पति के पदच्युत होने के उपरान्त गुलाब का सारा दर्प, अभिमान और बडप्पन प्रायः समाप्त हो जाता है। पार्वती का अपमान करके उसने जो भूल की थी उसके लिए भी अन्त मे पश्चाताप करती है। नाटक के अन्तिम दृश्य मे गुलाब सीधे मार्ग पर आकर सती साध्वी नारी के रूप मे आती है और उसी सास की सेवा करती है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु की अपेक्षा सम्वादों मे अधिक रोचकता और सजीवता है। नाटककार ने अर्द्धशिक्षित नारी के अन्तर्तम मे भा : उस मिथ्या सम्वाद, बाह्याडम्बर को व्यक्त किया है जो वर्तमान युग मे अनेक परिवारो को नष्टप्राय कर देता है।

अन्तहीन अन्त—सामाजिक नाटको मे 'अन्तहीन अन्त' उल्लेखनीय है। यद्यपि यह नाटक विचार-प्रधान है, चरित्र-प्रधान नही, फिर भी नाटक की यह विशेषता है कि चरित्र के स्तर पर स्तर खुलते जाते है। इस नाटक मे जीवन की शुद्ध अनुभूति है, लम्बी-चौडी घटना नही। कथानक सीधा व सरल है। प्रस्तुत नाटक के माध्यम से नाटककार ने आधुनिक समाज के अनेक चित्र प्रस्तुत किए है। वर्तमान समय में अनाथालयो मे बच्चो को रखकर लोग कितना स्वार्थ-सिद्ध करते है, किस प्रकार भ्रान्ति में पडकर स्वार्थी सेठ-साहूकार वास्तविकता की हत्या कर देते है। दूसरी ओर छोटे मनुष्यो मे ऊपर उठने के अनेक बीज सन्निहित रहते है, अवकाश पाकर दरिद्र व्यक्ति कितना उदार और कितना महान् बन जाता है। यही इस नाटक मे चित्रित किया गया है।

इस प्रकार भट्टजी के सामाजिक नाटकों की विशेषताएँ हैं—व्यग्यात्मकता, जन-जीवन का यथार्थ चित्रण, विधवाओं की दारुण-दशा आदि का मनोवैज्ञानिक चित्र अकित किया है। इसके साथ-साथ उन्होने समाज की ऐसी समस्याओ को लिया है जो मानव-जीवन और उसके परिवार की सुख-शान्ति को भग करने वाली होती है अत वर्तमान जीवन से सम्बन्धित होने के कारण

ये हमे अधिक प्रभावित करती है।

भट्टजी के ऐतिहासिक व पौराणिक नाटकों में कल्पना तत्व

भट्टजीकी प्रतिभा ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको मे पूर्णरूपेण निखरी है। यद्यपि उनके नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक और पौराणिक है परन्तु उनकी मूलभूत प्रेरणा राष्ट्रीय नव चेतना है। भट्टजी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको की वही कथा है जिसमे नवीनता हो, नाटकीयता हो। भट्टजी को ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक अतीत के चित्रण मात्र के लिए प्रिय नही है। उन ऐतिहासिक कथाओं को भट्टजी ने नूतन भावनाओ और वाणी से मुखर बनाकर उनकी विषमताओ मे अतिशय आत्मीयता और आधुनिकता समाहित कर दी है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी ने कल्पना का सहारा तो लिया है पर उनकी कल्पना ने ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना नही की, उसे ठुकराया नही और न उसे विकृत ही बनाया है। उनकी कल्पना के सहयोग ने उसे और भी व्यापकता, गम्भीरता, मार्मिकता तथा सजीवता प्रदान कर दी है। उनके नाटको मे तत्कालीन युग की परिस्थितियो का चित्र अकित है। अस्तु।

भट्टजी के ऐतिहासिक चार नाटक—'विक्रमादित्य', 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', 'मुक्तिदूत' और 'शक-विजय' है। ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार इनको 'मुक्तिदूत', 'शक-विजय', 'विक्रमादित्य' और 'दाहर अथवा सिन्ध पतन'—इस क्रम मे रखा जा सकता है। अब एक-एक नाटक में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्व का सामजस्य देखेंगे—

मुक्तिदूत—इसकी कथा प्राय: ऐतिहासिक है जिसमे बुद्ध के जीवन की इतिहास-प्रसिद्ध कथा है। महात्मा बुद्ध की चिन्तन-प्रवृत्ति उनकी वैराग्य-भावना उनके गृह-त्याग, ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति-पथ के उपदेश आदि ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन है। बुद्ध के समय मे जो धार्मिक सघर्ष अपने विकास पर थे उनका भी नाटककार ने यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। यह संघर्ष मुक्तिपथ से आरम्भ होता है। गौतम का राज्य त्यागकर मानव-धर्म की खोज करना ही

उस युग के विचारों में संघर्ष था। बौद्ध धर्म से पूर्व भारतवर्ष में धार्मिक संघर्ष नाम की कोई वस्तु न थी। यद्यपि इससे पहले अनेक दार्शनिक विचारों का प्रचार हुआ किन्तु उनका समाज से नाम-मात्र का सम्बन्ध था। बौद्ध धर्म ने एक धार्मिक सम्प्रदाय का रूप धारण किया जिसकी स्थापना ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म का जन्म दो समानान्तर धर्मों के पारस्परिक संघर्ष को लेकर हुआ। नाटक में धार्मिक वैमनस्य का यह रूप ब्राह्मण और बौद्ध (देवदत्त और सिद्धार्थ) के माध्यम से होता है। तीसरे दृश्य में ब्राह्मण न्याय की पुकार करते है। सिद्धार्थ और देवदत्त ने उनके स्वामी को धोखे में डालकर उसे बछड़े की बलि देने से विमुख किया और जब वही व्यक्ति स्वयं सभा में उपस्थित होकर कहता है कि यज्ञ में बलि का निषेध होना चाहिए तो ब्राह्मण तुरन्त कह उठते है कि—

"नास्तिक सेठ सभा में उपस्थित है। धर्म के घातक इस सेठ को दण्ड देना चाहिए।"[1]

धार्मिक संघर्ष के साथ-साथ उस समय की सामाजिक ऊँच-नीच की भावना को भी नाटककार ने अपने नाटक का प्रतिपाद्य बनाया। यद्यपि बौद्ध धर्म की स्थापना सामाजिक समानता के लिए ही हुई परन्तु इसके द्वारा पारस्परिक वैमनस्य और भी भयंकर हो उठे। वर्ण भेद की अहमन्यता का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

"प्रार्थी—इस शूद्रक ने मेरे घर में प्रवेश करके मेरा घर अपवित्र कर डाला। मेरे निषेध करने पर भी यह दुष्ट मेरे घर में घुस आया और मेरा घर कलुषित कर दिया।"[2]

इन सभी वैमनस्यों का मुख्य कारण पतन है, मानव का अभिमान आधुनिक युग में भी विद्यमान है। भट्टजी ने प्रस्तुत नाटक लिखने के समय को, उस समय की विषम परिस्थितियों को प्राचीन आख्यान के माध्यम से हमारे

---

१. 'मुक्तिदूत', पृष्ठ २६।
२. 'मुक्तिदूत', पृष्ठ ४८।

सम्मुख रखा है। उस समय देश में वर्ण-भेद, हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक वैमनस्य अपने चरम विकास पर थे। जनता आपसी झगडो और शासको के अत्याचारो से बुरी तरह पिसी जा रही थी। तभी महात्मा गांधी आदि महान् आत्माओं द्वारा देश की जनता के उद्धार के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

'मुक्तिदूत' का कथानक जटिलता लिये हुए है, फिर भी उसकी विषय वस्तु ऐतिहासिक है। उसमे कथा सम्बन्धी कल्पना अत्यन्त कम है। सभी घटनाएँ उस समय के वातावरण एव परिस्थितियो के अनुकूल है। तो भी कथानक मे रोचकता लाने के लिए और उसके विकास के हेतु नाटककार ने एक-दो घटनाएँ कल्पित की है। उदाहरणतया—देवदत्त द्वारा यज्ञ का छाग खोल लेने की घटना, सुकेशी की अवतारणा इत्यादि। 'मुक्तिदूत' के सभी प्रमुख पात्र ऐतिहासिक है। नाटककार ने सुकेशी की अवतारणा नाटक मे विशेष उद्देश्य से की है। एक तो सुकेशी पात्र के द्वारा नाटककार को अनेक स्थान पर गीत भरने का अवसर मिल गया है दूसरे सिद्धार्थ और गोपा के चरित्रो की अन्तर्निहित प्रवृत्तियो तथा भावनाओ को स्पष्ट करने मे भी सुकेशी सहायक सिद्ध होती है। सुकेशी की अवतारणा के बिना या तो सिद्धार्थ और गोपा के चरित्र अविकसित और अस्पष्ट रह जाते अथवा उनके चरित्र को स्पष्ट करने के लिए नाटककार कितनी ही बार स्वगत की योजना करता। सुकेशी के वार्तालाप द्वारा उनके चरित्र पर यथोचित प्रकाश डाला गया है।

शक-विजय—विक्रम सम्वत् की स्थापना और भारत से विदेशी शक-हूण आदि जातियों का बहिष्कार भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। शको के आक्रमण से भारत आक्रान्त हुआ, इसकी स्वतन्त्रता नष्ट हुई और गणराज्यो की पारस्परिक विरोधी भावना ने कुछ समय के लिए देश मे विदेशी शासन की स्थापना का अवसर दिया। वास्तव मे यह युग भारत के विशृंखल, विद्वेषपूर्ण वातावरण की झाकी प्रस्तुत करता है।

'शक-विजय' मे मुख्य घटना अवन्ती के राजा गन्धर्वसेन द्वारा सरस्वती साध्वी का अपहरण और उसके भाई आचार्य कालक द्वारा शकों का भारत में लाया जाना है। यही कथा जैन ग्रन्थो, स्कन्ध और भविष्य पुराण मे विभिन्न रूपो

मे मिलती है। पहले यह कथा कपोल-कल्पित मानी जाती थी किन्तु नवीनतम खोजो के आधार पर यह ऐतिहासिक घटना सिद्ध होती है। कालकाचार्य द्वारा प्रेरित उनके भानजो बलमित्र और भानुमित्र की सेना और शक-वाहिनी ने अवन्ती को घेर लिया और गन्धर्वसेन को मार डाला। शक शासन का यह युग १०० ई० पूर्व से ५८ ई० पूर्व तक रहा। इस समय मत पन्थो का बोलबाला था। भारत के निवासी अपमान, अपयश, पराजय और पराधीनता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। देश आक्रान्ता विदेशी जातियो के द्वारा पद-दलित था। 'शक विजय' मे धर्म का यही विनाशक रूप भट्टजी ने चित्रित किया है। मखलिपुत्र ब्राह्मण धर्म के प्रतीक है और कालकाचार्य जैन धर्म के। दोनो का सघर्ष ही उस युग के साथ-साथ आधुनिक युग की कहानी है। आचार्य कालक अवन्ती मे जैन धर्म का प्रचार करने के हेतु आए किन्तु उनकी बहन सरस्वती के सौन्दर्य से आकर्षित होकर आश्रम मे अवन्ती निवासियो का जमघट लगा रहता था जिससे राष्ट्र धर्म के विनाश का अवसर मिलने का सन्देह था। देशद्रोह, विश्वासघात, बन्धुसहार और बलात्कार सभी को विकसित होने का अवसर मिला। स्वय भट्टजी के शब्दो मे उस युग की अवस्था देखिए—

'हमारी जातीयता मे धर्मवाद की निकम्मी, थोथी रूढियो ने हमे विवेक से गिरा दिया, मनुष्यत्व से खीचकर दासता, भातृद्रोह, विवेकशून्यता के गढे मे ले जाकर पीस दिया, मार डाला।''[1]

भट्टजी ने अतीत के आख्यान द्वारा आधुनिक समस्या के सघर्ष की घटनाओं, परिस्थितियो को व्यक्त किया है। आज भी हमारे देश मे जाति भेदभाव, धार्मिक आन्दोलन और विभिन्न धर्मो के आपसी झगड़े भारत की स्वतन्त्रता में बाधकसिद्ध हुए। हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक वैर सदैव अंग्रेजों को प्रोत्साहन देता रहा। आपसी फूट के परिणामस्वरूप भारत को कितनी आपदाओ का सामना करना पडा, जो प्राचीन काल से चली आ रही विभिन्न वैमनस्य का परिणाम था।

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन' भूमिका, पृष्ठ २।

'शक-विजय' का रचनाकाल सन् १९४९ था जबकि देश स्वतन्त्र ही हुआ। यद्यपि विदेशी दासता से तो छुटकारा मिल गया किन्तु आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे विदेशी कुप्रभाव अब भी अपना अधिकार जमाये हुए थे। 'शक-विजय' मे देश की रक्षा का प्रश्न ही सर्वत्र गूंजता है। आज पुनः धार्मिक झगडों मे फँसकर हम अपनी स्वतन्त्रता से भी हाथ न धो बैठे, यही चेतना हमे उसमे चित्रित ब्राह्मण-जैन संघर्ष से और उसके परिणामों से मिलती है। लेखक ने उसी चेतना को एव उससे देश की जनता को सावधान करने के प्रयास को नाटक की भूमिका मे स्पष्ट किया है—"आज देश धर्म से भी महान् है, व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर है। इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है। देश की स्वतन्त्रता, उसका सुख सर्वोपरि है। इस प्रकार के विचारो के प्रकाश मे जो मानसिक असन्तुलन उत्पन्न होते है उनमे हमे किसको स्वीकार करना चाहिए और किसको अस्वीकार इत्यादि बातो का पाठको तथा सर्वसाधारण के सामने रखने के हेतु मेरा यह क्षुद्र प्रयास है।"[1] अतः सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी ने ऐतिहासिक कथा को ही अपनाया है फिर भी शको के आक्रमण और विजय के उपरान्त देश में नैराश्य और कुण्ठा की जो धारा प्रवाहित हो रही थी उससे छुटकारा दिलाने के लिए नाटककार ने एक-दो घटनाओ की कल्पना की है जो वातावरण और परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। यथा—सरस्वती और कालकाचार्य की आत्महत्या चाहे इतिहास की जानकारी में न हो तो भी यह सरस्वती और कालकाचार्य के चरित्र को उज्ज्वल बना देती है, महान् कर देती है। इस प्रकार की कल्पना हानिकर नही।

पात्रों की दृष्टि से भी इस नाटक के प्रमुख पात्र गन्धर्वसेन, कालकाचार्य, मक्खलिपुत्र, सरस्वती, शकराज नहपान आदि ऐतिहासिक पात्र है। वरद और सौम्या काल्पनिक। इन दोनो पात्रो की कल्पना करके नाटककार अन्य पात्रों के चरित्र का विकास दिखाया है। इसके साथ साथ वरद नामक व्यक्ति से ही शकों

---

१ शक-विजय की भूमिका, पृष्ठ १२-१३

द्वारा पीडित अवन्ती का उद्धार कराया गया है। भट्टजी की सम्मति मे यहां विक्रमादित्य है किन्तु वास्तव मे स्वय वरद एक काल्पनिक पात्र है। इसीलिए इसका विक्रमादित्य होना विवादास्पद है। यद्यपि विक्रमादित्य के विषय मे अभी निश्चित रूप से निर्णय नही हो पाया है फिर भी वरद को विक्रमादित्य मानना इतिहास की भारी उपेक्षा है। भारत को विदेशी दासता से छुटकारा दिलाना एक महान् कार्य था। इतिहासकारों ने यह महान् कार्य विक्रमादित्य, राजा इन्द्रसेन या राजा कृतसेन द्वारा वर्णित किया है। शक-विजय मे लेखक ने इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए वरद नामक व्यक्ति की अवतारणा की है। यद्यपि वरद का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वय नाटककार भी प्रमाणित नही कर पाया है परन्तु नाटक के फलागम मे वरद का जो हाथ है वह अन्य सभी चरित्र को निष्प्रभ करके अपने तपोदीप्त रूप में सबके ऊपर छा जाता है। अतः भट्टजी ने कदाचित् ऐतिहासिक नाटककार की मर्यादाओं का उल्लघन किया है किन्तु भारत से शको के निष्कासन में वरद का कार्य अपूर्व और महान् है। अन्त मे कह सकते है कि ऐतिहासिक घटना को और अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए नाटककार ने कल्पना का भी सहारा लिया है।

विक्रमादित्य—नाटक की मूल कथा ऐतिहासिक है जिसका आधार बिल्हण कृत 'विक्रमाकवदेचरित्र' है। ईसा की ग्यारहवी शताब्दी में रामेश्वर के उत्तर मे कल्याण नाम का राज्य था। वहाँ चालुक्य वश के आहवमल्लदेव नाम के राजा थे जिसके तीन पुत्र—सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह थे। इसी (विक्रमादित्य) ऐतिहासिक पात्र की राजनीति, देशभक्ति, स्वार्थहीनता आदि को भट्टजी ने ऐतिहासिक नाटक का प्रतिपाद्य बनाया। लेखक ने ऐतिहासिक सामग्री को उस समय के मानव-जीवन, परिस्थितियो, समस्याओं और उनसे मानव के विभिन्न सघर्षों आदि की कल्पना कर अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम द्वारा प्राचीन गौरव के साथ-साथ नवीन युग की समस्याओं की झांकी प्रस्तुत की है।

राजाओं के आपसी सद्-व्यवहार के कारण देश उन्नत अवस्था को भी प्राप्त कर सकता और उनके आपसी झगड़ों के कारण पतन के गढ़े में भी गिर

सकता है। प्रस्तुत नाटक विक्रमादित्य मे लेखक ने राजाओ की अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-लोलुपता, उनके कुचक्रो आदि का चित्रण कर सामाजिक जीवन की विषमताओ को स्पष्ट रूप मे व्यक्त किया है। आज भी भारत मे स्वार्थ भावना अत्यन्त तीव्र गति से विचरण कर रही है। अपना-अपना आधिपत्य जमाने के हेतु देश के विभिन्न जाति के व्यक्ति अपने-अपने प्रान्त के लिए आपस मे झगडते है। गृह-कलह के अन्त का रूप भी नाटककार ने प्रस्तुत किया है। साथ ही अन्त मे विजय सत्य की ही होती है। इस प्रकार विक्रमादित्य की कथा मे ऐतिहासिक तथ्यो की प्रधानता है परन्तु नाटक में कहीं भी नीरसता नही आने पाई है। नाटक मे ऐतिहासिक घटनाओ, पात्रों का पूर्ण निर्वाह किया गया है।

दाहर अथवा सिन्ध पतन—इस नाटक की प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत है। साहसीराय एलौर का राजा था। इसका पुत्र साहीरास निमरुज के बादशाह से युद्ध करता हुआ मारा गया और इसके पश्चात् रायसाहसी एलौर का राजा बना। रायसाहसी के दरबार मे शैलज ब्राह्मण चच नामका मन्त्री था जो कि रायसाहसी की मृत्यु के पश्चात् राजा बन गया। उसने रायसाहसी की पत्नी सुहन्दी से विवाह किया तत्पश्चात् ब्राह्मणाबाद के शासक अगम को मारकर उसकी विधवा पत्नी से विवाह कर लिया। चच के पश्चात् उसका पुत्र दाहर राजा बना। सिन्ध पर मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण सन् ७१२ ई० मे हुआ जिसमे दाहर मारा गया। दाहर की दोनो पुत्रियों सूरजदेवी और परमाल देवी कासिम द्वारा खलीफा के पास भेज दी गई। सूरजदेवी व परमाल देवी के कहने पर कि उन्हे कासिम ने भ्रष्ट कर दिया है—खलीफा ने मुहम्मद-बिन-कासिम को जीवित ही खाल में सिलवा दिया। चचनामा से यह भी सिद्ध होता है कि लाडी (दाहर की पत्नी) भी कैद करके भेज दी गई।

भट्टजी ने प्रस्तुत नाटक की प्रायः सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास से ली हैं। उनके इस नाटक मे ऐतिहासिक तत्वों का सबसे अधिक निर्वाह हुआ है। यद्यपि भट्टजी ने इतिहास का पूर्ण ध्यान रखा है तो भी वे इतिहास सम्बन्धी दो भूलें कर गए है—१. दाहर को उन्होंने क्षत्रिय बताया है जबकि सभी इतिहासों

मे उसे ब्राह्मण बताया गया है। २. दूसरे नाटक मे दाहर की पत्नी लाडी का कही भी उल्लेख नही है। जबकि अनेक इतिहासो से पता चलता है कि लाडी ने दो किलो मे अरबी सेना का सामना किया था। नाटककार ने प्राचीन कथानक द्वारा आज के जीवन की घटनाओ, परिस्थितियो और अनेक प्रकार की समस्याओ के सघर्ष को यथार्थ रूप मे चित्रित किया है।

दाहर अथवा सिन्ध पतन मे नाटककार ने दिखाया है कि विदेशी आक्रमण के समय ब्राह्मण और बौद्धो का वैमनस्य अपने चरम पर पहुँच गया था और उन्होने एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए विदेशियो को देश पर आक्रमण करने के हेतु आमन्त्रित किया। ब्राह्मण के छलपूर्ण आचरण और बौद्धो के अरब सेना से मैत्री के कारण सिन्ध प्रान्त ही नही प्रत्युत समस्त भारत धीरे धीरे विदेशी जाति के अत्याचारो से आक्रान्त हो उठा। भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक कथानक द्वारा समाज के उस खोखलेपन, पाखण्ड, आडम्बर और मिथ्याभिमान का चित्र अकित किया है जिसके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्र जर्जर बन चुका है और आज भी भारत के निर्माण मे बाधक सिद्ध हो रहा है। भट्टजी ने वर्ण भेद के दुष्परिणामों को निम्नप्रकार से व्यक्त किया है।

"हाय वे लोहान, जाट और गूजर जो हमारे राज्य की शोभा, वीरता की मूर्ति थे आज ऊँच-नीच के विचारो से पद-दलित हो रहे है। वीरता, शूरता, दृढता, धीरज का अब उनमे नाम ही रह गया है। आज राजनियमानुसार वे लोग रेशमी वस्त्र नही पहन सकते, जीन कसे घोड़े पर नही बैठ सकते, पैरों मे जूते नही पहन सकते······राज्यभर मे लकडी ढोनाभर उनका कार्य रह गया है।"[1] इस प्रकार का वर्ण-भेद आज भी भारतवासियो के सम्मुख प्रमुख समस्या बना हुआ है। आप भारत के विभिन्न प्रान्त के व्यक्ति एक ओर पजाबी सूबे के लिए झगडते हैं तो दूसरी ओर भाषा के लिए। भट्टजी ने प्राचीन वैमनस्यो के दुष्परिणामो को जनता के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जयनाथ नलिन के शब्दों में भी कहा जा सकता है—"भट्टजी ने अपने नाटकों द्वारा

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृष्ठ २०।

धार्मिक कट्टरता के प्रति अपने पाठकों मे अरुचि उत्पन्न करके समाज और देश का बहुत बडा हित किया है।"[1]

सामाजिक सघर्ष के साथ-साथ उस समय बौद्ध ब्राह्मण सघर्ष भी (धार्मिक सघर्ष भी) सर्वत्र छाया हुआ था। उस समय सिन्ध पर अरबी सेनाएँ बौद्धो द्वारा आमन्त्रित की गई। इस प्रकार भयंकर परिस्थिति के वशीभूत होकर दाहर निम्न जातियों को समान अधिकार दे देता है। ब्राह्मण वर्ग इसी बात पर विद्रोह कर बैठता है। बौद्ध भी देश-द्रोही थे अत वे एक ब्राह्मण राजा की सहायता करने के लिए अपने जीवन को आपत्ति मे क्यों डालें। मोक्ष वासव की निम्न उक्ति से बौद्धो की विचारहीनता देश के प्रति विश्वासघात और तुच्छता प्रकट होती है—"हिन्दू भी तो हमारे लिए वैसे ही है जैसे यवन, क्या बौद्ध धर्म से उनको घृणा नही है, क्या वे बौद्ध और बुद्ध धर्म को अच्छी दृष्टि से देखते है ?"[2] इस प्रकार आपसी वैमनस्य के परिणामस्वरूप सारा देश विदेशी सत्ता के अधीन हो गया।

'दाहर अथवा सिन्ध पतन' के पात्र दाहर, जयशाह, सूर्य और परमाल, हैजाज, मुहम्मद-बिन-कासिम, अलाफी, खलीफा आदि सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। भट्टजी ने इस नाटक में ऐतिहासिकता का पूर्ण निर्वाह किया है। इस नाटक के सम्बन्ध मे भट्टजी का विचार इस प्रकार है—"मैंने इस नाटक मे ऐतिहासिक तथ्य की पूर्णतः रक्षा की है ऐसा दावा तो मैं नहीं कर सकता। उसका कारण एकमात्र यही है कि किसी भी इतिहास मे फल के साधनों का, पूर्वरूपो का विस्तृत विवेचन नही होता। नाटककार को वस्तु का आधार लेकर कल्पना की कूची से नाटक रूप चित्र मे उत्थान और पतन के रंग भरने पड़ते है। ऐसा ही मैंने भी किया है।"[3]

भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों मे ब्राह्मण-बौद्ध-जैन-धर्म सघर्ष के

---

१. 'हिन्दी नाटककार,' पृष्ठ १७८।
२. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृष्ठ ६३।
३. 'वही, भूमिका, पृष्ठ ७।

कारण भारत के पतन की कहानी की ओर संकेत किया है कि आज भी हिन्दू-मुस्लिम, निम्न और उच्चवर्ण की जातियाँ तथा विभिन्न मत-मतान्तरो का सघर्ष फिर से हमारी परतन्त्रता का कारण न बन जाएँ। अतः सक्षेप मे कह सकते है कि भट्टजी ने प्राचीन आख्यानो द्वारा हमारी प्राचीन व अर्वाचीन मानव-जीवन-सम्बन्धी समस्याओ, परिस्थितियो और उनके परिणामो की यथार्थ झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत की है।

भट्टजी के पौराणिक नाटको मे भी ऐतिहासिक नाटको के सदृश राष्ट्रीय नव चेतना साकार हो उठी है। लेखक ने पौराणिक कथानक द्वारा वर्तमान जीवन से सम्बन्धित सामाजिक कुरीतियो, विषमताओ और अत्याचारो का यथावत् अकन किया है।

विद्रोहिणी अम्बा—इसमे महाभारत काल का कथानक लेकर नाटककार ने सभी युगो के स्त्री पात्रो की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। महाभारत के पितामह भीष्म तीन-तीन कन्याओ का अपहरण करने के उपरान्त भीष्म-प्रतिज्ञा के महातप के लिए प्रसिद्ध है परन्तु आज उनका यह गौरव स्त्री को केवल पुरुष की दासी मानने पर ही आधारित है जो कि चिरकाल से नारी जाति की एक भयकर समस्या रही है। समाज मे उचित सम्मान एव अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने अधिकारो के प्रति सतर्क विद्रोहिणी अम्बा आज के उस नारी वर्ग की प्रतीक है जो वर्तमान समाज की रूढियो, विषमताओं, को उखाडती हुई समाज मे स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करती आ रही है। आधुनिक नारी पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रो से ही प्रेरणा प्राप्त कर ऐसा कर रही है। प्रस्तुत नाटक मे अम्बा या उसकी बहिनो द्वारा व्यक्त किये गए विचार आज की नारी स्वतन्त्रता की विचार-धारा से बहुत साम्य रखते है। अपने प्रिय शाल्व द्वारा तिरस्कृत अम्बा कहती है—

"पुरुष समाज की इतनी धृष्टता ? स्त्रियो के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नही सदा से ही स्त्रियो का अपमान किया है।"[१]

---

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ७८।

इन पंक्तियों में अम्बा की विवशता नारी जाति की विवशता है। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर अग्निका का कथन भी द्रष्टव्य है—"यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुषों के विवाह के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए, समाज ने ही तो।"[1] पुरुषों के प्रति आज की नारी का स्वर भी ऐसा ही है कटु और तीखा। इन पंक्तियों में पुरुष के प्रति नारी के चिर विद्रोह और प्रतिकार-वासना की कसक है। नाटककार ने पुरुष-समाज द्वारा उपेक्षित वर्तमान नारी के सामाजिक प्रश्न को लेकर मूल कथा से भिन्न कल्पना की है। महाभारत की अम्बा जहाँ केवल अपने व्यक्तिगत प्रश्न को ही देखती है, वहाँ विद्रोहिणी अम्बा व्यास के शब्दों में अम्बा का अनादर स्त्री जाति का अनादर है जिसका फल भीष्म जैसे मनस्वी वीर को भुगतना पड़ा। नाटककार ने व्यक्ति के प्रश्नों को व्यापक सामाजिक रूप देने के निमित्त मूल कथा में प्रायः परिवर्तन किए हैं। इस प्रकार पौराणिक नाटक 'विद्रोहिणी अम्बा' में नारी समस्या की विवशता की चेतना प्रतीक रूप में दृष्टिगोचर होती है।

सगर-विजय—यह नाटक पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है जिसमें सूर्यवंशी राजा सगर के जीवन की कुछ घटनाएँ वर्णित हैं। पौराणिक कथानक की घटनाओं—दुर्दम की मनमानी, सत्यनिष्ठ नागरिकों के मृत्युदण्ड, प्रजा का विद्रोह, सगर का माता की प्रसन्नता के हेतु राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना आदि के द्वारा नाटककार ने आधुनिक स्वार्थ-परता, वैमनस्यता आदि को अभिव्यक्त किया है। आज न केवल प्रान्त ही वरन् एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नीचा दिखाने के लिए छल-कपट से काम लेता है। किन्तु विजय सदैव सत्य व धार्मिक राजा की होती है। नाटक में नीति, सत्य और धर्म की विजय तथा प्राचीन गौरव की भावना जागृत करने के लिए लेखक ने कथानक में षड्यन्त्रों और गृह-कलह की इतनी भरमार कर दी है कि जिसके परिणामस्वरूप काल्पनिक

---

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ८५।

तत्वों की प्रधानता परिलक्षित होती है ।

इन पौराणिक कथाओं में स्वर्णिम अतीत और वर्तमान इतिवृत्तात्मक यथार्थ का जो आकर्षक समन्वय हुआ है वह उसी युग (द्विवेदी और छायावादी) की चेतना का परिणाम है जिसमें इन नाटकों का प्रकाशन हुआ । इनमें लेखक ने वर्तमान जीवन की अनेक समस्याओं को प्राचीन जीवन की समस्याओं के सन्दर्भ में रखकर समझने-समझाने की सजग दृष्टि दी है । इसके साथ ही उनके इन ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में एक ओर वर्ण-भेद, प्रान्त भेद इत्यादि की दृष्टि से संकीर्णता, धर्मवाद की अकर्मण्यता, रूढ़िवाद की विवेक-शून्यता जैसे दुर्गुणों के परिणामस्वरूप पराधीनता का अभिशाप है तो दूसरी ओर संघ-शासन का आदर्श—गणतन्त्र की स्थापना, विदेशी न्याय-प्रिय शासन से भी अन्याय-पूर्ण स्वदेशी शासन की श्रेष्ठता, व्यक्ति की अपेक्षा देश के महत्व की घोषणा पिछले युग की राष्ट्रीय नैतिकता की ही पुकार है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के हेतु ऐसी ही विषमताओं से भारत ने निरन्तर संघर्ष किया है ।

नाटकीय तत्वों के आधार पर भट्टजी के नाटकों का विश्लेषण

प्रत्येक कला के रूप का कुछ सर्वमान्य आधार होता है, कुछ नियम होते है जो समय की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते है । आधुनिक युग में रचना विधान के नए-नए प्रयोग किए जा रहे है । यद्यपि वर्तमान रचनाकार कला में रचना नियमों की स्वतन्त्रता के समर्थक है तो भी उन्हे कला के आधारभूत नियमों और शास्त्रीय बन्धनों को लेकर चलना ही पड़ता है । अस्तु ।

अन्य रचनाकार के सदृश नाटककार को भी अपनी कृति को नाटक बनाने के लिए अपेक्षित शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपनाना पड़ता है तभी उसकी रचना कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि अन्य गद्य रचनाओं से पृथक् होकर नाटक की कोटि में गिनी जा सकेगी । भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्व माने है—वस्तु, पात्र और रस । इन तीनों तत्वों के गठन और अभिव्यक्ति की कला अथवा रचनाविधान के द्वारा महाकाव्य आदि से नाटक भिन्न हो जाता है ।

नाटक मूलत दृश्य काव्य है अत: वस्तु, नेता और रस का रंगमंचीय विधान करने के लिए संवादों और दृश्य विधान का सहारा लेना पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन सभी को दृष्टि में रखकर नाटक के छ: तत्व माने हैं-- कथावस्तु पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और शैली। इस खण्ड के अन्तर्गत भट्टजी के नाटकों का विवेचन भारतीय व पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से किया जायगा।

कथावस्तु

भट्टजी एक जागरूक नाटककार हैं। उन्होंने सत्य की अभिव्यक्ति के लिए इतिहास और पुराण के कथानक के माध्यम से इस लोक के पात्रों द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति दिखाकर उसके सजीव स्वाभाविक विश्वसनीय एवं व्यावहारिक रूप को सिद्ध किया है। ऐतिहासिक कथानक एवं पात्र साहित्य सिद्ध आदर्शों को सजीवता प्रदान करते हैं साहित्यिक कल्पनाओं में यथार्थ की चेतना भर देते हैं। उनके कथानकों में ऐतिहासिक तथ्य और साहित्यिक सत्य भी है। घटनाक्रम में निश्चयात्मकता है, अस्वाभाविकता के लिए कोई स्थान नहीं। सामाजिक नाटकों की कथा के द्वारा भी भट्टजी ने आधुनिक समस्याओं को प्रस्तुत किया है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में अतीत के प्रति अनुराग, देश-प्रेम की भावना है और उसके साथ-साथ कथावस्तु राष्ट्रीय-पतन के मूल कारणों पर भी प्रकाश डालती है। हमारे देश को प्राचीन काल से लेकर आजतक किस भाँति जातीय और धार्मिक वैमनस्य, धार्मिक असहिष्णुता, धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त मतमतान्तर पतनोन्मुख करते रहे हैं आदि कथा भट्टजी के नाटकों में सजीव हो उठी है। आज स्वतन्त्र भारत के सम्मुख सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में अनेक रूपों में घुसे हुए विदेशी कुप्रभावों से छुटकारे का प्रश्न उपस्थित हो गया है। स्वतन्त्र भारत के साहित्य की यही चेतना है। आधुनिक साहित्यकारों ने इसी चेतना को, परिस्थितियों को कथा संगठन, कथा अभीष्ट तथा चरित्र-विकास के द्वारा व्यंजित किया है। भट्टजी के ऐतिहासिक नाटक शक-विजय में भी यही चेतना विद्यमान है। देश की स्वतन्त्रता को आपसी झगड़ों में पुनः अपने हाथ से नष्ट न कर दें—यही चेतना उसमें चित्रित ब्राह्मण और जैन

के संघर्ष से और उसके परिणामों से मिलती है। अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भट्टजी ने लिखा है—"आज देश धर्म से भी महान् है, व्यक्ति और समाज से भी वृहत्तर है इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है। देश की स्वतन्त्रता, उसका सुख सर्वोपरि है।"[1]

नाटककार ने अन्य तत्वों की अपेक्षा उद्देश्य को प्रधानता दी है। देश-भक्ति और राष्ट्र प्रेम के सुन्दर विचार उन्होंने बारम्बार पात्रों से कहलवाये है। जो अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रति कर्त्तव्यों को भूलने वालों, व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख-साधनों मे लीन व्यक्तियों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिदूत, विक्रमादित्य और दाहर अथवा सिन्ध-पतन आदि नाटकों की रचना भी सोद्देश्य हुई है।

कथावस्तु को रोचक, प्रभावशाली और स्वाभाविक बनाने के लिए पाश्चात्य विद्वान् विरोध और संघर्ष को कथावस्तु का प्राण मानते है परन्तु भारतीय दृष्टि उद्देश्य और सफलता के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। भट्टजी की कथावस्तु दोनों का ग्रहण स्वीकार करके चली है। उनके नाटक दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धान्त या दल लेकर चले हैं और इन्ही दोनों के विरोध के सहयोग से कथावस्तु का विकास हुआ है।

विद्रोहिणी अम्बा—भट्टजी का पौराणिक नाटक है जिसमे नारी और पुरुष के बीच चले आते हुए संघर्ष को नाटककार ने अत्यन्त सफलता के साथ व्यक्त किया है। पुरुष द्वारा अपमानित हुई नारी की एक भयंकर समस्या रही है। प्राचीन काल की नारी मन मे विद्रोह भावना को सहन करती थी किन्तु आज प्रबुद्ध नारी समाज में उचित मर्यादाएँ प्राप्त करने के लिए सतर्क हो उठी है। भीष्म ने चार-चार निरीह कन्याओं का जीवन नष्ट करके भी भीष्म प्रतिज्ञा का गौरव प्राप्त किया। परन्तु वर्तमान युग मे इस प्रकार का आदर्श नही चल सकता। अम्बा में एक युग से चली आ रही नारी-जीवन की प्रधान समस्या को लेखक ने स्पष्ट स्वर प्रदान किया है। आज के युग मे नारी जब

---

१. 'शक-विजय' की भूमिका, पृष्ठ १२।

अपने प्राचीन सस्कारो को तोडकर समाज मे स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए सघर्ष करती है तब वह इतिहास और पुराण के पृष्ठों मे दबी विद्रोहिणी नारियो को अपनी सहयोगी समझ उनसे प्रेरणा ग्रहण करती है। दूसरा पौराणिक नाटक 'सगर-विजय' है जिसके चरित्र-चित्रण मे भट्टजी ने संघर्ष को जितना सुन्दर रूप दिया है वैसा कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है। 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' तथा 'विश्वामित्र' आदि पौराणिक नाटक भी सघर्ष प्रधान है।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको मे प्रसाद के नाटको की भाति सघर्ष की प्रधानता है। चाहे वह द्वन्द्व दो व्यक्तियो के बीच है अथवा दो विरोधी विचार धाराओ के बीच। मुक्तिदूत मे यह सघर्ष वैराग्यभावना तथा सासारिक बन्धनो के बीच चलता है। सिद्धार्थ मे वैराग्य भावना बलवती है और शुद्धोदन तथा गोपा आदि मे सासारिक बन्धनो का मोह है। इसके अतिरिक्त भट्टजी ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के पारस्परिक सघर्ष को भी दिखाया है। धीरे-धीरे यह सघर्ष इतना जटिल और व्यापक हो गया कि भारत मे धार्मिक झगडो का सूत्रपात निरन्तर के लिए प्रवाहित होता गया और धर्म के सम्मुख देश की एकता नगण्य और खण्डित हो चली। बौद्ध और ब्राह्मण का यह सघर्ष मुक्ति-पथ मे सिद्धार्थ और देवदत्त के नेतृत्व मे व्यक्त किया गया है।

'दाहर' मे यह सघर्ष और भी भयकर रूप मे चित्रित हुआ है। अब्दुल-बिना कासिम के विदेशी आक्रमण के समय बौद्ध धर्मावलम्बी तटस्थ हो गए और देश को विदेशी आक्रमण से आक्रान्त होते देखते रहे। उस समय तक बौद्धब्राह्मण सघर्ष यहा तक बढ गया था कि बौद्ध और ब्राह्मण आपस मे एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बन गए। देश की रक्षा के लिए मनाही करते हुए मोक्ष वासव कहता है—

"पर भदन्त, हिन्दू भी तो हमारे लिए वैसे ही है जैसे यवन, क्या बौद्ध धर्म से उनको घृणा नही है, क्या वे बौद्ध और बुद्ध धर्म को कोई अच्छी दृष्टि से देखते है गुरुदेव—"[1]

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृष्ठ ६३।

लेखक ने तटस्थ दृष्टि से दोनो के वैमनस्यपूर्ण संघर्ष और उसके कुपरिणामो को स्पष्ट किया है। नाटक की कथावस्तु द्वन्द्वो की प्रधानता से ही विकसित होती है। संघर्ष की क्रिया प्रतिक्रियाएँ विविध घटनाओ और प्रसगों के रूप मे दिखाई पडती है।

भट्टजी का 'शक विजय' नाटक ब्राह्मण-जैन संघर्ष की समस्या पर ही मूलत: आधारित है। मखलिपुत्र ब्राह्मण धर्म के नेता है और कालकाचार्य जैन धर्म के और इन दोनो का सघर्ष ही इस नाटक की कहानी है। सामूहिक सघर्ष के साथ-साथ पात्रो के मन मे भी सघर्ष विद्यमान है। सरस्वती अपने लिए नर-सहार नही चाहती, उसे वह जैन धर्म के विरुद्ध समझती है। वह व्यक्ति से देश को अधिक महत्त्व देती है। उसके मन मे निश्चय हो चुका है कि आचार्य कालक उचित मार्ग पर नही है परन्तु राजा को आचार्य के षड्यन्त्र की किस प्रकार सूचना दे इसमें नारी धर्म आकर बाधक हो जाता है और उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है···

"मैं महाराज से मिलना चाहती हूँ क्या पत्र लिखूँ। पत्र यह मुझसे नही हो सकेगा, पर पुरुष को ·· ·····अरे। यह पर अपर का भाव कैसा, मैं तो साध्वी हूँ न। मैं पत्र लिखूँगी, मै उनसे मिल ही क्यो न लूँ ? एक बार देखूँ महाराज को······। नही, नहीं·· ··।"[१]

आचार्य कालक का मन भी अन्तर्द्वन्द्व से शून्य नही है। विक्रमादित्य मे भी लेखक ने राजाओ के आपसी वैमनस्य एव संघर्ष का चित्रण किया है।

भारतीय दृष्टि से शक-विजय का नायक वरद उद्योग और सफलता का उदाहरण है। उसका जीवन जितना सघर्षमय, जितना कष्टमय और जितना तेजस्वी रहा है उतना वीर जाति के इतिहास मे भी थोडे ही व्यक्तियो मे मिलेगा। उसने अपने उद्देश्य से ही देश से शको को खदेडा। इस प्रकार भट्टजी ने मानव-जीवन का व्यापक सत्य अपने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको मे मुखरित किया है। अत: भट्टजी ने अपने नाटको की कथावस्तु को

---

१. शक विजय, पृष्ठ ८७।

रोचक, स्वाभाविक और प्रभावशाली तो बनाया ही है उसे सोद्देश्य भी रखा है।

व्यापक युग-सत्य के चित्रण की ऐसी ही विशेषता भट्टजी के वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत और समाजगत संघर्षों और समस्याओं पर आधारित सामाजिक नाटकों मे है। 'कमला' मे भट्टजी के अनमेल विवाह की प्रमुख समस्या के साथ-साथ नैतिक-अनैतिक के मापदण्ड का भी चित्रण किया है। समाज मे जिसे भ्रमवश हम चरित्रहीन और अनैतिक समझते है वह वस्तुतः वैसा नही। कमला का वृद्ध पति अपनी वृद्धता की हीन-भावना से प्रेरित होकर कमला के चरित्र पर शंका करता है. इसी प्रकार 'अन्तहीन अन्त' नाटक मे भट्टजी ने व्यक्त किया है कि आजकल अनाथालयों में बच्चों को रखकर लोग कितना स्वार्थ सिद्ध करते है। एक और भ्रान्ति में पडकर व्यक्ति वास्तविकता की हत्या कर डालता है और दूसरी ओर छोटा व्यक्ति समय पाकर कितना महान् और उदार बन जाता है। इन दोनों से उत्पन्न संघर्ष को नाटक मे चित्रित किया है। 'पार्वती' नाटक में आधुनिक शिक्षा, प्रेम, नारी की घुटन और नारी स्वातन्त्र्य, आधुनिक पूंजीवाद, खोखली तडक-भडक पूर्ण जीवन से युक्त एवं प्राचीन परिश्रमी नारी की भावनाओं (सस्कारों) के बीच सघर्ष होता है। नया-समाज में लेखक ने आज के बदले हुए समाज की भावी तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आज का समाज बदलकर नया समाज कैसा होगा, उसकी मान्यताएँ, मर्यादाएँ और मानव-सम्बन्ध क्या और कैसे होगे आदि को नाटक की विषय-वस्तु बनाया है। सामाजिक नाटकों में ग्राम-सुधार, साक्षरता-आन्दोलन, गाधीवाद का प्रभाव, बेमेल-विवाह जमींदारों की कमजोरियाँ, सरकार की खुशामद, वंश का अभिमान, व्यक्तित्व की महत्ता, स्त्री को दासी के रूप मे देखना आदि के बीच द्वन्द्व होता है।

नाटक जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः जीवन की भांति नाटक में भी नायक आदि पात्रों की स्थिति व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक होती है। जहाँ पात्र सीमित अर्थात् वैयक्तिक जीवन को लेकर चलता है वहाँ उसे अन्य के सहयोग की आवश्यकता नहीं परन्तु निर्वैयक्तिक जीवन की साधना में अन्य लोगों का सहयोग

सर्वथा अपेक्षित रहता है। इसी को दृष्टि मे रखकर नाटकीय कथावस्तु को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—आधिकारिक और प्रासगिक। नायक के जीवन से निकटतम सम्बन्धित कथा 'आधिकारिक' होती है। यह कथा नाटक के आरम्भ से अन्त तक चलती है और नायक को फल प्राप्ति भी इसी कथा के अन्तर्गत होती है। 'प्रासगिक कथा' अधिकारिक कथा के कार्य-व्यापार तथा विकास में सहायक होती है और आधिकारिक कथा को फल-प्राप्ति की ओर उन्मुख करती है। प्रत्येक नाटक मे दोनो प्रकार की कथावस्तु का होना आवश्यक नही है। भट्टजी ने अपने नाटको मे कही इनको अनिवार्य रूप से अपनाया है, कही नही। ऐतिहासिक नाटको की मूल कथा के साथ अनेक उपकथाएँ चलती है फिर भी अन्य नाटककारो के सदृश कथाओ की भीड़ भट्टजी के नाटको मे नही मिलती।

'दाहर अथवा सिन्ध पतन' मे एक ओर दाहर का अपनी शरण मे आए हुए अरबी सैनिक की रक्षा करना, दूसरी ओर देश को रक्षा के लिए अरबो से युद्ध, सूर्य और परमाल का अपने देश की रक्षा के लिए प्रयत्न खलीफा, परमाल और सूर्य से सबधित घटनाएँ, मानू के दस्युओ के सम्बन्ध मे विचार एव जीवन आदि से सम्बन्धित घटनाएँ प्रासगिक कथा के अन्तर्गत आती है और नाटककार ने अत्यन्त कौशल के साथ इन सभी घटनाओ का मूल घटना के साथ सामंजस्य किया है। 'शक-विजय' मे भी अनेक उपकथाएं चलती है··· गन्धर्वसेन के कार्य, कालकाचार्य और विदेशी शक हूणो से सम्बन्धित घटनाएँ सरस्वती और सौम्या के पारस्परिक संवाद आदि प्रासगिक कथा के अन्तर्गत आते है। 'विक्रमादित्य' और 'मुक्तिदूत' मे भी अनेक उपकथाओ का समावेश है जिनका मुख्य कथा के साथ योग रहा है। पौराणिक नाटक 'अम्बा' मे सगर-विजय की अपेक्षा प्रासगिक वस्तु के प्रति आग्रह सर्वथा कम रहा है। सामाजिक नाटको मे तो यह प्रवृत्ति और भी कम हो गई है। केवल वही प्रसग रखे गए है जो कथावस्तु के उद्देश्य मे सहायक है। 'कमला', 'अन्त हीन अंत', 'पार्वती' और 'नया समाज' मे जो उपकथाएँ है वे वर्तमान समाज का चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ मूल-कथा को रोचक व उद्देश्यपूर्ण बनाने मे सहायक है।

नाटक की कथावस्तु के लिए नाटकीय व्यापार की उद्दीप्ति अपेक्षित है। कथा विन्यास में अर्थ प्रकृति, कार्यावस्था, संधि आदि के विधान नाटकीयता को उद्दीप्त करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं परन्तु साथ ही इन सबकी अत्यधिक उलझन पाठक के लिए नीरस और श्रमसाध्य घटना हो जाती है। प्रसाद आदि नाटककारों ने भारतीय मनीषियों द्वारा निर्धारित उपर्युक्त नियमों का यथातथ्य पालन किया है। यही कारण है कि उनके नाटक सामान्य जन से दूर हैं। भट्टजी इस प्रकार के झमेले में नहीं पड़े हैं। इसमें सम्भवतः उनके दृष्टिकोण का अंतर है। प्राचीन नाटक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए लिखे जाते थे जबकि भट्टजी ने अपने नाटकों की रचना वर्तमान सामाजिक राजनीतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए की। अतः उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन नाटकों के उद्देश्य को कम महत्त्व दिया है।

भारतीय नाट्य शास्त्रानुसार नाटक का आरम्भ मंगलाचरण या नान्दीपाठ से होता है—प्रस्तावना होती है जिसके मुख्य पात्र नट-नटी और सूत्रधार होते हैं। नाटक का अन्त भरत-वाक्य से होता था। इसके साथ नाटक का मुख्य उद्देश्य फल-प्राप्ति होता है। उसके लिए उत्कण्ठा से नाटक आरम्भ होता है, फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न है, उसकी सफलता की आशा प्रत्याशा है। फल की प्राप्ति का होना नियताप्ति है और फल की प्राप्ति फलागम है। इन पाँच अवस्थाओं की सफलता के लिए पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों के सामंजस्य से पाँच संधियों का जन्म होता है किन्तु ऐसा सर्वथा अनिवार्य नहीं है। परन्तु भट्टजी ने अपने नाटकों में इनको कथावस्तु के गठन का साधन नहीं बनाया। उन्होंने अपने नाटकों में पाश्चात्य शैली के अनुसार कार्य की पाँच अवस्थाओं (प्रारम्भ, विकास, चरम-सीमा, उतार और अन्त)[1] का ही प्रमुख ध्यान रखा

१. प्रारम्भ में संघर्षमयी घटना का आरम्भ होता है। यह संघर्ष या द्वन्द्व दो विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों, दलों, सिद्धान्तों आदि किसी का भी हो सकता है। विकास में पारस्परिक विरोधी घटनाओं के घटित होने से वृद्धि होती है। पात्रों अथवा आदर्शों

है। शास्त्रीय पक्ष की अपेक्षा समष्टि प्रभाव की ओर ही भट्टजी का विशेष आग्रह रहा है।

भट्टजी के ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक नाटको मे कार्य की अवस्थाओ का यही क्रम रखा गया है। 'विक्रमादित्य' मे पिता द्वारा विक्रमादित्य को राज्य सिंहासन सौपने के कारण सोमेश्वर और अन्य सरदारो के बीच सघर्ष का आरम्भ होता है। अन्य राजाओ की सहायता से विक्रमादित्य की मृत्यु के लिए अनेक षड्यन्त्र सघर्ष को विकसित रूप देते है। अपने कार्य में असफल होने पर छल-कपट से विक्रमादित्य को पराजित करना ही चरम सीमा है। चन्द्रलेखा और अनगमुद्रा के षड्यन्त्र से सोमेश्वर के छल-कपट सब व्यर्थ हो जाते है वहाँ उतार की अवस्था है और अत मे सोमेश्वर की मृत्यु, विक्रमादित्य की विजय ही कथावस्तु के अत की अवस्था है।

'दाहर अथवा सिध पतन' मे मानू नामक दस्यु का व्यापारियो के कुकर्त्तव्यो को प्रकट करना, डाकुओ के प्रतिशोध की प्रवृत्ति आदि आरम्भ की अवस्था है। दाहर के सम्मुख उसका प्रतिज्ञा करना, युद्ध करने के लिए उत्साहित करना, परमाल-सूर्य के प्रयत्न से सम्बन्धित घटनाएँ विकास के अन्तर्गत आती है। सिंध एव अरब के बीच युद्ध और उसमे दाहर की पराजय चरम सीमा है। हैजाज और सूर्य के बीच वार्तालाप, जयशाह का युद्ध के लिए पुनः जाना उतार की अवस्था है और अन्त की अवस्था सूर्य परमाल की मृत्यु के उपरान्त खलीफा का पश्चाताप करते रह जाना आदि।

'शक-विजय' नाटक मे न तो घटनाओ का अत्यधिक जाल है और न आधिकारिक कथा के साथ प्रासगिकता की उलझन ही। आचार्य कालक द्वारा जैन धर्म के प्रचार और ब्राह्मण धर्म के बीच सघर्ष का होना ही आरम्भ की अवस्था है। सरस्वती के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर अनेक गृहस्थियो का जैन

का संघर्ष एक निश्चित सीमा तक बढ जाता है। चरम सीमा में किसी एक पक्ष की सफलता के लक्षण प्रकट होते हैं। उतार में यह विजय निश्चित हो जाती है और अन्त में संपूर्ण संघर्ष का अन्त हो जाता है।

धर्म स्वीकार कर भिक्षु हो जाना, उससे उत्पन्न अनेक प्रकार के वैमनस्य आदि कथावस्तु के विकास मे सहायक है। सास्कृतिक चेतना पर आधारित ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इसकी चरम सीमा शक विजय के पश्चात् उनसे मुक्ति पाने के प्रयत्नो मे है। शरद का देश की विदेशियो से रक्षा के लिए युद्ध करना आदि कथावस्तु के उतार की अवस्थाएँ है और अन्त अवस्था के अन्तर्गत विदेशी शक-हूणो से देश की रक्षा, उनसे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र होना एव देश की एकता आदि आते है।

'मुक्तिदूत' मे भी सिद्धार्थ का शिकार खेलते हुए विरक्त हो जाना प्रारम्भ की अवस्था है। वृद्ध-रोगी एव मृतक को देखने के उपरान्त संसार से वैराग्य लेकर मोक्ष प्राप्त करने की चाह आदि विकास की अवस्था है और राजगृह पत्नी, पुत्र, माता-पिता आदि स्वजनो को जन कल्याण के लिए त्यागकर चले जाना चरम-सीमा है। तत्वज्ञान की प्राप्ति आदि उतार के अन्तर्गत आते है और अन्त है सिद्धार्थ रूप को छोड बुद्ध के रूप मे अपनी नगरी मे आकर सभी को ज्ञानोपेदेश देना और बौद्ध धर्म मे दीक्षित करना।

ऐतिहासिक नाटको के समान ही पौराणिक और सामाजिक नाटक—'अम्बा, 'सगर-विजय, 'कमला, 'अन्त हीन अन्त, 'पार्वती' और 'नया-समाज' इत्यादि में भी वस्तु की अवस्था का यही क्रम रखा है। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भट्टजी इस प्रकार के बन्धन के प्रति विशेष ममत्व नही रखते। आधुनिक गति-विधि को दृष्टि मे रखकर इन सब नियमो का ज्यो-का-त्यो पालन करना असम्भव है। वस्तु के विकास मे भट्टजी ने नाटकीय रूप का प्रतिपादन करने के लिए आरम्भ, मध्य और अन्त इन तीन तथ्यों को विशेष महत्व दिया है। आरम्भ में कथावस्तु को साधारण रूप से प्रस्तुत कर घटनाओं को इस भाति समाविष्ट कर देते है कि जिनसे आगे की घटनाओ के लिए उत्कंठा बढ़ती रहती है। भट्टजी ने अपने नाटकों में कथावस्तु के इन तीनो मोड़ों का अत्यन्त सफलता के साथ निर्वाह किया है। उदाहरण के लिए उनके सामाजिक नाटकों को लिया जा सकता है। उनके इन नाटको मे व्यक्ति के भीतर चलने वाले द्वन्द्व की विशेषता है साथ ही जिज्ञासा और उत्कठा जो

नाटक के महत्त्वपूर्ण अग है उनका पूर्णतया निर्वाह हुआ है । इनके आरम्भ भी कौतूहल से पूर्ण है । भट्टजी ने कथानक के सगटन के लिए किसी शास्त्रीय पक्ष का आग्रह-विशेष नही रखा है प्रत्युत जिज्ञासा, कौतूहल और प्रभावशाली उद्देश्य के प्रति वह जागरूक रहा है ।

नाटक की कथावस्तु को अभिनय की दृष्टि से दो रूपो मे विभक्त किया जाता है—दृश्य और सूच्य । दृश्य कथावस्तु का वह भाग है जिसमे कि घटनाओ का अभिनय रंगमच पर प्रस्तुत किया जाता है । कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए मूल वस्तु मे अनेक उपकथाएँ समाविष्ट होती है किन्तु रगमंच पर उनका अभिनय होना आवश्यक नही । सकेत के लिए उनकी सूचना भर दे दी जाती है । सूच्य वस्तु के लिए पाँच साधन हैं—विष्कम्भक, चूलिका, अकास्य, अकावतार और प्रवेशक । प्राचीन सस्कृत नाटको मे इनका प्रयोग किया जाता था परन्तु वर्तमान युग मे इन्हे कोई आवश्यक नही समझता । भट्टजी ने आरम्भिक नाटक विक्रमादित्य मे इनकी ओर सकेत किया है किन्तु परवर्ती रचना मे उन्होने आवश्यक नही माना है क्योकि भट्टजी रगमच की आवश्यकता से पूर्ण परिचित है और अनुकूल कथा के निर्माण मे आपने सावधानी से काम लिया है । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कथावस्तु की दृष्टि से भट्टजी के नाटक सफल है ।

पात्र

नाटककार का प्रधान उद्देश्य प्रायः मानव के मनोभावो का यथावत् एव सूक्ष्म विश्लेषण करना होता है । यदि यह कहा जाय कि नाटक का प्राणतत्त्व चरित्र-चित्रण है तो अत्युक्ति नही होगी, क्योकि नाटकीय पात्रो का चरित्र मानव-हृदय की बिभिन्न अनुभूतियों, जीवन की विविध दशाओं तथा अनेक लोक आदर्शों का सवहन करता है । अस्तु ।

वस्तु-विन्यास मे पात्रो का समुचित विनियोग (समावेश) करने के उपरान्त ही घटनाओ की सम्पन्नता प्रत्यक्ष की जा सकती है । वस्तु-विधान और पात्रो की योजना परस्पर अन्योन्याश्रित है । एक के अभाव मे दूसरे का विन्यास संभव

नहीं क्योंकि वस्तु मे पात्रों का चरित्र गुम्फित रहता है और चरित्रों के गुम्फन से वस्तु निर्मित है । अत. पात्रों को नाटक के वर्ण्य-विषयानुसार ही सयोजित करना नाटककार की कुशलता का परिचायक है ।

भट्टजी पात्रों की सयोजना के सम्बन्ध मे सर्वथा सावधान रहे है । उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी विषयों को अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया । अतः भट्टजी के सभी पात्र युग-जीवन के प्रतिनिधि है जो अपनी चारित्रिक विशेषताओं के साथ युग-विशेषताओं के भी प्रतीक है । ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको के पात्र अपने प्रसिद्ध रूपों मे ही चित्रित हुए है । उनका चरित्र-चित्रण परम्परागत रूप मे ही हुआ है । नायक-नायिका वीरता, धैर्य, साहस, पराक्रम, दया, करुणा, क्षमा आदि गुणों से सम्पन्न है । सभी स्त्री-पुरुष सद्पात्र, यथा विक्रमादित्य, दाहर, अलाफी, सगर, सिद्धार्थ, गन्धर्वसेन, वरद, सरस्वती, परमाल, सूरज, दुर्गा, आदि गुण-सम्पन्न और आदर्श है । खलनायक अर्थात् शठ नायक, उदाहरणतया—सोमेश्वर, कर्दम, हैजाज, नहपान आदि कपटी, विश्वासघाती, निर्भय तथा आत्मश्लाघा आदि दुर्गुणो से युक्त दुर्जेय और क्रूर हैं । दोनो भाँति के पात्रो मे मनोभावों का द्वन्द्व मिलता है जो उनकी चारित्रिक विशेषताओं को उभारने मे सहायक है । नायक-नायिकाओ तथा प्रतिद्वन्द्वी खल-नायक-नायिकाओं और सद् तथा असद् स्त्री-पुरुष पात्रों को समान रूप से ही लेखक की सहानुभूति और सवेदना प्राप्त हुई है । भट्टजी ने अपने को तटस्थ रखकर ही उनका चरित्र-चित्रण किया है, जिसके फलस्वरूप उनके पात्रों के चरित्र कथा के घात-प्रतिघात द्वारा स्वाभाविक रूप से विकसित होते है । सभी नाटकीय पात्र अपने मे पूर्ण और सजीव है जोकि भट्टजी के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी सफलता है ।

भट्टजी ने पौराणिक पात्र चुन-चुनकर लिये है । वे अपने जीवन को ऐसी समस्याओं और विचारों से घेरे हुए है जो वर्तमान समाज से सम्बन्धित है । अम्बा, सगर-विजय आदि नाटको के पौराणिक पात्र अपने समय की उलझनों को आज के विचारो और भाषा मे सुलझाते हुए दिखलाये गये हैं । किन्तु विशेषता यह है कि इससे पौराणिक वातावरण मे अस्वाभाविकता नहीं आने पाई

है। 'विद्रोहिणी अम्बा' मे स्त्री-पात्रों द्वारा सभी युगों की स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण किया है। अम्बा और उसकी बहनो के चरित्र मे आज के नारी-जीवन की समस्या और समाज मे समान अधिकार प्राप्त करने का उसका विद्रोही स्वर मुखरित हो उठा है। वे आज के नारी-वर्ग की प्रतिनिधि है। अम्बा ने सदाचार और पतिव्रतधर्म की आदर्श भावना के कारण केवल शाल्व को मन मे पति मान लेने के हेतु विचित्रवीर्य की पत्नी बनना अस्वीकार कर दिया। अब शाल्व द्वारा तिरस्कृत होने पर वह अपमान से तड़प उठती है। शाल्व की राज-सभा को छोड़ते हुए उसने क्रोध और निराशा से कहा—

"किन्तु जाती हुई एक बार, हाँ एक बार तुम्हे कह देती हूँ कि इसी मान-अपमान की आग मे, इसी क्षत्रियत्व की अविवेकनी अग्निशिखा मे इस पापी समाज का अनन्त काल के लिए नाश होगा। वीरता और विवेक की आँखो से देखने का छूछा आडम्बर रखनेवाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य मे दास, निकृष्ट दास बनना होगा।"[१]

प्रस्तुत कथन मे अम्बा की विवशता की चेतना प्रतीक रूप में उभरी है। नारी के प्रतिशोध का रूप अत्यन्त सशक्त और तीखा है।

भट्टजी के नाटकीय पात्रो मे अन्तर्द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, जिसके द्वारा पात्र अपने मनोगत भावों को स्पष्ट करते हुए अपना व्यक्तित्व प्रकट करते है। प्रस्तुत नाटक मे भट्टजी ने अम्बा, अम्बालिका, अम्बिका और सत्यवती इन चारों नारियों के मानस-द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण किया है। वे उन पीडित नारियो का प्रतिनिधित्व करती है जो नारी की स्वतन्त्रता प्रतिपादित करना चाहती हैं। भीष्म, शान्तनु और शाल्व के प्रति उन्होने तीखा व्यग्य किया है। अपने प्रेमी शाल्व द्वारा तिरस्कृत होने के उपरान्त अम्बा पुरुष-समाज पर तीखी चोट करती हुई कहती है—"पुरुप समाज की इतनी धृष्टता? स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलनेवाली पुरुष जाति ने आज से नही सदा से ही स्त्रियों का अपमान किया है।"[२]

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ८०
२. वही, पृष्ठ ७८

अम्बिका की निम्नोक्त उक्ति में तो उसका एक-एक शब्द अग्नि-स्फुलिंग बनकर पुरुषों पर बरस पड़ा है—"यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ, रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए? समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ कि हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं।"[१]

पुरुष-समाज के प्रति आज की नारी का स्वर भी ऐसा ही तीखा और कटु है। इन पंक्तियों में पुरुष के प्रति नारी की चिर विद्रोह और प्रतिकार भावना अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेती है। पुरुष की अधिकार-लिप्सा के विरोध में नारीत्व चीत्कार कर उठा है। अम्बा को अधिकार-दृप्त पुरुष से तिरस्कृत स्वीकार कर नाटककार ने उसे अपनी संवेदना दी।

नारी पात्रों के अतिरिक्त पुरुष पात्र भी भीष्म, शान्तनु और शाल्व उसी चिरन्तन पुरुषत्व दम्भ के प्रतीक हैं जो नारी को पुरुष की उपभोग्या-मात्र मानता है। भट्टजी के पौराणिक नाटकों के पुरुष पात्रों का चरित्र नारी पात्रों के चरित्र के सम्मुख गौण और महत्त्वहीन प्रतीत होता है। वे भावावेश में बिना विचार किए कुकर्म कर बैठते हैं परन्तु बाद में अन्तर्विश्लेषण करने के उपरान्त उद्विग्न हो जाते हैं। भीष्म अपने अन्त समय में शर-शय्या पर लेटे हुए हैं, उनके मन में एक-एक घटना—अम्बा-वृत्त, उसका अपहरण, शाल्व द्वारा उसका अपमान आदि जागृत होती है जिससे उनका अन्तःकरण ग्लानि से भर जाता है। इन विचारों के साथ-साथ भीष्म की उद्विग्नता क्रमशः बढ़ती जाती है। अन्य व्यक्तियों के पूछने पर व्यास उनके क्षोभ का कारण इस प्रकार बताते हैं—"काशीराज की कन्या अम्बा की प्रतिहिंसा का फल भीष्म को भोगना पड़ रहा है।……एक स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल भीष्म की मृत्यु।"[२] इस प्रकार ग्लानि के वशीभूत

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ८५
२. वही, पृष्ठ १०१

होकर भीष्म अपना शरीर त्याग देते है।

'सगर-विजय' मे बाहु, सगर, दुर्दम, विशालाक्षी और बर्हि आदि मुख्य पात्र है। प्रस्तुत नाटक के सभी पात्र अपने चारित्रिक महत्त्व से नाटक मे सास्कृतिक वातावरण की सृष्टि करते है। 'बाहु' धीरोदात्त नायक के सभी गुणो से युक्त ओजस्वी, आत्मविश्वासी और वीर तथा साहसी है। वह एक आदर्श राजा है। वह स्वार्थ की अपेक्षा देश के प्रति कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व देता है—"बाहु—ओह ! बडी पीडा है। किन्तु वीर पुरुष को पीडा मे भी सुख मिलता है।······मैं शक्ति भर······लड़ूंगा।"[1] युद्ध मे पराजित होने के पश्चात् भी उसके मन मे सघर्ष उठता है।

"तो क्या मुझे साहस छोड देना होगा ? नही, यदि मैं बदला न ले सका ······तो क्या हुआ, मेरी सन्तान बदला लेगी। जीवन हारने के लिए नही है ······दुःख से सुख फूटता है। यह मेरे हृदय की आग······ है······यह कैसा स्वर है, कैसी आहट है।"[2] वन मे वह पीडा के कारण अर्ध-चेतन हो जाता है। विक्षिप्त अवस्था पर उसके हृदय से दार्शनिक विचार स्वत: ही निकलते हैं—"विचित्र है सब विचित्र······कभी सिंहासन, कभी वन। कभी स्वस्थ, कभी रोग। चलूँ ! उठकर रानी को देखूँ। वह कोमलागी······तुम, तुम। क्या तुम दुर्दम के आदमी हो ? तो सुनो, अन्याय से तुम्हारे राजा ने युद्ध किया।"[3]

बाहु वीर, साहसी, विश्वसनीय और देशभक्त के रूप मे हमारे सामने आता है। फिर भी उसके व्यक्तित्व का दार्शनिक पक्ष भी हमारे सम्मुख आता है। घायल बाहु मौन होते हुए भी मानो प्रकृति के प्रत्येक रूप से जीवन के खुले हुए पृष्ठों को पढ रहे है—"पत्ते वृक्षो से गिर रहे है। नये पौधे फूट रहे है। यही तो जीवन है। ये पत्र गिरकर जीवन का सूत्र पिरोते है। खाद बनकर

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ ११
२. वही, पृष्ठ ७
३. वही, पृष्ठ ११

नये वृक्षों में प्राण फूँकते हैं।"[1]

प्रस्तुत नाटक का नायक सगर है जिसने न केवल अपने शत्रु हैहयवंशी दुर्दम से अयोध्या का उद्धार किया प्रत्युत दिग्विजय भी की। सगर मे गम्भीरता, दूरदर्शिता, सहिष्णुता, धैर्य, त्याग, सगठन-कुशलता, वीरता, उदारता आदि अनेक गुण विद्यमान है। वह अपने स्वार्थ की अपेक्षा कर्त्तव्य-भावना को अधिक महत्त्व देता है। राजा के पद से वह पूर्ण परिचित है—"राजा प्रजा की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ नही है। वह केवल प्रजा का मूर्त्त स्वर है, इसलिए राजा बनने से पूर्व मैंने निश्चय किया है कि मैं प्रजा मे शान्ति स्थापित करूँ।"[2] परन्तु अन्य स्थान पर माता की मृत्यु के समाचार से वह विह्वल हो जाता है; राज्य के प्रति उसके मन मे खीज उत्पन्न हो जाती है—"मैं ससार मे पितृविहीन उत्पन्न हुआ। मिथ्या की तरह आश्रयहीन, छाया, कंकाल की तरह मातृहीन होकर पोषित हुआ......एक ही आश्रय था मेरे स्नेह का, एक ही स्रोत था मेरे उल्लास का, एक ही मूर्ति थी मेरी साधना की—हा माता! त्रिपुर, अब मैं अयोध्या न लौटूँगा......मैं अयोध्या न जाऊँगा।"[3] त्रिपुर के कहे जाने पर वह पुन देश-रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है—"जीवन एक सग्राम है। कर्त्तव्य की जागरूकता उस सग्राम की महत्ता है......यह सम्पूर्ण वसुमती, जिसने मेरा लालन किया, माता विशालाक्षी की प्रतिमा बनकर मेरी ओर देख रही है।......मैं माँ की धूलि मस्तक पर चढाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरा रोम-रोम उसकी सेवा के लिए होगा।"[4] इस प्रकार सगर का चरित्र विविधता लिये हुए है।

दुर्दम का चरित्र नाटककार ने अत्यन्त सफलता से चित्रित किया है। दुर्दम से भावुकता और सहृदयता विदा ले चुकी है। वह क्रूर, कठोर और अस्वा-

---

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ ७

२. वही, पृष्ठ ९९

३. वही, पृष्ठ १०८

४. वही, पृष्ठ ११०

भाविक जीवन व्यतीत करता है। सम्राट् बनने की महत्त्वाकाक्षा उससे निरीह जनता का वध करा देती है—"इस समय राज्य की नीव को दृढ करने की आवश्यकता है······मैं हैहयवश की यशोध्वजा अयोध्या के सिंहासन पर सदा के लिए स्थिर कर देना चाहता हूँ।······इनको फाँसी पर चढा दो।"[1]

अन्य उदाहरण—"सुनो, यह मेरे अन्तिम वाक्य है। या तो तुम मेरी आधीनता स्वीकार करो नही तो महाकाल की गोद मे सोने के लिए तैयार हो जाओ।"[2] इसके साथ-साथ वह कट्टर, निरकुश, निर्दय, धूर्त योद्धा है। वह शत्रु की गर्भवती स्त्री पर अत्याचार करने मे भी तनिक नही झिझकता—"उसकी रानी को मै पकडना चाहता हूँ। वह गर्भवती है। उसके गर्भ को नष्ट कर डालना चाहता हूँ। हैहयवश के निष्कण्टक होने का यही एक उपाय है।"[3]

भट्टजी के नाटको मे किसी पात्र के सम्बन्ध मे कही गई अन्य पात्रो की उक्तियाँ उसके चरित्रोद्घाटन मे सहायक होती है। सगर-विजय मे बर्हि के शब्दो मे दुर्दम का चरित्र प्रतिनायक के रूप मे आता है—"सब जानती हूँ। खूब जानती हूँ। नीच, कृतघ्न, पापी कुत्ते कही के! कपट से विजय पाने वाले कभी उसका रक्षा नही कर सकते।"[4]

दुर्दम यद्यपि वीर और साहसी है परन्तु बर्हि के भयकर रूप को देखकर भयभीत हो जाता है। उसके मन मे अनेक प्रकार के विचार सघर्ष करने लगते है। बर्हि के रूप को देखकर कहता है—"एक हवा के झोके की तरह आई और निःश्वास की तरह आकाश मे लीन हो गई।······दुर्दम की सशक्त भुजाओ मे कई बिजलियो की कड़क, कई मेघो के गर्जन, कई सागरो के विस्तार, कई आकाशो के पर्दे छिन्न-भिन्न होकर, पिसकर, कुचले जाकर विलीन हो गए।"

---

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ २३

२. वही, पृष्ठ ६३

३. वही, पृष्ठ २२

४. वही, पृष्ठ ३८-३९

परन्तु जब दुर्दम दानव-महत्त्वाकांक्षाओं के घटाटोप से मुक्त क्षणों में आता है, कपट के परिवेश से बाहर निकलता है, तब उसके हृदय की दुविधापूर्ण स्थिति का चित्र इन शब्दों में सामने आता है—"दूसरे के देश को जीतना सहज है किन्तु इसके हृदय को जीतना कठिन। देश-प्रेम की आग को सहस्रों यत्न करके भी बुझाया नहीं जा सकता······मेरे प्रयत्नों से उस ज्वालामुखी के फटने में उत्तेजना मिली। मेरे प्रयत्न, सारी चेष्टाएँ विफल सिद्ध हुईं। यह मैंने क्या किया? अब क्या हो सकता है? यत्न करके भी मैं सगर को न मार सका, बर्हि को न मार सका, विशालाक्षी को समाप्त न कर सका···।"[1]

भट्टजी को नारी-चरित्र-विश्लेषण में पर्याप्त सफलता मिली है। सगर-विजय में बर्हि का चरित्र बहुत ही रोचक है। उसमें सर्वत्र कवित्व मिलता है, वह क्रोध और प्रतिशोध से जर्जर ईर्ष्या से पागल नारी है। विशालाक्षी को देखकर उसकी सपत्नी ईर्ष्या अपना उग्र रूप धारण कर लेती है और उसकी मृत्यु के लिए व्याकुल हो जाती है।—"पाताल फोड़कर तुझे ढूँढ निकालूँगी विशालाक्षी। तुझे अभिमान हो गया है। मेरे हृदय की आग में तुझे जलना होगा।"[2]

वह क्रोध से वृक्ष से लिपट जाती है, लता को मसल डालती है। बर्हि का क्रोधित रूप वास्तव में अत्यन्त भयंकर है। किन्तु वह अपने पति के प्रेम से वंचित नारी की प्रतीक है। उसके भावों में विवशता है—

"महाराज, इन स्वरों की साधना यदि एक बार तुम देख पाते, इस प्यास को एक बार भी बुझा सकते, इस हृदय को एक बार भी विलास की उत्तुंग ऊर्मियों में उँडेलकर मेरे जीवन की तूफानी धार में बहा सकते। पर तुम्हें क्या?"[3]

अपने इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए वह विशालाक्षी को विष

---

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ ६७

२. वही, पृष्ठ १६

३. वही, पृष्ठ २६

देकर मारना चाहती है। बर्हि के तेज के सम्मुख अत्याचारी दुर्दम भी असहाय-सा हो जाता है—बर्हि का निडरता का रूप—"बर्हि—क्या कहते हो, बन्दी बनाना होगा। मुझे बन्दी बनाओगे राजा। (क्रोध से) मूर्ख, मुझे कौन बन्दी बना सकता है। बिजली को कौन पकड़ सकता है, तूफान को कौन रोक सकता है, प्रलय को कौन हटा सकता है। जो मुझे बन्दी बना सकता था····· तुम मुझे बन्दी बनाओगे दुर्दम ?·······"[१]

वह विशालाक्षी और बाहु के एकमात्र आधार सगर को भी नष्ट कर डालना चाहती है—सगर को गोद मे लिए हुए कहती है—"आज मेरी इच्छा और हृदय के निःश्वासो ने प्रतिहिंसा का रूप धारण कर लिया है··· ··नीच विशालाक्षी का गौरव कुचलकर आज मै अपने हृदय के आलोकित शिखर पर चढ सकूँगी। ·····आज मेरी सम्पूर्ण आशाएँ, सम्पूर्ण प्रयत्न, निखिल साधनाएँ पुंजीभूत होकर इस सुन्दर शत्रु का नाश कर देगी।"[२]

इतना होने पर भी वह नारीत्व की कोमल भावना से युक्त है। "पर··· ···इसमे इस नन्हे, भोले सुकुमार शिशु का क्या अपराध है ? कैसे सुन्दर ओठ है ? पतले-पतले कोमल, मानो विधाता ने बिना हाथ लगाये ही इन्हे बनाया हो·······। न, इसका कोई अपराध नही, मैं इसे न मारूँगी।"[३]

वह क्रोध के आवेश मे सगर को नदी की धारा मे फेकना ही चाहती है तभी कुन्त और त्रिपुर के द्वारा वह बचा लिया जाता है। कुन्त के शब्दो में बर्हि का चरित्र स्पष्ट हो जाता है—"स्पर्धा, प्रतिहिंसा का इतना उग्र रूप··· कभी न देखा था। गई, साँपिनी-सी फुफकारती, चोट खाई सिंहनी-सी।"[४] संक्षेप मे बर्हि का चरित्र क्रोध, प्रतिहिंसा, क्रूरता और भयानकता से परिपूर्ण है, जिससे स्वत ही सिद्ध हो जाता है कि एक नारी अपनापन खोकर कितनी

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ ४८-४९
३. वही, पृष्ठ ४९
४. वही, पृष्ठ ५१

भीषण और क्रूर बन जाती है। उसके प्रतिकूल विशालाक्षी दया की मूर्ति और करुणा की मानो साकार प्रतिमा है। अपनी सपत्नी की मृत्यु से वह द्रवित हो जाती है—"हा बहिन! तुमने अकारण द्वेप किया था। मैंने तो कुछ भी नही बिगाडा। कभी तुम्हारा विरोध नही किया।"[1] विशालाक्षी कोमलमना एव पति-परायणा भोली नारी है। पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी मनोदशा अत्यन्त करुणाजनक हो जाती है—"हे प्रभो! मैं क्या देख रही हूँ। मेरे महाराज! आपकी यह दशा?······वे आज अनादृत, अपृष्ट और मूक होकर पड़े है······अब मै किसके सहारे चलूंगी? मेरा प्रकाश बुझ गया······हाय, मै क्या करूँ? मै अकेली हूँ। निराशा की तरह असहाय, स्वप्नो की तरह निर्बल, बेचैनी की तरह अधीर······मेरे प्राण, मेरे हृदय, तुम विस्फोट की तरह फटो और मेरे आँसुओ का एक प्रलयान्तक सागर बना दो। मुझ वहा ले चलो, मैं अकेली हूँ।"[2]

और गर्भवती होने के कारण और्व-ऋषि सती होने के लिए उसे मना कर देते है तब वह नारी-सुलभ विवशता से अधीर हो जाती है—(रोती हुई)—"विधाता तुझसे मेरा जलना भी न देखा गया? मै गर्भवती हूँ पर मैं आँसुओं के अथाह सागर मे बहती हुई बिना पतवार की, बिना मल्लाह की, बिना दिशा ज्ञान की, बिना किनारे की नाव भी तो हूँ।······अब मैं क्या करूँ।"[3]

विशालाक्षी ममता की मूर्ति है। पुत्र के लिए वह कठोर-से-कठोर आपदाएँ सहन करती है। इसके साथ उसके शौर्य का चरित्र भी स्वयं दिव्य हो उठा है। भट्टजी ने इस नाटक के चरित्र-चित्रण से संघर्ष को जितना सुन्दर रूप दिया है वैसा कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है।

पौराणिक नाटको मे कुछ पात्र प्रसगवश देवता बन गए हैं किन्तु उनकी

---

१. 'सगर-विजय, पृष्ठ १०२
२. वही, पृष्ठ ३४
३. वही, पृष्ठ ३६

महानता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया गया है। स्वयंभुव मनु, शतरूपा सृष्टि के आदिम स्त्री-पुरुष थे। इन पात्रो का निर्माण प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर हुआ है। सरस्वती, शिव, पार्वती, गणेश आदि देवताओ की सृष्टि कल्पना-प्रसूत न होकर ठोस पौराणिक आधारो पर है। पौराणिक नाटको के पात्रो के विषय मे डा० सत्येन्द्र का मत है कि—"उन्होने समाज के रूढि-विरोधी व्यक्तियो की पुराण से अवतारणा कर भारतीय समाज को उसका मुख उसके ही दर्पण में दिखा दिया।

कुल मिलाकर कह सकते है कि आपके पौराणिक पात्र न केवल अपने युग का प्रत्युत वर्तमान युग और परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व करते है उनमे वर्तमान जीवन की अन्तरात्मा की पुकार है।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको मे देश के पतन की हृदय-विदारक कहानी के साथ-साथ उन उदात्त चरित्रो की उद्भावना भी हुई है जो देश की सकट-कालीन स्थिति मे हमारी सभ्यता, सस्कृति और मानवता के विकास तथा राष्ट्रीय गौरव के अमर सम्बल बने। अपने उद्देश्यानुकूल भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक नाटको के नायक धीरोदात्त ही रखे है। वास्तव मे भट्टजी के नाटको का निर्माण ऐसे वातावरण मे होता रहा है जब सामाजिक और राजनीतिक रूप मे भारतीय जनता विनाशक रूढियो और विदेशी शासन से सघर्ष करती रही है या फिर उसे साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रतिरोध करना पडा। ऐसे वातावरण मे आदर्श व्यक्ति की अवतारणा अपने आप ही हो जाती है। भट्टजी ने अपने पात्रो में जहाँ मानव-जीवन की साधारण और व्यापक भावनाओ का चित्रण किया है वहाँ असाधारण और व्यापक भावनाओ का यथार्थ चित्र भी अकित किया है। विक्रमादित्य, दाहर, अलाफी, सगर, सिद्धार्थ, गन्धर्वसेन, वरद आदि जहाँ असाधारण व्यक्तित्व लिये हुए है, वहाँ सोमेश्वर, कर्दम, हैजाज आदि में मानव-सुलभ दुर्बलताएँ दृष्टिगत होती है। उन्होने आदर्श के लिए पात्रो की ऐतिहासिकता विकृत नही की। इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर उन्होने पात्रों के व्यक्तित्व मे आदर्श की प्रतिष्ठा और उनका व्यापार-सामजस्य किया है, इसीसे उनके पात्र मानवीय गुणों से युक्त है। उनके

उदात्त पात्रो में सभी उच्च गुण पाए जाते है। जन्म-भूमि के प्रति श्रद्धा, वीरतापूर्ण अह, कुल का अभिमान, सामन्ती गर्व, बलिदान की भावना तथा निर्भयता एव क्षमा से वे सम्पन्न है। पुरुष पात्रो के समान स्त्रियाँ भी आदर्श गुणो से सम्पन्न है। वे वीरागनाएँ है और निर्भयता, आत्मत्याग, दूरदर्शिता, उदारता, सहिष्णुता, सेवा-परायणता, एक निष्ठता आदि गुणों से युक्त है।

'मुक्तिदूत' का नायक सिद्धार्थ मानवीय गुणो से सम्पन्न आदर्श व्यक्ति है। वह धीरप्रशान्त नायक है जो तत्कालीन संकट-सकुल परिस्थितियो मे आशा और मनोबल का सम्बल बनता है। नाटककार ने सिद्धार्थ को प्रारम्भ से ही विचार-प्रवण और गम्भीर चित्रित किया है। उनकी यह गम्भीरता क्षण-क्षण मे बढती जाती है। आखेट के आनन्द मे से दु:ख के तन्तुओ को उभारकर ध्यानस्थ होते है। साधुक द्वारा की गई मृगया से सिद्धार्थ का मन अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। घायल मृगशावक को देखकर कहते है—

"कितना निरीह पशु है देवदत्त ! तुमने बुरा किया देवदत्त (उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए) इसे थोड़ा जल दो...... ऐसे पशुओ को मारने मे कोई वीरता नही।"[१]

सिद्धार्थ सरल हृदय स्नेहमय और अनुकम्पाशील है, किन्तु इसके साथ-साथ वे अपने कर्त्तव्य के प्रति सदैव सतर्क रहते है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वस्व त्यागकर प्रस्थान करते है—"सिद्धार्थ—(धीरे से) सो रहे है पिता... जाना ही होगा। समुद्र से विशाल स्नेह को हमने नदी, नालो, सोतो, प्रपातो में बाँधकर छोटा कर दिया है; उसे फिर समुद्र बना देना होगा। विश्व की महान् कल्याण-भावना को असीम बनाना होगा।"[२]

और भी—"मुझे उनका दु:ख भी तो दूर करना है। मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, जाति-ऋण चुकाने का यही अवसर है। मुझे कोई शक्ति मेरे ध्येय से नही हटा सकती। मै जाऊँगा।"[३]

---

१. 'मुक्तिदूत', पृष्ठ ६

२. वही, पृष्ठ ६१

३. वही, पृष्ठ ५६

सिद्धार्थ के मन मे सदैव अन्तर्द्वन्द्व उठता रहता है। उनका चरित्र दार्शनिक विचारों से निरन्तर संघर्ष करता रहता है, उदाहरणतया "सिद्धार्थ······(उठते हुए) नही, चिन्ता मत करो सुकेशी। मैं यह सोचता हूँ कि जीवन के पीछे ऐसी कौन-सी शक्ति है जो मानव के प्राणो को चूसे जा रही है। कदाचित् जीवन का यह विलास स्थायी रह सके।"[1]

"सिद्धार्थ—परन्तु मनुष्य की आशा में निराशा, उद्योग मे असफलता, भाग्य मे विपरीतता यह सब क्यो मनुष्य के पीछे पडी है। यही तो सोचता हूँ। शास्त्र कहते है ईश्वर सब-कुछ करता है। वह ईश्वर कैसा है जो अपने बच्चो को दु:ख देता है। नही, वह ईश्वर नही है। कोई भी नही है। परन्तु क्या है?"[2]

नाटककार ने सिद्धार्थ को कोरा दार्शनिक ही चित्रित नही किया प्रत्युत उसकी यौवन-सुलभ भावनाओ तथा उसके अनुरूप व्यवहार की थोडी-सी झलक देकर उसके चरित्र को रूढिबद्ध होने से बचा लिया है जिससे उसके व्यक्तित्व मे निखार आ गया है। सिद्धार्थ गोपा के गीत पर मुग्ध होकर कहते है—"कितना सुन्दर गीत है तुम्हारा। बैठो, (स्वय बैठकर) कितना पवित्र हृदय है तुम्हारा। कितना अकलुष सौन्दर्य। सिद्धार्थ तुम्हे गृहस्थ धर्म के लिए पाकर धन्य हो गया गोपा।"[3] परन्तु वही सिद्धार्थ अन्त मे गौतम बुद्ध होकर गोपा को 'माँ' शब्द से सम्बोधित करते है। डा० सत्येन्द्र के शब्दो मे—"नाटककार ने अपनी कुशल लेखनी से आत्मकेन्द्रित सिद्धार्थ को असाधारण विशेषता से मण्डित दिखाया है कि उसका स्वरूप उसके आदर्श के समक्ष विद्रूप हो गया है······ कही वह विभेदो मे आस्था रखता है। भगवान् बुद्ध का चरित्र विभेद की पराकाष्ठा है। उसके समक्ष समस्त मानव स्वरूप हीन-क्षीण हो गया।"

सिद्धार्थ के चरित्र का सौन्दर्य इस कलात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया है कि सम्पूर्ण नाटक जैसे उससे प्रतिबिम्बित हो उठा हो।

---

१. 'मुक्तिदूत', पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ ३६
३. वही, पृष्ठ ३७

दूसरा प्रमुख पात्र शुद्धोधन है। उसके हृदय मे वात्सल्य का आधिपत्य है। उसके लिए अपना पुत्र ही सर्वस्व है। उसके मोह मे वह न्याय तथा नियम की भी उपेक्षा करने को उद्यत हो जाता है। अत राजपक्ष के स्थान पर शुद्धोदन का पितृ-पक्ष ही अधिक प्रबल है। वह कहता है—

'मेरी आँखो का प्रकाश, मेरे हृदय का बल, यह सिद्धार्थ है। मुझे उसके सामने न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान कुछ भी नही सूझता। मेरे जीवन का एकमात्र सूत्र यह युवराज है। (डर से आँखों मे विकृति आ जाती है) उस दिन का स्वप्न नही, नही कहूँगा।"[१]

सिद्धार्थ के गृहत्याग के पश्चात् तो पिता का पुत्रवात्सल्य, व्यथा, आशंका सभी कुछ उनके कथन मे साकार हो गए है—

"शुद्धोदन—मुझे कुछ भी नही सूझता। मैं अन्धा हो गया हूँ गौतमी। गोपा! (······गोपा धीरे-धीरे संज्ञा प्राप्त करके बालक की ओर देखती है और रोने लगती है) बस, अब ठीक है। ठीक है। आजीवन रोने के लिए इसका जीना आवश्यक है। रो, रो। तू भी रो, मै भी रोऊँ। ससार रोवे। आओ इतना रोवे कि राजकुमार तप करते हुए बहकर हमारे पास आ जावें।"[२]

तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र गोपा का है। यशोधरा मे हमें रूप, कोमलता, शील, सौन्दर्य एव गृहिणी आदि सभी का सम्मिलित रूप मिलता है। एक ओर तो वह मुस्कान मे डूबी एक निष्ठ, स्नेह-आप्लावित कुलवधू है और दूसरी ओर कर्तव्य-रत माता। सयोग में उसका रूप सौन्दर्यशील नारी का है और वियोग मे अश्रुव्रती कर्तव्यपरायणी विरहिणी माता का। उसके जीवन की एक-मात्र कामना है—"इस जीवन की एक साध है—उनका दर्शन। वे मेरे हृदय की प्रतिमा हैं। मेरे आँसुओं के दृढ विश्वास है सुकेशी, वे महान् मैं तुच्छ हूँ। वे प्रभु है मैं सेविका······।"[३]

---

१. 'मुक्तिदूत', पृष्ठ ४२
२. वही, पृष्ठ ६७
३. वही, पृष्ठ, ८०

इन अल्प शब्दो मे ही गोपा का नारीत्व चमक उठा है। गोपा एक आदर्श पत्नी है।

'शक-विजय' मे गन्धर्वसेन, कालकाचार्य, वरद् सरस्वती तथा मखलि पुत्र का चरित्र-चित्रण भट्टजी ने अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से किया है। कालकाचार्य और गन्धर्वसेन के चरित्रो के अतिरिक्त प्राय: सभी पात्र आरम्भ से अन्त तक एक ही बने रहते है।

गन्धर्वसेन में वे सभी गुण विद्यमान है जो एक धीरोदात्त राजा के लिए अपेक्षित है। वह सच्चरित्र अवश्य है किन्तु वह प्रजा का विश्वास प्राप्त न कर सका इसीलिए उसे विद्रोह का शिकार बनना पडा। उसकी थोडी अहम्मन्यता उसके दु:खान्त का कारण बनी, परन्तु नाटककार ने उसे चरित्रहीन नही दिखाया। स्वय सरस्वती भी उसकी सच्चरित्रता को प्रमाणित करती है। जैन ग्रथो मे उसे गन्धर्वसेन नाम से सम्बोधित किया गया है। स्पष्टत: कालकाचार्य के प्रतिद्वन्द्वी होने के नाते वह वैसा ही चित्रित किया जाता। किंतु भट्टजी ने दोनों को निष्पक्ष दृष्टि से ही देखा है और मानवोचित स्तर पर उनके गुणावगुण की परीक्षा की है। यह लेखक की पात्रो के प्रति उदार दृष्टि और मानव मन के अर्न्तभावो को पढनेवाली उदारता व्यजकता का रूप ही माना जाएगा।

इस नाटक मे कालकाचार्य का चरित्र भी नाटककार ने सुन्दर चित्रित किया है। आचार्य कालक नैमित्त ज्ञानी होते हुए भी राग-द्वेष से ऊँचे न उठ सके पर यह सब उनकी भगिनी के प्रति अटूट श्रद्धा के कारण ही हुआ। अपनी बहन के प्रति किये गए अत्याचार से पीडित महात्मा की अन्तर्दशा का मर्मान्तक रूप हमे आचार्य कालक मे देखने को मिलता है—

"जो हो गया हो जाने दूँ। अपने तप में विघ्न पडने दूँ। (कुछ देर चुप रहकर) नहीं—मै दण्ड दूँगा, राजा को दण्ड दूँगा, सारे प्रान्त को दण्ड दूँगा। भगिनी का अपमान मेरा अपमान है। भगवान् महावीर का, सम्पूर्ण जैन धर्म का अपमान है। इस अत्याचार का बदला लेना ही होगा। मुझे चाणक्य बनना होगा (फिर कुछ चुप रहकर) नहीं, यह मेरा मार्ग नहीं है। वीतराग का, निस्पृह का, मार्ग नही है।······मै राजा का बिगाड भी क्या सकता हूँ। क्यों,

क्यों, मैं क्षत्रिय नहीं हूँ ?······मैं दण्ड दूँगा। मैं अन्य राजाओं की सहायता लेकर अवन्ती-नरेश को भस्म कर दूँगा।"[१]

लेखक ने पात्रों के माध्यम से भावद्वन्द्व तथा मानस संघर्ष को बड़ी सजीवता से अंकित किया है। कालकाचार्य का मन भी अन्तर्द्वन्द्व से शून्य नहीं है, यद्यपि वह अपनी बहन के अपमान से उत्तेजित है फिर भी देश के प्रति उदासीन नहीं। आचार्य कालक की भाव-धारा इस प्रकार चलती है—

"ठहरो, ठहरो, यह मैंने क्या किया। मैं एक व्यक्ति के पीछे सारे देश को विदेशी जाति के पैरों के नीचे रौंदना चाहता हूँ। नहीं, यह नहीं होगा—इससे पूर्व कि प्रातःकाल साहि दल-बल के साथ आर्यावर्त की ओर प्रस्थान करे मुझे यहाँ से भाग जाना होगा। मैं नहीं होने दूँगा (फिर सोचकर) है, यह मैं क्या सोच रहा हूँ ? जिस कार्य-सिद्धि के लिए मैंने वर्षों धूल छानी, तप, सिद्धि, कर्तव्य को तिलांजलि दी उसी को समय आने पर यों छोड़ दूँ। मूर्खता है। इसी प्रकार बहुत-सों के हृदय में सद्बुद्धि के अंकुरित भाव दब जाते हैं।"[२]

भट्टजी के आदर्श-विरोधी पात्र परिस्थितियों की प्रेरणा से आरम्भ में आदर्श-विरोधी मार्ग ग्रहण करते हैं परन्तु घटनाओं के घात-प्रतिघात से एवं आदर्श पात्रों के सम्पर्क से अन्त में वे आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करते हैं। कालकाचार्य अवन्ती का विनाश शकों द्वारा करा देते हैं। गन्धर्वसेन मारा जाता है। सरस्वती नर-संहार को देखकर आत्मघात कर लेती है। शकराज नहपान सरस्वती को अपने विलास-भवन में लाना चाहता है। जनता शक के अत्याचार से त्राहि-त्राहि पुकार उठती है। तब उस नैमित्त ज्ञानी की आँख खुलती है और वह पछताता है—

"मैंने कितना बड़ा पाप किया। धर्म के नाम पर देश को नरक बना दिया। मैं विभीषण बन गया। मैं पापी हूँ—पापी। मैंने पाप किया है।"[३]

---

१. 'शक-विजय', पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ८०
३, वही, पृष्ठ १०४

अन्त मे आचार्य कालक भी आत्मघात कर लेते है। उनमे भूल स्वीकार करने की महानता थी।

शक-विजय की सरस्वती और सौम्या भी नारी के भव्य, कोमल और सुन्दर रूप हे। सरस्वती का सौन्दर्य अवन्ती के जीवन मे एक हलचल है, राजनीति मे बवण्डर है। वह शक-आक्रमण का प्रमुख कारण है, उसका हृदय इतना कोमल व सहृदय है कि मृगो के पारस्परिक प्रेम पर भी वह मुग्ध हो जाती है। वह एक साधिका के रूप मे हमारे सामने आती है, कोई कुलवधू या प्रेयसी के रूप मे नही। यद्यपि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग है फिर भी उसमे स्वाभाविक नारीत्व विद्यमान है—"क्या यह मिथ्या प्रवाद है कि महाराज कामुक है ? (सोचकर) भ्रम है, मेरा भ्रम है। मुझे दो मे से एक मार्ग तय करना होगा''''''। ओह उस दिन दूर से देखा था। महाराज की आँखो से कितना मधु झलकता था !"[1]

सरस्वती का चरित्र इतना गम्भीर और आदर्श है कि प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला हृदय मे भभकने के उपरान्त भी वह निजी स्वार्थ को प्राथमिकता न देकर देश को ही सर्वोपरि मानती है—"मुझे ज्ञात नही था कि इतना रक्तपात केवल मेरे लिए होगा, इतना नर-सहार केवल मेरे लिए होगा। एक विदेशी शक्ति को आचार्य लेकर आएँगे। आज हमारा अहिंसा धर्म कहाँ गया ? भगवान् ज्ञातृपुत्र मुझे सहनशक्ति दो। आचार्य तुम तो परम जैन थे। क्या तुम्हे यह अधर्म दिखाई नही पड़ा ?"[2]

उसके मन मे यह निश्चय हो जाता है कि आचार्य ठीक मार्ग पर नहीं है, किन्तु राजा को आचार्य के षड्यन्त्र की किस प्रकार सूचना दे; इसमे नारी-धर्म आकर बाधक होता है। मन मे अन्तर्द्वन्द्व उठता है—"मै महाराज से मिलना चाहती हूँ। क्या पत्र लिखूं ? पत्र, यह मुझसे नही हो सकेगा, परपुरुष को''' अरे ! यह पर-अपर का भाव कैसा ? मै तो साध्वी हूँ न। मै पत्र लिखूंगी। मैं

१. 'शक-विजय,' पृ० ८३
२. वही, पृ० ८६

उनसे मिल ही क्यो न लूं ? एक बार देखूं महाराज को······। नहीं, नहीं···
·······।"[1]

नाटक के अन्त मे शकों के अत्याचारों से पीडित होकर, हीरा चाटकर अपना प्राणान्त कर लिया। शक-विजय की सरस्वती मे हमे शील, शक्ति, सौन्दर्य, त्याग, वीरता आदि का सशक्त रूप मिलता है।

'विक्रमादित्य' नाटक का नायक वीर, निर्भय, क्षमाशील, दयालु, परोपकारी, आत्मश्लाघाहीन, विचारशील एवं सुन्दर युवक है। उसमें गम्भीरता, दूरदर्शिता, सहिष्णुता, धैर्य, त्याग, उदारता आदि गुण है। वह नृसिह की सहायता के लिए अकेला ही चल देता है। इतना सब कुछ होते हुए भी विक्रमादित्य स्वभाव से दार्शनिक है तथा राज्य करते हुए भी उसके प्रति उदासीन है—"रात-दिन की चरखी पर ओटी जाने वाली जीवन की कला-रूपी रुई क्षण-क्षण घटती है। बाल्यावस्था और यौवन के अशांकुर से हम नाश में सुख का अनुभव करते हैं।······जीवन क्या है, गाढान्धकार मे क्षणिक प्रकाश। जिसके दोनो ओर उत्पत्ति और नाश के दो किनारे है। उत्पति से पूर्व और विनाश के बाद इस आत्मा की क्या परिभाषा है यह कौन जाने !"[2]

परन्तु उत्कट काम-वासना के सदृश राज्य-लिप्सा को धिक्कारनेवाला विक्रम कर्त्तव्य के प्रति भी जागरूक है—"कर्त्तव्य-पालन के लिए हमें उस विद्रोह को दबाना ही होगा।"[3]

विक्रमादित्य क्षमाशील, राज्य से उदासीन और ऐश्वर्य से विमुख होने पर भी अपने भाई सोमेश्वर के व्यवहार को देखकर आत्मग्लानि से भर जाता है—"सोमेश्वर भाई, तुमने भाई के नाते पर कुठाराघात करके दुष्ट चेंगी का साथ दिया। भाई का भाई से भयंकर युद्ध, भ्रातृ-विद्रोह, क्या इस विद्रोह-वह्नि मे मैं स्वयं नहीं जल रहा हूँ······भाग्य ने मुझे बचा क्यों लिया ? वहीं

१. 'शक-विजय', पृ० ८७
२. 'विक्रमादित्य', पृष्ठ १२
३. वही, पृ० ७

शत्रुओ के षड्यन्त्र में मैं पिस क्यों न गया ।"[1]

इन शब्दो से विक्रमादित्य के मन मे उठनेवाले संघर्ष का अच्छा आभास मिलता है ।

प्रतिनायक के रूप में सोमेश्वर के चरित्र-विश्लेपण मे भी नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली है । भट्टजी के कुछ पात्र आदर्श-विरोधी हैं जो आरम्भ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते हुए पाप और कलक की कलुषित छाया मे अपनी लीला समाप्त करते है । सोमेश्वर इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है । वह आरम्भ से अन्त तक हिंसा, छल, कपट, प्रताड़ना, प्रवचना, क्रूरता और पाखण्ड का निरन्तर आचरण करते हुए अपने जीवन का अन्त करता है । विक्रमादित्य का उत्कर्ष-दिखाने के लिए ही सोमेश्वर की अवतारणा की गई है। वह भ्रातृ-विद्रोह की अग्नि मे निरन्तर जल रहा है—

"मेरी प्रतिहिंसा की अग्नि मे जब तक उसका विजय और यशोर्जन-रूप अमृत भस्म नही हो जाता तब तक हृदय मे शान्ति की रागिणी अपना गायन न सुना सकेगी ।"[2]

इस प्रकार सोमेश्वर निर्दय, कठोर, निर्भय प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे आता है । भाई के रक्त-पिपासु, प्रतिशोध की अग्नि मे झुलसते हुए सोमेश्वर के हृदय को सफलता के साथ अंकित किया गया है ।

इस नाटक की नारी-पात्र चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा प्रियतम की रक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र मे अपना बलिदान देनेवाली आदर्श नारियाँ है । चन्द्रलेखा का चरित्र भक्ति, प्रेम, भावुकता, कोमलता का प्रतीक है । उसके हृदय में नारी-सुलभ कोमल भाव अँगड़ाइयाँ लेते है—

"सखी अनंग, मेरी अभिलाषाओं के समुद्र में प्रियतम की देदीप्यमान प्रतिमा किस उमग, किस प्रवाह से तैर रही है, यह मैं तुझे क्या बताऊँ ।"[3]

---

१. 'विक्रमादित्य', पृ० ७२

२. वही, पृ० ८-९

३. वही, पृ० २३

परन्तु वही कोमलहृदय चन्द्रलेखा अपने स्वामी की रक्षा के लिए राज-नैतिक षड्यन्त्रो मे कूद पड़ती है। चन्द्रलेखा और उसकी सखी अनगमुद्रा दोनों पुरुष वेष मे विक्रमादित्य को सोमेश्वर के षड्यन्त्रों से बचाती है। वह निश्चय करती है कि—

"मेरा इस समय यही कर्त्तव्य है कि किसी प्रकार इन दुष्ट राजाओ की अभिसन्धि को जानकर महाराज की सहायता करूँ।"[1] और वह षड्यन्त्र मे फँसे महाराज विक्रमादित्य की सोमेश्वर और चेंगी से रक्षा करते हुए—"हा महाराज ! हे जीवननाथ !" कहती हुई अपने प्राण त्याग देती है। अनगमुद्रा भी चन्द्रलेखा का दूसरा रूप है। स्वय विक्रमादित्य के शब्दो मे—"क्या मै चन्द्रलेखा के समान सुखी हो सकता हूँ.........जिसने अपनी बलि से, निर्लेप होकर, निःसंग होकर कर्त्तव्य-पालन का ज्ञान दिया। हा देवी तू धन्य है।... और अनगमुद्रा का उदाहरण और भी उज्ज्वल है।... "उसने सासारिक धन के बदले स्वर्ग का धन देखा। जगत् के काम चलाने के लिए दो भुजाओं के समान, 'सत्य'-'शिव' की सुन्दर भावना के समान, द्वन्द्वमय संसार की दो आँखे, स्वच्छ आकाश मे शुक्र नक्षत्र और चन्द्रमा के पीछे रहनेवाले तारे के समान चन्द्रलेखा और अनगमुद्रा जीवन की दोनों दिशाओ में आदि से अन्त तक विराट रूप मे प्रकाशित रहेगी।"[2]

संक्षेप मे चन्द्रलेखा और अनगमुद्रा देश-प्रेम और स्वाभिमान तथा स्वामि-भक्ति से परिपूर्ण भारतीय आदर्श वीरागनाएँ हैं। वे आदर्श क्षत्राणी है तथा नारीत्व की आदर्श भावनाओ से पूर्ण साहस और वीरता की मूर्ति है। उनका हृदय करुणा, क्षमा, दया, त्याग, उदारता आदि गुणो से पूर्ण है।

'**दाहर अथवा सिन्ध-पतन**' में दाहर, जयशाह, अब्दुल बिन कासिम, सूर्य और परमाल आदि अनेक पात्र है। दाहर नाटक का नायक है जो धीरोदात्त गुणों—नीति, धर्म, मानवता, दया, उदारता, धैर्य, त्याग आदि—से युक्त है।

---

१. 'विक्रमादित्य', पृ० ३१

२. वही, पृष्ठ ८८-८९

वह अपने राज्य मे ऊँच-नीच का भेद मिटाने का प्रयास कर एक क्रान्तिकारी के सदृश काम करता है। वह युद्ध से घबराता नही अपितु निर्भयता पूर्वकयुद्ध करने के लिए सदैव तत्पर रहता हे—

"दाहर—आर्य लोग युद्ध से कभी नही डरते। युद्ध तो उनकी घुटी का रस है, जो कडवा होते हुए भी अन्त मे लाभदायक है। एक नही हजार बार अरबी लोग आएँ, दाहर युद्ध से मुँह न मोडेगा।"[1]

क्षत्रियत्व के साथ-साथ शूरवीरता और निर्भयता उसके शब्दो मे से झाँक रही है। दाहर मे विपत्ति मे धैर्य, ऐश्वर्य के क्षणों मे क्षमाशीलता, शस्त्र-सचालन मे पूर्ण कुशलता आदि गुण विद्यमान है। वीर होते हुए भी वह शरणागतवत्सल है, अरबी अलाफी का अपराध सिद्ध किये जाने पर भी शरणागत होने के कारण दाहर ने उसे अभयदान दिया—"दाहर—यदि तुम इस पत्र के द्वारा अपनी अपराध-क्षमा की सूचना पाकर अरब जाना चाहो तो प्रसन्नतापूर्वक जा सकते हो। आर्यों के शास्त्र मे शरणागत के लिए सर्वथा अभयदान लिखा है।" दाहर को अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। वह अकेला ही विदेशी आक्रमण से लोहा लेने की शक्ति रखता है तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हे—"इतना काड हो गया, (क्रोध से) जा, मै स्वय युद्ध के लिए प्रस्थान करूँगा। आज क्षत्रियत्व के विकास द्वारा, धनुर्दण्ड की टकार द्वारा, पराक्रम के प्रकाण्ड ताण्डव द्वारा अरबियो को नये शासन, नये विधान और नई युद्धकला का पाठ पढाऊँगा। कृतघ्नता के क्रूर अग्निकुण्ड मे नररक्त-रजित विभीषणो की आहुति दूँगा अथवा स्वयं मृतप्राय मातृभूमि के वक्षस्थल पर गिरकर स्वर्ग-लाभ करूँगा।"[2]

देशरक्षा के लिए वह अन्तिम क्षण तक लडता है। वीर योद्धा होते हुए भी वह कभी-कभी दार्शनिक हो जाता है—

"कही सत्य के समान स्पष्ट, कहीं असत्य रूप में अस्थिर, कही कोमलागिनी वीरांगना के समान छलमयी, समय के उलट-फेर मे, हिंसा की उग्रता मे,

---

१ 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृष्ठ ९

२. वही, पृष्ठ ८४

दयालुता के आँचल में, स्वार्थ की गोद में, उदारता की ओट में, धन-रत्न के प्रलोभन में, राजनीति सदा अपनी साधना में जुटी रहती है..........राज्य-शासन भी कितना भयंकर है।"[1]

जयशाह देशभक्ति, शूरवीरता और निर्भयता का प्रतीक है, वह राज-नीतिज्ञ, वीर और महत्त्वाकांक्षी है—

"जयशाह—मानू, जिस प्रकार डाकू जीवन में तुमने नृशंसता, निर्दयता, क्रूरता, कठोरता के नियमों की, जो डाकू जीवन के अंग है, रक्षा की है, आज उसी दस्युता-शौर्य के सहारे, रुधिर-सनी पुष्करणी के सरोज बनकर अपनी वीरता और शौर्य के मकरन्द से समस्त सिन्ध रूप भ्रमर को चंचल कर दो मानू।"[2]

वह नीति-धर्म और मानवता के साथ-साथ दूरदर्शी है। अपने पौरुष पर उसे दृढ विश्वास है तथा देशवासियों के प्रति अनन्य प्रेम। उसे पूर्ण विश्वास है कि युद्ध में सिन्धवासी उसकी अवश्य रक्षा करेंगे। वह कहता है—

"हे वीर लोगो, मुझे विश्वास है कि सिन्ध के एक-एक कण से एक-एक वीर उठकर अपने जयनाद से सम्पूर्ण शत्रु-मण्डल को कँपा देगा।"[3]

दूरदर्शिता—"पृथ्वीनाथ ! सन्देह। मैं जानता हूँ उस दिन इतनी प्रतिज्ञा करने पर भी अलाफी अवसर पर हमारा साथ न देगा। कहीं उसके कारण हमें पराजय का मुख न देखना पड़े।"[4]

और अन्त में अलाफी के विश्वासघात के कारण ही सिन्ध को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। जयशाह योग्य पिता का योग्य पुत्र, शस्त्र-संचालन में कुशल वीर सैनिक और युवराज है। उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक अंग से क्षत्रियत्व टपकता है।

मानू जयशाह का ही दूसरा रूप है। वह अपने को पूर्णतः स्वतन्त्र समझता

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ९
२. वही, पृ० ७९
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० ७२

है। वह कहता है—"मानू आज से किसी को अपना सरदार नही मान सकता।" निडरता तो मानो उसमे कूट-कूटकर भरी हुई है। वह राजा के सम्मुख बिना किसी हिचकिचाहट के ही राजा और दस्यु की स्थिति मे अन्तर बताता है—

"मानू—अत्याचार के ऊँचे पर्वत शिखर पर सोने का सिंहासन सजाए राजा बैठता है और खून की कीचड़ मे सूखी हुई सिल पर डाकू।"[1]

वह देशभक्त, निष्कपट, स्वार्थरहित और भविष्य का ज्ञाता है। वह ज्ञान बुद्ध के गुप्तचर राज्य-ज्योतिषी के विषय मे सन्देह करता है जोकि पूर्णतः सत्य है—"पर कही राज-ज्योतिषी उसका ही गुप्तचर न हो।"[2] वह एक कुशल सेनापति है। अपने कर्त्तव्य पर सदैव आरूढ रहता है। उसे अपने पौरुष पर दृढ़ विश्वास है—

"मानू—युवराज निश्चित रहिए। मेरे रहते शत्रु के जीवन की झाँई सिन्ध पर न पडने पावेगी। जन्तु जगत् मे जिस प्रकार से शेर का पजा, जिराफ का खुर और ह्वेल की दुम है, इसी प्रकार इन तीन भयकर अगो के समान, जो प्रकृति ने अपनी उग्रता से सृजन किए हैं, मै भी मनुष्य सृष्टि की उग्रता को लेकर विजय की खोज करूँगा।"[3]

इस प्रकार कर्त्तव्य के द्वन्द्व में उसका चरित्र निखर उठता है। देश की रक्षा के लिए वह अन्तिम क्षण तक लड़ता रहता है।

दाहर अथवा सिन्ध-पतन मे कासिम के हृदय और मस्तिष्क का चित्रण भट्टजी ने अत्यन्त कुशलता के साथ अंकित किया है। वह देश-सेवक, धैर्य, त्याग और वीरता आदि गुणो से युक्त कुशल सेनापति है। इसके साथ नारी के प्रति सहज आकर्षण भी उसकी अपनी विशेषता है। सूर्य और परमाल के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर कहता है—

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृष्ठ ८

२. वही, पृष्ठ ७९

३. वही, पृष्ठ ८०

"गजब की सुन्दरता है। अगर सूरज सूरज है तो परमाल चाँद······आ. कहीं ये··· · नहीं, यह खलीफा का उपहार है। लेकिन यह क्या ? मेरे इस सुनसान डेरे मे फिर हँसी की आवाज कहाँ से आ रही है ? कौन हँस रहा है ? (तलवार उठाकर) कौन है—तो यह दाहर की हँसी है—(घबराकर) यह क्या ! चारो ओर दाहर ही दाहर दिखाई दे रहे है।"[1]

कासिम मे स्वामिभक्ति कूट-कूटकर भरी है—स्वामी की आज्ञा को सुनते ही तुरन्त दण्ड स्वीकार कर लेता है। देश के सम्मुख, राजाज्ञा के सामने वह अपने को तुच्छ समझता है। खलीफा के नौकर के शब्दो मे उसकी स्वामिभक्ति—

"नौकर—उन्होने पढते ही सिर झुका लिया······तब सेनापति ने थोड़ी देर मे सब प्रबन्ध कर मुझसे कहा—खाल लाकर मेरा शरीर उसमें भर दो। शायद मैंने कोई भारी अपराध किया है। इस तरह बिना रुकावट सबके देखते-देखते उनको उस चमड़े की खाल मे भर उसका मुँह सी दिया।"[2] यह है धर्मान्ध व्यक्ति का चरित्र।

इस प्रकार दाहर अथवा सिन्ध-पतन के सभी पुरुष पात्रो के चरित्रों मे सजीवता एव विशिष्ट व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

दाहर की दोनो कन्याएँ सूर्य और परमाल शक्तिमती, प्राणवान नारी के उज्ज्वल रूप मे हमारे सामने आती है। शिकार करते हुए हैजाज के दूत को बन्दी बनाकर दाहर के दरबार में लाती है। प्रथम परिचय में ही इनका नारीत्व हमारे सामने आता है। वे सिन्ध की रक्षा के लिए अलख जगाती है, सेनाएँ जुटाती है और देशवासियो को देश की रक्षा के लिए तैयार करती है। निम्न जाति को सम्मान देने के कारण युद्ध की हिचकिचाहट देखकर वीरो के हृदय मे स्फूर्ति भरनेवाली सूर्य की वाणी में उसका व्यक्तित्व साकार हो उठा है—

---

१. 'दाहर अथवा सिंध-पतन', पृ० ६६

२. वही, पृ० १०७

"सूर्य—देश पर विपत्ति आई है। एक विदेशी तुम पर आक्रमण करने आ रहा है। जिसके वृक्षों की छाया मे तुमने विश्राम किया है, जिस देश का तुमने अन्न खाया है, जिस माता की गोद मे तुम इतने बडे हुए हो, क्या उसके लिए जान लडा देना तुम्हारा कर्त्तव्य नही ? ...तुम लोग यदि मरने के लिए तैयार हो तो अभी आलोर जाकर महाराज की सेना मे भर्ती हो जाओ।"[1]

सूर्य तलवार से अधिक तीखी, बिजली से अधिक ज्योतित आँखोवाली, विनाश मे खेलनेवाली और देश पर मर मिटनेवाली वीर क्षत्राणी है। कासिम के शब्दो मे सूर्य का चरित्र इस प्रकार है—

"ओः वही तेज औरत है, अब भी आँखो मे खूंखारी, सख्ती टपकती है। भला इसकी लडाई क्या भूलने की बात है। अरुण की लडाई मे इसने मेरे तो होश बिगाड दिए। अकेली औरत ने तमाम फौज मे तहलका मचा दिया। या खुदा ! ये हिन्दू औरतें भी गजब की होती हैं।"[2]

सूर्य वीरांगना, विचारो की दृढ, कूटनीतिज्ञ और प्रतिशोध की ज्वाला से पूर्ण है। वह कहती है—

"प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा, तेरी आग संसार मे सबसे भयकर है......आज मेरे हृदय मे वही आग लगी है......यह उसी समय शान्त होगी जब अपना भोजन कर लेगी, अपनी बलि ले लेगी।......अब मै उसकी भस्म चाहती हूँ......।"[3]

आत्मसन्तोष उसका सर्वश्रेष्ठ गुण है। खलीफा द्वारा कासिम के खाल मे सिलवा दिए जाने पर वह सन्तोष की साँस लेती है और खलीफा से कहती है कि—

"खलीफा याद रख, मैने वही किया जो एक शत्रु दूसरे शत्रु से करता है...तू क्या मारेगा......मृत्यु हमारे लिए खेल है। प्रतिहिंसा पूर्ण हुई। इस बीभत्स

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ८१
२. वही, पृ० ९६
३. वही, पृ० १०३

काण्ड में, स्वर्ण अक्षरो में सिन्ध का बदला लिखा रहेगा। खलीफा वह देख उड रहा है (मर जाती है)"[1] और एक-दूसरे को मारकर मर जाती है।

परमाल का चरित्र सूर्य के प्रतिकूल है। वह देशप्रेम, भावुकता और कोमलता का प्रतीक है। वह सरलचित्त नारी है। उसके चरित्र का विकास स्वाभाविक है—"परमाल—क्या विश्व-प्रेम और करुणा दोनो भावनाएँ जीवन की सुन्दर वस्तु नही है ?"[2] परमाल का नारीत्व सुकुमारता और प्रेम का उपासक है किन्तु यह सूर्य के शब्दो से दूर हो जाता है। सूर्य कहती है—

"आँधी और तूफान मे कोमलता की भावना, प्रचण्ड अग्नि में सन्तोष की कामना और सर्वांग-व्यापी विनाशक विष की प्रबलता मे क्या हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से काम चल जाता है?······आज जब शत्रु साठ हजार सेना लेकर सिन्ध पर आक्रमण किया चाहता है, घमासान युद्ध होगा, खून-खच्चर हो जाएगा, उस समय पुरुषो के साथ स्त्रियो का क्या कर्त्तव्य है, यही आज हमे सिन्ध की नारियो को सिखाना है।"[3]

परमाल सूर्य के इस वक्तव्य से एकदम परिवर्तित हो जाती है। उसका क्षत्रियत्व जाग उठता है। वह देश की रक्षा के लिए अपना बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाती है। परन्तु वह असाधारण विचारशील और दार्शनिक प्रकृति की नारी है। सूर्य के कहने पर कि "परमाल मरने को तैयार हो जाओ" वह तैयार हो जाती है पर उसके मन मे दार्शनिकता विद्यमान है। वह सोचती है—

"मृत्यु जीवन की सहचरी, श्वासो की क्रान्ति, उत्थान-रूपी मन्दिर की पिछली दीवार है। मैने उसे फूलो से हँसकर उनका रस चूसते देखा है, पत्तों का चुम्बन करके उन्हे पीला बनाते देखा है, मेघों का सार खीचकर उन्हें निर्जल

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० १०७
२. वही, पृ० ५६
३. वही, पृ० ५७

बनाते देखा है ।""""जीवन की प्रतिच्छाया मे सरल परिहास मे मैने मृत्यु का नाद, मधुर आलाप सुना है, रोज यही देखती हूँ। बहन यह क्या कोई भूलने की चीज है ? पिता की मृत्यु, सेना की मृत्यु, सामन्तो की मृत्यु, माता की मृत्यु, मृत्यु ही तो मेरा विशाल गृह है। चलो, मै तैयार हूँ।"[1]

इस प्रकार दाहर अथवा सिन्ध-पतन नाटक की नारी पात्र देश पर मर मिटनेवाली वीरागनाएँ है। पुरुष की अपेक्षा नारी के चरित्र का विकास भट्टजी के नाटको मे दृष्टिगत होता है। नारी-पात्रो मे अम्बा, बर्हि, विशालाक्षी, गोपा, चन्द्रलेखा, सूर्य और परमाल अपने-अपने रूप मे अत्यन्त प्राणवान चरित्र है। भट्टजी के नाटको की नारियाँ एक ओर तो वीर है दूसरी ओर शीलवती, सुकुमार पत्नी एव प्रेमिका है और तीसरी दिशा है प्रतिशोध।

भट्टजी के ऐतिहासिक और पौराणिक पात्र प्राय. परिस्थितियो से विक्षुब्ध ऐसे व्यक्ति है जो जीवन के घात-प्रतिघात और विषमताओ का नैतिक समाधान लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित हुए है।

भट्टजी के सामाजिक नाटको के पात्र समाज, जगत् की गहराई मे प्रविष्ट होते है। पात्रो की गहराई जीवन की सवेदना से उत्पन्न होकर वातावरण की गहनता मे वृद्धि करती है। उनके सामाजिक पात्र अपनी समस्याएँ अपने भीतर से लेकर चलते है जिनमे भट्टजी की दृष्टि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक रहती है। सामाजिक पात्र तर्क की प्रधानता के कारण परिस्थिति को कुशलता से निर्मित करते चलते है।

'कमला' भट्टजी का उत्कृष्ट सामाजिक नाटक है। उसका नायक देवनारायण सामन्त-युगीन नारी-विषयक मनोवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। देवनारायण नारी को जीवन के सामान्य उपकरण से अधिक महत्त्व नही देता। उदाहरणतया—

"जमीदार मनुष्य है, स्त्री विलास की सामग्री। वह पुरुष के—यदि वह

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० १०३-४

धनी है तो—उपभोग की वस्तु है।"[1]

"आज इस युग मे औरत नकेल डालकर रखने की चीज होती जा रही है।"[2]

भट्टजी ने देवनारायण का चरित्र अत्यन्त स्वाभाविकता और कौशल के साथ अंकित किया है—

"देवनारायण—लोगो ने समझ रखा है जितना दुहा जाए दुहो इन जमीदारों को। जब देखा तब चन्दा। चन्दा न हुआ एक आफत हो गई······ जमीदारो के नाश करने की भी ये सोचे और उनसे ही चन्दा लें······रामलाल, रामलाल। मूर्ख, आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने को समझे······ रामलाल हमारा मानसिक स्वास्थ्य कितना गिर गया है (शीशे मे अपना चेहरा देखकर और मूँछो पर ताव देकर जरा अकड से) लोकनाथ कितना मूर्ख है। कहता है दूसरी शादी करके पछता रहा हूँ, बीवी के मारे तग हूँ। शक्ति चाहिए······भारतीयो का स्वास्थ्य बिल्कुल बिगड़ चुका है। अरे कहाँ मर गया था? मुशीजी नही आए।"[3]

देवनारायण के एक ही संवाद मे उसका जमीदार जीवन, अभिमान, दूसरा विवाह और उसके उपचेतन मन मे काम करनेवाला अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के प्रति अविश्वास स्पष्ट हो जाता है। वह अपनी वृद्धता को छिपाने के लिए कमला के चरित्र पर शका करता है। उसकी शंका धीरे-धीरे विश्वास मे परिवर्तित हो जाती है और अन्त मे पत्नी को घर से निकाल देता है—

"राक्षसी, डायन, चुडैल, चली जा यहाँ से! मै तेरा मुँह देखना नहीं चाहता। यह तेरा लडका है और तू छिपाती है। कुलटा! निकल मेरे घर से······स्त्री, तुम्हारे इस सौन्दर्य मे इतना विष है यह मैं नही जानता था। तुम्हारी मुस्कान मे इतना पाप है, यह मैने आज जाना। जाओ, जाओ! हा!

---

१. 'कमला', पृ० ३

२. वही, पृ० ३

३. वही, पृ० २

इस जमीदार के कुल पर इतना कलक !"[1]

किन्तु जब उसे वास्तविकता का पता चलता है तो अपने किये पर पश्चात्ताप करता हुआ देवनारायण कहता है—

"आग, चारो तरफ आग, पाप जीवन की सांसो मे इतना गहरा छिपा है जाना न था। हाय······(जमीदार मर जाता है)।"[2]

नाटक की प्रमुख पात्र कमला आधुनिक युग की नारी होते हुए भी सुशिक्षित, सरल व सहृदय है। इसके साथ दृढता और भोलापन भी उसके आभूषण है। वह उठते हुए यौवन के समान मादक और तराजू के पलडों की तरह डगमगाती हुई भी स्थिर है। पर्वत की तरह कडी और रबड के समान खिचाव लिये हुए है। उसके जीवन मे अचानक कुछ भी नही होता, सभी कुछ क्रम-क्रम से होता है। वह समाज-सेवा करना अपना परम धर्म समझती है। शशिकुमार नामक अनाथ शिशु की देख-भाल स्वय करती है। उसमे माँ का ममत्व अपार सीमा मे व्याप्त है। वह अनाथालय के स्वामी से कहती है —

"तुम इसे नही ले जा सकते। जाओ, खबरदार जो हाथ बढाया·········नही, यह लडका मेरे पास ही रहेगा। मै इन राक्षसो के हाथो मे इसे नही पडने दूँगी।"[3]

अपने पति से तिरस्कृत किये जाने पर वह आत्मवेदना से विह्वल हो जाती है और इन सबसे छुटकारा पाने के लिए आत्मघात कर लेती है।

कमला नाटक का अन्य पात्र 'विश्वनारायण' अपने प्रण का पक्का, धन की उपेक्षा करनेवाला एव सहानुभूति से परिपूर्ण है। वह भावुक होते हुए भी अपने कर्त्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहनेवाला व्यक्ति है। 'उमा' का जीवन गतिमय प्रवाह के सदृश है। उसमे एक ओर प्रेम की अदम्य लालसा है, सरल व भावुकता से पूर्ण हृदय है तो दूसरी ओर समाज के प्रति आक्रोश आदि भी

---

१. 'कमला', पृ० ५०-५१
२. वही, पृ० ८३-८४
३. वही, पृ० ६५

है। 'माधवी' चीनी से युक्त होने पर भी कड़वी कुनैन के समान है। वह अपने मन की बात किसी को नही बताती। शासन की प्रतिमूर्ति एवं अपना मार्ग स्वय ही बनाती है। जिस भाँति दीपक की शिखा के किनारो पर जलन फैली रहती है उसी प्रकार माधवी के हृदय में ईर्ष्या-द्वेष का धुआँ और विष सदैव उफनता रहता है।

भट्टजी के अन्य सामाजिक नाटक 'पार्वती' में पार्वती, परमानन्द, गुलाब और महरी आदि प्रमुख पात्र है। पार्वती और परमानन्द का चरित्र उद्देश्य की छाया से अभिभूत है। परमानन्द निर्धन परिवार का सदस्य है, जो मातृभूमि के सुदृढ सस्कारो के अतिरिक्त सत्यनिष्ठ और सरल है। आधुनिक टीपटाप से अनभिज्ञ होने पर भी वह आत्मसस्कार से शून्य नहीं है—

"मुझे मेज पर बैठकर खाने का अभ्यास नही है। मैं तो रसोई में पटले पर बैठकर खाना पसन्द करता हूँ। यही हमारी भारतीय पद्धति है।"[1]

"मैं सोचता हूँ यदि पढ़े-लिखे समझदार हमी खाने और बेईमानी करने लगेंगे तो बाकी लोगो का क्या होगा? हमे इस देश को उन्नत और मानसिक रूप से स्वस्थ बनाना होगा। चरित्र से देश बनते और उन्नति करते हैं।... फिर मैं जो सेवा का भाव लेकर आया हूँ वह भी नही रहेगा।"[2]

परमानन्द विवशता से जूझता है परन्तु उसे मार्ग नही मिलता। फिर भी माँ के द्वारा आदर्श के प्रति निष्ठा उसे घोर सकट से मुक्ति देती है – "आज मैं जो कुछ हूँ और जो बनूंगा, उसमे मेरी इस माँ का पूर्ण भाग है श्रीमान्। आज मुझे मालूम हुआ है। माँ का आशीर्वाद ईश्वर से भी बड़ा है। वही ईश्वर है। माँ, तुम्हीं ने मुझे बचाया है।"[3]

परमानन्द मे दृढ़ता के साथ-साथ मातृ भक्ति का भाव कूट-कूटकर भरा है। वह अपने जीविकोपार्जन की परवाह न करता हुआ अपने निश्चय पर दृढ़ रहता

१. 'पार्वती', पृ० १४
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ६२

है। यथा—

"सुनो गुलाब ! मैं तहसीलदार हो सकूँ या न हो सकूँ पर मै अपनी माँ को छोड़ नही सकता। मै जानता हूँ उसने मुझे किन-किन मुसीबतो मे पाला है। न भी मुसीबतें उठाती तो भी वह मेरी माँ है, माँ······जैसे तुम अपने ममी-पापा को चाहती हो वैसे मुझे भी तो अपनी माँ को चाहने, उसकी सेवा करने का अधिकार है। शायद तुम यही चाहती हो माँ यहाँ न रहे। चली जाय। पर यह नही हो सकता।"

परमानन्द की पत्नी गुलाब ठीक उसके विपरीत है। उसे धनी पिता की कन्या होने का दर्प सदैव असस्कृत बनाए रहता है—

"नही तो क्या मेरे जैसे खानदान के होते। कालिज मे पढ रहे थे, पापा पकड लाए। कालिज का प्रिन्सिपल उनका दोस्त है। उसी ने बता दिया। बस, पड गया यह ढोल गले मे, अब पीट रही हूँ। न जाने कब का बदला लिया पापा ने।"[1]

"मै ऐसी औरत को सास नही कह सकती, यह मेरी इन्सल्ट है। भला आप ही बताइए, मैं इतने ऊँचे खानदान की लडकी, जिसके बाप इतने मालदार हो,······जिसका मालिक नायब तहसीलदार हो वह, जो लट्ठ गँवार है, सूरत न शक्ल, मैले कपडे, घाघरा-ओढनी पहने, काला रग, मजदूरिन-सी लगनेवाली इस औरत को अपनी सास कहेगी।"[2]

शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी के चन्द शब्दों से ही उसका परिचय है। फैशन के लिए रिश्वत लेना वह पुण्य कार्य समझती है—

"मेरे पास अच्छे कपड़े, बढिया साड़ियाँ, गहने, टीमटाम का सामान न हो तो मुझे नींद ही नही आती। जो गरीब है वे मोटे कपडों में रहे। मैं क्यो रहूँ ? मुझे सब-कुछ मिला है। अभी-अभी जरूरत थी, एक आदमी से······ चलो, जाने दो।"[3]

---

१. 'पार्वती', पृ० १४
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० ८०

गुलाब को दिखावटी, आडम्बरपूर्ण जीवन से प्रेम है। वह अपने वैभव को सुरक्षित रखने के लिए रिश्वत का मार्ग पकडती है ; किन्तु रिश्वत के अपराध मे जब उसके पति को दड मिलता हे तो गुलाब का सारा दर्प, बडप्पन, दिखावा समाप्त हो जाता है। अपनी सास पार्वती का अपमान करके उसने जो भूल की उसका भी अन्त मे बोध होता है और इस प्रकार पथ से विचलित गुलाब सीधे मार्ग पर आ जाती है—

"गुलाब—(पार्वती की गोद मे सिर रख कर) माँ मुझे क्षमा······(पैर छूती हुई) तुम·· ·· मेरी माँ हो।"[1]

सक्षेप मे मानव-जीवन के अधूरे ज्ञान मे उत्पन्न विकृतियाँ व्यक्ति को दर्शन मे, उसके व्यवहार मे, समय आने पर काटती है। गुलाब इसी तरह की नारी है। वह परिस्थिति के व्याघात से अपनी भूल सुधारती है।

परमानन्द की माँ पार्वती अपढ होती हुई भी प्राचीन मर्यादाओ और नये जीवन की आवश्यकताओ के प्रति सतर्क नारी हे। दरिद्रता की चक्की मे पीसे जाने पर भी वह परिश्रम करके अपना व पुत्र का जीवन-निर्वाह करती है। वह दया की मूर्ति और वत्सलता से परिपूर्ण हे। पुत्र-वियोग मे उसकी अवस्था विक्षिप्त की सी हो जाती हे—

"(परमानन्द का चित्र हाथ मे लिए फिट्स की सी अवस्था)—तू बडा बेईमान है। परमा ! न तू खाता है न पीता है। सवेरे सवेरे हलुआ भी नही खाया। नीद आ रही है। क्या देख रहा है मेरी ओर बेटा ? (छाती से लगा-कर) मेरा बेटा (फिर चित्र देखकर) मैं तुझे ही देखकर जीती हूँ बेटा ! मेरे लाल, मेरा मुन्ना।"[2]

परन्तु गुलाब की माँ सौभाग्यवती की प्रवृत्ति अपनी पुत्री से मिलती है। नाटक में महरी का चरित्र-चित्रण भी नाटककार ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है,गुलाब

---

१. 'पार्वती', पृ० ६५

२. वही, पृ० ८७

के चरित्रांकन के लिए ही नाटककार ने इस महरी की अवतारणा की है। वह स्वभाव से मधुर, सरल किन्तु वाणी से कर्कशा है। महरी का व्यवहार गुलाब के चरित्रगत दोषों को स्पष्ट करने मे सहायक सिद्ध होता है। पार्वती नाटक के पात्र जीवन के संघर्ष मे लहरो की तरह विकारों के थपेड़ों से टकराकर अपने में एकरस हो जाते है।

भट्टजी के सामाजिक पात्र परिस्थिति मे पलनेवाले है। परिस्थितियो से लोहा लेकर उन्हे परिवर्तित करनेवाले नही। अफीम के गुलाम राजपूत, आधुनिक वाग्वीर नेता, बेकार ग्रेजुएट, पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय लड़कियों का चरित्र-चित्रण सफलता से हुआ है।

क्रान्तिकारी के पात्र जीवन की साहसिकता, अद्भुत देशभक्ति, अपूर्व त्याग-निष्ठा, रोमाचकारी अनुशासन-प्रियता आदि से पूर्ण है। दिवाकर वास्तविक क्रान्तिकारी का प्रतीक है। उसकी अव्याहत चारित्रिक दृढता, दलगत अनुशासन के नाम पर निर्मम बलिदान की अडिग आकाक्षा क्रान्तिकारी का जीवन चित्र उपस्थित करती है। फिर भी वह कही-कही आवश्यकता से अधिक वक्ता हो गया है। क्रान्तिकारी के सयम और गोपन का उसमे अभाव है जिससे वह नायक का स्थान पाते-पाते रह जाता है। फिर भी पुलिस द्वारा उसके परिवार को जिस यन्त्रणा में झुलसना पडता है उस कसौटी पर उसका चरित्र कचन की भाँति खरा उतरता है।

मनोहर का अन्तर्द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सगत है किन्तु कही-कहीं वह आवश्यकता से अधिक भावुक बन गया है। वह पहले गुप्त रूप से दिवाकर को अपने यहाँ शरण देता है, बाद मे मदिरा के नशे मे पत्नी को सारा भेद बताकर उसे चले जाने देता है। उसकी पत्नी वीणा का भावपूर्ण अभिनय स्वाभाविक प्रतीत नही होता। प्रस्तुत नाटक के सभी नाटकीय पात्र आदर्श व्यक्ति हैं। दिवाकर के रूप मे लेखक सरदार भगतसिह और चन्द्रशेखर आजाद की आत्मा को सजीव करने मे सहायक सिद्ध हुआ है। इसके सभी पात्र तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं के साथ सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्टजी के नाटकों

में विभिन्न प्रकार के पात्रो का समावेश हुआ है। उनके नाटकों मे शैशव से वृद्धावस्था तक के विभिन्न आयु, प्रवृत्ति के पुरुष तथा नारी पात्रो और विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले चरित्रों का उपस्थापन हुआ है।

रस—आधुनिक नाट्यसाहित्य मे शैली का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। कुछ नाटककार प्राचीन पद्धति के समर्थक है तो कुछ आधुनिक पाश्चात्य पद्धति के समर्थक है। एक वर्ग दोनो का समन्वय करके चलनेवाला है। प्रसाद आदि ऐसे ही नाटककार थे। भट्टजी भी समन्वयवादी नाटककार है। उनके नाटकों की बाहरी रूपरेखा तो पाश्चात्य पद्धति पर है परन्तु उन नाटकों की आत्मा भारतीय है।

भारतीय नाट्यशास्त्रानुसार नाटक का मूल प्रयोजन ही रस-परिपाक है। भट्टजी भारतीय पद्धति के प्रति अत्यधिक आग्रह तो नही रखते परन्तु रस-परिपाक की ओर वे अवश्य सावधान रहे है। उनके नाटकों में रस की अभिव्यक्ति नाटको को और भी प्रभावशाली व रोचक बनाती है। भट्टजी के ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक नाटकों मे वीर, शृङ्गार और करुण तीनो रसो का अच्छा परिपाक हुआ है। परन्तु प्रसंगानुसार रौद्र, शान्त और अद्भुत रसो की योजना भी मिलती है।

वीर आदि रसो के परिपाक के लिए या तो नाटक का नायक अपने क्रिया-कलापो और सवादो से सहायक होता है या फिर नाटककार अन्य पात्र की योजना कर लेता है। वह पात्र अपने प्रोत्साहित वचनो या गीतों के माध्यम से वीररस की अभिव्यक्ति करता है। दाहर अथवा सिन्ध-पतन में परमाल पूर्णतः निराश हो जाती है पर सूर्य उसी समय आकर उसे उत्साहित कर देती है। वह कहती है—"आज जब शत्रु साठ हजार सेना लेकर सिन्ध पर आक्रमण किया चाहता है, घमासान युद्ध होगा, खून-खच्चर हो जाएगा, उस समय पुरुषों के साथ स्त्रियो का क्या कर्त्तव्य है, यही आज हम सिन्ध की नारियों को सीखना है। हमारे भाई और पिता युद्ध मे लड़ें और हम हाथ पर हाथ रखकर बैठी रहे, यही क्या हमारा कर्त्तव्य है ? क्या स्त्रियाँ केवल देखने की वस्तु है ? क्या करने का भार पुरुषो के हिस्से में ही आया है ? क्या वे पुरुषों के समान

सुख का उपभोग नही करती ? क्या परतन्त्रता के दुःख से केवल पुरुषो को ही दुःख होगा, स्त्रियों पर उसका कुछ प्रभाव नही पड़ेगा ? नही बहिन, अब हमे उठना पड़ेगा।"[1]

सूर्य के उपर्युक्त वचन परमाल की दार्शनिकता को भग कर देते है और वह भी देश के लिए प्राणो की बाजी लगाने का दृढ संकल्प कर लेती है। दाहर की पुत्री सूर्य तो वीररस की साक्षात् प्रतिमा है। उसका एक-एक शब्द वीर-दर्पपूर्ण है। जिस समय वह देश की नारियो को और राजपूतों को बलिपथ पर जाने के लिए प्रोत्साहन देती है तो वीररस की अजस्र धारा उसके मुख से प्रवाहित होती है। उदाहरणतया—"*अरुण, ब्राह्मणवाद, शिवस्थान, देवल आदि सारे* प्रान्तो मे बिजली के समान कडको, आँधी के समान उडो, बादल के समान गरजो और कायर देशद्रोहियो को युद्ध के लिए उत्साहित कर दो। जाओ, मैं भी अपनी बहिन के साथ-साथ देश-देश घूमूँगी, वनो में विचरूँगी, पहाडों को छान डालूँगी, लोगो को एकत्र करूँगी और उन्हे सेना मे भरती होने के लिए उभारूँगी।"[2]

विक्रमादित्य मे विक्रमादित्य, चन्द्रलेखा, अनंगमुद्रा आदि वीररस के अवतार है। इस नाटक मे करुणरस की भी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। अनंग-मुद्रा और चन्द्रलेखा के युद्ध मे बलिदान कर देने के उपरान्त विक्रमादित्य का कथन दर्शनीय है '

"क्या मैं चन्द्रलेखा के समान सुखी हो सकता हूँ, जिसने मेरी स्मृति में, मेरे प्रेम से, मेरे विलास के लिए, मेरी हित-कामना में सब कुछ दे दिया। हा! जीवन के विधान में कर्त्तव्य के नुकीले बाण कितने पैने है यह उसी ने समझा ······वह मुझे भूलकर भी नही भूलती। आँखो मे उसी की मूर्ति नाचती है। हृदय में उसी का स्थान है। रक्त में उसी की गति है······अपनी बलि से, अपने उत्सर्ग से, अपने दान से उसने मुझे विरक्त होकर, निर्लेप होकर, निःसंग

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', ५७
२. वही, पृष्ठ ५६

होकर कर्त्तव्य पालन का ज्ञान दिया।"[1]

सगर-विजय नाटक में महाराज बाहु की मृत्यु के उपरान्त उनकी पत्नी रानी विशालाक्षी का विलाप भी अत्यन्त करुणाजनक है, यथा—"हे प्रभो! मैं यह क्या देख रही हूँ। मेरे महाराज आपकी यह दशा! जिन्हें ससार की आँखें भी देखकर तृप्त नही होती थीं वे आज अनादृत, अपृष्ठ और मूक होकर पड़े हैं। मेरे हृदय तू फट क्यों नही जाता? मेरी आशाएँ, मेरे जागृति के स्वप्न, मेरे सौन्दर्य, मेरे विश्वास, मेरे सुख आज सब हिल गए है। हाय मेरे प्रकाश की पुतली फूट गई, मेरा विश्वास अन्धा हो गया है। मेरी निराशा की रात चारो ओर से गहरी होती चली जा रही है। अब मै किस के सहारे चलूँगी······मैं अकेली हूँ। मेरे प्राण, मेरे हृदय, तुम विस्फोट की तरह फटो और मेरे आँसुओ का एक प्रलयान्तक सागर बना दो। मुझे बहा ले चलो मैं अकेली हूँ।"[2]

भट्टजी के भावनाट्यों मे शृङ्गाररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इसके अतिरिक्त मुक्तिपथ नाटक की परिणति शान्तरस मे होती है। सिद्धार्थ के सारे प्रयत्न शान्ति के लिए ही हैं। अपने सामाजिक नाटकों मे भट्टजी का लक्ष्य मुख्य रूप से अपने उद्देश्य की ओर ही रहा है, रस-परिपाक की ओर नहीं। फिर भी कमला, नया समाज और क्रान्तिकारी आदि मे करुणरस की धारा प्रवाहित होती है।

रस के विषय में एक बात कह देनी अनुचित न होगी कि भट्टजी किसी शास्त्रीय पद्धति से बँधकर नही चले है। इसलिए उनके नाटकों मे रस का विवेचन शास्त्रीय पद्धति पर खोज निकालने की चेष्टा करना उनके नाटको के प्रति अन्याय है। इसके अतिरिक्त भारतीय पद्धति के अनुसार नाटक सुखान्त होना चाहिए और पाश्चात्य पद्धति के अनुसार दुःखान्त। पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारत मे भी अब दुःखान्त नाटक लिखे जाने लगे है। भट्टजी ने अपने नाटकों मे तीनो प्रकार के रचना-विधान को अपनाया है। हिन्दी में दुःखान्त

---

१. 'विक्रमादित्य', पृष्ठ ८६
२. 'सगर-विजय', पृष्ठ ३४

नाटक लिखने का प्रयास सम्भवतः भट्टजी ने ही किया। उन्होंने दाहर अथवा सिन्ध-पतन की भूमिका मे लिखा है—"हिन्दी साहित्य में वियोगान्त नाटक लिखने का कदाचित् मेरा ही यह प्रयास है।"[1]

भट्टजी के नाटकों में विक्रमादित्य, दाहर अथवा सिन्ध-पतन, अम्बा और कमला नाटक दुःखान्त शैली पर लिखे गए है। 'विक्रमादित्य' मे नाटक की प्रमुख नायिका चन्द्रलेखा और उसकी सखी अनगमुद्रा, 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' में सूर्य, परमाल, दाहर, मुहम्मद बिन कासिम का देश के प्रति बलिदान ही इस ओर संकेत करता है। 'विद्रोहिणी अम्बा' मे नारी की प्रतिहिंसा का ज्वलन्त चित्र अंकित है। कुछ आलोचक सगर-विजय को भी वियोगान्त नाटक मानते हैं। यद्यपि माता और पुत्र के वियोग के आधार पर नाटक को वियोगात कहा जा सकता है, परन्तु नाट्यशिल्प मे प्रयुक्त वियोगान्त नाटक की आधार-शिला कार्य की करुण सफलता या असफलता के आधार पर ही निर्भर है। भट्टजी ने स्वय अपने पौराणिक नाटक विद्रोहिणी अम्बा को इसलिए वियोगान्त नाटक कहा है कि उसमे विद्रोहिणी अम्बा का विवाह शाल्व से नहीं हो पाता और उसकी प्रतिहिंसा अत्यधिक करुण, अवसाद और वियोग से पूर्ण होती है। परन्तु सगर-विजय नाटक का मुख्य कार्य है सगर की विजय जो अन्त में राष्ट्र-सेवा के रूप में प्रवृत्त हो जाती है। इसलिए यह नाटक न तो अवसादपूर्ण और न ही सुखद कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में इसे वियोगान्त नाटक केवल इसी आधार पर कहना कि पुत्र को चक्रवर्ती देखने से पूर्व ही उसकी माता का देहांत हो गया, उचित प्रतीत नही होता। माता की मृत्यु पर शोक का अनुभव करने-वाले पुत्र की मानसिक दशा का विचार करते हुए इसे वियोगान्त-सुखान्त नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा। डा० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटको को इसी प्रकार सुख-दुःख का समन्वय देखते हुए उन्हे प्रसादान्त कहा है। अतः सगर-विजय को करुण-सुखान्त या प्रसादान्त नाटक कहना उपयुक्त होगा। शक-विजय को भी प्रसादान्त नाटक कहा जा सकता है जिसका मुख्य कार्य है विदेशी जाति

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', भूमिका

शक और हूणो से देश की रक्षा जिसकी प्राप्ति वरद् नामक व्यक्ति के वीरत्व से हो जाती है। मुक्तिदूत को सुखान्त नाटक की कोटि मे रखा जा सकता है इस प्रकार भट्टजी ने सुखान्त, दुःखान्त और वियोगान्त तीनों रचना-शैलियों को अपनाया है। भट्टजी ने इसके साथ-साथ अपने नाटकों में संस्कृत नाटकों के कवित्वमय वातावरण को भी अपनाया है। नाट्यविधान की दृष्टि से उनके नाटको मे पाश्चात्य यथार्थवादी नाट्यकला के साथ-साथ भारतीय पद्धति के अनुसार कवित्व भी है। वास्तव मे उनके नाटकों की शैली प्राचीन और अर्वाचीन नाटक-शैलियों का सामंजस्य है।

भाषा—साहित्य का प्रत्येक लेखक अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को ही माध्यम बनाता है, क्योंकि भाषा-शैली ही भावों की अभिव्यक्ति का सरलतम साधन है। यह साधन जितना भाषा के मार्ग को जानेगा, सरल, सीधा, सहज और उपयुक्त होगा, भावाभिव्यक्ति उतनी ही प्रभावोत्पादक, प्रौढ और प्राजल होगी।

नाटक एक सामाजिक वस्तु है अत नाटककार को भाषा-शैली के सम्बन्ध मे सामाजिक दृष्टि से ही विचार करना पडता है। भट्टजी आरम्भ से ही लोक भाषा के पक्षपाती रहे हैं। वास्तव में उनके नाटकों की भाषा का शनैः-शनैः विकास हुआ है। भट्टजी की भाषा भाव और विचार की दृष्टियो से सरल और क्लिष्ट दोनों ही प्रकार की है।

ऐतिहासिक नाटको की भाषा संस्कृत-गर्भित है। विक्रमादित्य नाटक की भाषा-शैली पर संस्कृत शैली का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणतया—

"इसी के अनुसार शकट के दो पहियो के समान हम सुख-दुःख के कार्य-कलाप रूपी मार्ग को तय करते हैं, परन्तु इस जीवन मे सुख की पराकाष्ठा रूप दृष्टिकोण के रथ पर बैठे हुए अकर्त्तव्य के स्वकल्पित चाबुक लेकर लालसा के घोड़ों को निज बुद्धिजन्य विवेक की लगाम से अनवरत दौड़ाते चले जाते हैं।"[१]

---

१. 'विक्रमादित्य', पृ० २१

'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' की भाषा सस्कृत-गर्भित परिमार्जित हिन्दी है जो सभी प्रकार के भावो को व्यक्त करने मे समर्थ है। प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली मे प्रसाद की दार्शनिक एवं कवित्वमय शैली की कुछ झलक प्रतीत होती है। दाहर का निम्न भाषण विचारो की विविधता के कारण अत्यन्त रोचक है—

"कही सत्य रूप से स्पष्ट, कही असत्य रूप से अस्थिर, कही कोमलांगिनी वीरागना के समान छलमयी, समय के उलट-फेर मे, हिंसा की उग्रता मे, दया-लुता के आँचल मे, स्वार्थ के उत्सग मे, उदारता की ओट मे, धनरत्न के प्रलोभन मे राजनीति अपनी कार्य-साधना मे सन्नद्ध रहती है। यह चरो के चक्षुओ से, न्याय के कान मे, निश्चय के मुख से, सन्देहमय संकल्प से सबका निर्णय करती है।"[1]

कुमारसम्भव आदि मे भी शुद्ध साहित्यिक सस्कृत-मिश्रित भाषा को माध्यम बनाया है। ऐतिहासिक नाटको मे भट्टजी की भाषा का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप शक-विजय मे मिलता है। इस नाटक की भाषा-शैली इतनी आकर्षक और स्वाभाविक है कि उसमे अत्यधिक कवित्व की छाप उभरने नही पाई है। नाटक की प्रवाहमयी भाषा के कारण इसकी अभिनेयता कई गुनी बढ़ गई है। भाषा-शैली का रूप कही भी विकृत नहीं हुआ है। कही भी काव्य या ध्वनि के फेर में पडकर भट्टजी ने अभिव्यजना को प्रसाद एवं माधुर्य गुण से दूर नही जाने दिया। कवित्व-प्रदर्शन तथा विचार-मन्थन के लिए नाटक मे प्रसगों तथा पात्रो की कमी नहीं थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने बडी सतर्कता उन्हें निर्लिप्त रखकर नाट्य सौन्दर्य की रक्षा की है। यथा—

"सखी, मैने जीवन मे रोना नहीं जाना, मैं प्रत्येक परिस्थिति मे आनन्द का आवाहन करती हूँ·········रोना जीवन से हारना है, जीवन के सामने पराजय स्वीकार करना है। तुम तो साध्वी हो, भिक्षुणी, तप-क्लेश में रहने वाली ; तुम्हें रोना शोभा नही देता, साध्वी !"[2]

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ६
२. 'शक-विजय', पृ० २२

भावुक सौम्या ने कितनी सरल भाषा में अपने विचार व्यक्त किए है। भाषा का ऐसा सहज एव परिष्कृत रूप भट्टजी की प्रतिभा का ही द्योतक है।

इसके साथ 'शक-विजय' की भाषा युग और वातावरण के अनुसार है। भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको की भाषा गम्भीर होते हुए भी न तो संस्कृत के अस्वाभाविक बोझ से लदी है और न अलंकारो की भीड़ से ही बोझिल हुई है। वह स्वच्छ और भाव-प्रकाशन में सफल है। शक-विजय में गन्धर्वसेन कहता है—

"जो लहर तट तक टकराकर उसके कगारों को तोड देती है, उसी का प्रभाव रहता है, शेप अनाम अज्ञेय होकर नष्ट हो जाती है। फिर हमारा कार्य जीवन के प्रभाव को स्थिर और गतिमान बनाए रखना है। इस सिंह को मारकर कानन को निर्भय बना देने के अतिरिक्त मैंने एक क्रूर के शासन को भी नष्ट कर दिया है। क्या हम भी एकतन्त्र सत्ता नष्ट करके यौधेयो के समान गण-तन्त्र नही बना सकते।"[१]

मुक्तिदूत की वाक्य-योजना, चुभते हुए सुलझे भाव, गहन दार्शनिकता और सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति सदय दृष्टि से युक्त है—

"······परन्तु मनुष्य की आशा मे निराशा, उद्योग मे असफलता, भाग्य में विपरीतता, यह सब क्यो मनुष्य के पीछे पड़ी है यही तो सोचता हूँ। शास्त्र कहते हैं ईश्वर सब कुछ करता हे। वह ईश्वर कैसा है जो अपने बच्चो को दुःख देता है। नही, वह ईश्वर नहीं है। कोई भी नहीं है। परन्तु क्या है?"[२]

भट्टजी के पौराणिक नाटकों की भाषा पात्र एवं विषय-अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। जन-जीवन का यथार्थ चित्रण, नारी की दारुण दशा, धर्म के नाम पर पापाचार, धर्माडम्बर, पौराणिक एवं सामाजिक अन्धविश्वास और कुरीतियों पर चोट करने के लिए भट्टजी ने व्यग्यात्मक शैली को अपनाया है। विद्रोहिणी अम्बा मे अम्बा और उसकी बहिने अपमान से तड़पती दिखाई

१. 'शक-विजय', पृ० २०

२. 'मुक्तिदूत', पृ० ३६

देती हैं। उस पीड़ा का कारण वे राजवश को मानती हैं। दूसरों द्वारा अपमानित हुए मानव का हृदय स्वभावतः व्यंग्य और घृणा से भर जाता है। अम्बा और उसकी बहिनों के मुख से निकली भाषा उनके पीडित और प्रतिशोध से व्यग्र हृदय का आभास देती है। अपने प्रेमी शाल्व द्वारा तिरस्कृत होने के उपरान्त पुरुष वर्ग पर तीखी चोट करती हुई कहती है—

"पुरुष समाज की इतनी धृष्टता ! स्त्रियो के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नही सदा से ही स्त्रियों का अपमान किया है।"[1]

अम्बिका की निम्नोक्त उक्ति मे तो उसका एक-एक शब्द अग्निस्फुलिंग बनकर पुरुषो पर बरस पड़ा है—

"यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओ को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नही तो और क्या है।"[2]

उपर्युक्त पक्तियो मे प्रत्येक शब्द पुरुष के प्रति नारी की चिर विद्रोह और प्रतिकार वासना का अत्यन्त उग्र रूप व्यक्त करता है।

सामाजिक एवं समस्यात्मक नाटको की भाषा सरल, स्वाभाविक एव पात्रानुकूल है। स्त्रियो की बातचीत मे उनके चरित्र की आदतो तथा तकिया-कलाम को प्रकट करनेवाली भाषा का उपयोग किया है—

"बेइज्जत होंगे तुम्हारे घरवाले। यहाँ जूते खाने का नाम न लेना। मुँह नोच लूंगी। हाँ नही तो, हम किसी के दबेल नहीं रेवै हेगे। जूते पड़े थे उनके।"[3]

सांस्कृतिक नाटकों मे विविध प्रकार की भाषा के प्रयोग चारित्रिक विकास को दृष्टि मे रखकर किए गए है—

"बड़ा विचित्र है। दिन में सूर्य निकलता है, रात को चन्द्रमा, क्या रात्रि

---

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृ० ७८
२. वही, पृ० ८५
३. 'पर्दे के पीछे', पृ० ३०

को सूर्य नही निकल सकता ? नही, यह नही हो सकता । नही, यह नही हो सकता । रात्रि को सूर्य निकलता तो वह रात्रि ही क्यों होती । मै भी कितना भ्रान्त हो गया । और ये तारे । क्या यह भी दूर होगे ? अवश्य, ये चन्द्रमा से भी दूर होगे । किन्तु जो आग दूर पर जलती है वह भी तो तारो जैसी दिखाई देती है । अवश्य तारे इसी तरह आग जलने के चिन्ह होगे ।"[1]

उपर्युक्त पक्तियो के प्रत्येक वाक्य द्वारा मध्यम नामक पात्र के मन का सघर्ष अभिव्यक्त होता है। ऐतिहासिक नाटक दाहर अथवा सिन्ध-पतन की भाषा भी चरित्र की अभिव्यक्ति मे सफल कही जा सकती है । सरदार अत्यन्त सरल शब्दों मे दाहर का चरित्र व्यक्त करता है । यथा—"तुम क्या जानो, महाराज दाहर कितने प्रजा-रक्षक है, ज्ञानी और वीर है । उनके राज्य मे शेर और बकरी एक घाट पानी पीते है ।"[2]

सरदार के कथन द्वारा दाहर की चारित्रिक विशेषताएँ--प्रजा के प्रति स्नेह-भावना, समान दृष्टि आदि ज्ञात होती है ।

पात्रो की स्थिति तथा उनके निवासस्थान के अनुसार भाषा मे परिवर्तन होता है । अरबी एवं अंग्रेजी आदि विदेशी जाति के व्यक्तियों के मुख से उच्च-रित भाषा में उर्दू और अग्रेजी के प्रचलित शब्दो का पुट देकर उसे सरस एव स्वाभाविक बनाया है । सरलता और स्पष्टता ही उनकी भाषा की प्रमुख विशे-षताएँ हैं। अरबी पात्रो की भाषा—

"(क) किस तरह लोग मजहब की पाबन्दी कर रहे है ।"[3]

"(ख) खुदा ने साफ कहा है ऐ मुसलमानो शराब शैतान की बनाई हुई चीज है ।"[4]

इनके अतिरिक्त आमीन, खौफनाक, बदन, गजब, दिक्कत, कवायद, खिलाफ

---

१. 'आदिम युग', पृ० ७३
२. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ५
३. वही, पृ० १४
४. वही, पृ० १५

आदि अरबी-फारसी के शब्दो को भट्टजी ने अपनी भाषा मे स्थान दिया।

अंग्रेजी भाषा—"वी आर हेल्डिंग ए ब्यूटी कण्टेस्ट आन एन आल इण्डिया स्केल। दिस इज फोर डबल नाट नाइन, प्लीज रिंग अप इन दि आफिस, ही इज सच ए फूल, वी मस्ट हैव ए डिग्निटी, वी हैव ए सोशल स्टेटस" आदि। इसके अतिरिक्त पोजीशन, इण्टेलिजेण्ट, थैंक्यू, ब्राच, इन्चार्ज, रिस्क, डिपार्टमेण्ट, यूज़लेस लाइफ, स्टुपिड, डिनर, अरेंजमेट, मूड आदि अनेक शब्दो द्वारा भाषा को सजीव व नाटकोचित बनाया है।

तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग किया है। लोक साहित्य मे उपलब्ध शब्दावली भी उनके नाटको की भाषा मे पाई जाती है। यथा—"हम भी पाँच महीने से हियाँ नौकरी करता। हम चक्रवर्ती का नौकरी किया, बट्टाचार का नौकरी किया। आशाम मे नौकरी किया, अब बम्बई मे।"[1]

शुद्ध साहित्यिक भाषा—"बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य का मनुष्य के लिए सदा से महत्त्व रहा है। किन्तु सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा बोध की क्षमता ही मनुष्य की परिष्कृति का लक्षण है।"[2]

भावावेश मे भट्टजी के नारी पात्र ऐसे शब्दों का प्रयोग करते है जिनके परिणामस्वरूप भाषा प्रभावशाली होकर अधिक नाटकोचित हो जाती है। सगर-विजय की बर्हि का चरित्र कुन्त ने अत्यन्त नाटकोचित शब्दों मे व्यक्त किया है—

"गई स्पर्द्धा, प्रतिहिंसा का इतना उग्र रूप······कभी न देखा था। गई, साँपिनी-सी फुफकारती, चोट खाई सिंहनी-सी।······ओह!"[3]

भावावेश का चित्रण करते समय शब्दो की झड़ी टकसाल मे गढ़ते हुए सिक्कों के सदृश शीघ्रता से गतिशील होती चलती है। एक के पश्चात् दूसरे शब्द स्वतः ही आते चलते है। भाषा का ऐसा स्वाभाविक उद्दाम प्रवाह विरल

१. 'परदे के पीछे', पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ७
३. 'सगर विजय', पृष्ठ ५१

ही दृष्टिगत होता है। वलीद के कामोत्तेजित होने के पश्चात् सूर्य का नारीत्व चीत्कार कर उठता है—

"आः खलीफा साहब, अब हमारे हृदय नही है, प्रेम नहीं है, जीवन नहीं है जो ·····। उस नीच कृतघ्न पापी मुहम्मद बिन कासिम ने छल से हमारा घर उजाड डाला······हे ईश्वर! हा! नीच तेरा बुरा हो! तूने हमारे साथ धोखा किया। तूने खलीफा के साथ विश्वासघात किया। खलीफा·······नही, अब यह नही हो सकता। मेरी बहिन भी अब······।"[१]

सगर-विजय की विशालाक्षी का हृदय भी भावुकता से परिपूर्ण है। पति की मृत्यु के उपरान्त भावुक हृदय की बानगी तो निस्सन्देह द्रष्टव्य है—

"मेरे हृदय तू फट क्यो नही जाता! मेरी आशाएँ, मेरे जागृति के स्वप्न, मेरे सौन्दर्य, मेरे विश्वास, मेरे सुख आज सब हिल गए। हाय मेरे प्रकाश की पुतली फूट गई, मेरा विश्वास अन्धा हो गया है। मेरी निराशा की रात चारो ओर से गहरी होती चली आ रही है, अब मैं किसके सहारे चलूँगी? मेरा प्रकाश बुझ गया, मेरे जीवन का निश्वास घुट रहा है। हाय मै क्या करूँ·······।"[२]

भावों के अनुसार ही शब्द-चयन किया है। भाव के उन्माद मे उनके नाटकीय पात्र भावुक शब्दावली का सहारा लेते है। इस प्रकार भावावेश की शैली मे भट्टजी भाषा मे मधुर पुट देकर पात्रो के मन-मस्तिष्क का साक्षात्कार करा देते है। पात्रों की हृदय-मन्दाकिनी मे नीरसहृदय व्यक्ति भी स्नान कर सहज सुख का अनुभव करता है। उदाहरणतया—

"शुभ्र शिलापट्टक पर सरस्वती गम्भीर एवं चिन्ता की मुद्रा में बैठी है। भीतर शुभ्र कंचुकी तथा एक धोती, दुग्ध के समान धवल शरीर, बुद्धि के समान तीव्र नासिका, क्रोध के समान लाली लिये कपोल, कामदेव के प्रासाद मे पहुँचने के लिए आगे खडी प्रतिहारी की तरह ठोड़ी, सुकुमारता के समान पतले और कोमल ओष्ठ।"[३]

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० १०२
२. 'सगर-विजय', पृ० ३३
३. 'शक-विजय', पृ० ३५

अभिनय के लिए सरल, संक्षिप्त वाक्यो से युक्त जिस प्रवाहमयी भाषा की आवश्यकता होती है उस पर भट्टजी का पूर्णाधिकार है। प्रवाहमयी भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण—

"तुममे हृदय है पर गति नही, मन है पर उल्लास नही, यौवन है पर उद्वेग नही।"[1]

अन्य उदाहरण—"इसके सामने धाँय-धाँय करती चिताएँ, कडकती बिजलियाँ, उबलते और भभकते भूखण्ड, टूटते नक्षत्र और पिघलकर बरसते ब्रह्माण्ड के सूर्य-पिण्ड सब फीके है, कुन्त। जिसके सकेत से, जिसके क्रोध से विश्व जल उठता था, किन्तु जिसने उसे कभी न जलाया उसकी चिता को आग लगाऊँ।"[2]

भावात्मकता के साथ-साथ उनकी शैली मे व्यजना और तर्कपूर्ण शक्ति का भी प्राधान्य है। उनकी व्यग्यात्मक भाषा में कटु व्यंग्य के साथ-साथ मिठास भी होती है—

"तेरा सिर मेरे वीरो की स्त्रियो की महावर का पात्र बन जायेगा।"[3]

भाषा का चुभता हुआ रूप सामाजिक नाटको मे निखरा है। जहाँ पर चुटीली भाषा का प्रयोग हुआ है वहाँ कथनोपकथन अत्यन्त चुस्त, तीखे और कटु है। कमला नाटक की भाषा नाटकोचित, चलती हुई और प्रौढ है—"यही तो बुरी आदत है। मैं तो ससार मे सदा क्रियाशील बना रहना पसन्द करता हूँ। चाय मे वे सब गुण मौजूद है। मैं पुराने विचारों का होते हुए भी इसकी खूबियों को समझता हूँ। कमला, परन्तु जीवन भी क्या पागलपन है! अरे, तो क्या तुम एक प्याला भी न लोगी?"[4]

व्यंग्यात्मक शैली में भट्टजी की लेखनी बहुत कुशल है। जहाँ भी सामाजिक रूढियो के प्रति, जाति की कुप्रथाओ के प्रति रोष का अवसर आया है,

---

१. 'मुक्तिदूत', पृ० ५४
२. 'सगर विजय', पृ० ३३
३. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृ० ४६
४. 'कमला', पृ० २५

वहाँ उनकी लेखनी ने व्यंग्य का ही आश्रय लिया है। सामाजिक नाटकों की भाषा-शैली तो प्रायः व्यग्यात्मक ही कही जाएगी। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों मे भी व्यग्य के तीखे छीटे यत्र-तत्र देखने को मिलते है। कुछ सामाजिक नाटकों मे लेखक ने वर्तमान कालीन शोषण के प्रति रोष प्रकट किया है। पूंजी-पतियो की धन-लिप्सा के नग्न चित्र उतारे है। मानवता का अपमान इन पूंजी पतियो के द्वारा होता है—

"तुम तपेदिक के रोगी की तरह गरीब को घुला-घुलाकर मारते हो, जोक की तरह धीरे-धीरे खून चूसते हो। अवसर से लाभ उठाकर अपनी तिजोरियाँ भरते हो.........तुम पापी, नीच, हत्यारे सिवा अपने पेट के और मनुष्यों को कीडो की तरह समझते हो.........सारा संसार पूँजीपति के मुँह में धीरे-धीरे घुस रहा है, निरुपाय, निर्बल, असहाय।"[१]

पात्र के मुख से निकला प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द एक तीखा व्यग्य-शर है। मानव की सत्ता पूंजीपतियो के सम्मुख कीट-पतंग की भाँति है। पूँजीपतियो ने विलास के साधन किस प्रकार के कार्य करके जुटाये है—आदि पर भट्टजी ने तीखे व्यंग्य कसे हैं—"ये काग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाठ है—मकान, मोटर, नौकर-चाकर। फिर मजा यह कि काम कुछ भी नही करते, व्यापार कुछ भी नही करते, तो क्या रुपया आकाश से फट पडता है.......। मैं आज ही खद्दर खरीदकर कपड़े बनवा लूँगा.......। पहनने होंगे। यही युग का, समय का तकाजा है।"[२]

आज के कृत्रिम, आडम्बरयुक्त, स्वार्थी और अन्धकार मे दौड लगानेवाले मनुष्य के वास्तविक चित्र का उद्घाटन करते हुए भट्टजी बहुत ही कठोर हो जाते हैं। भाषा में तीखापन और भी तीव्र हो जाता है। यथा—"विवाह विनिमय नही चाहता, सुधी। वह हृदय देखता है। वह एक-दूसरे की सहानुभूति चाहता है। वह जीवन की नाव को चलाने में एक-दूसरे की सहायता चाहता

---

१. 'धूमशिखा', पृ० ८१–८२
२. 'नेता', पृ० २०

है।"[1]

अतः भट्टजी के सामाजिक नाटकों की भाषा की प्रमुख विशेषता है तीखे व्यंग्य और कवित्व का सुन्दर सामंजस्य। उदाहरणतया—"इतना वैभव मेरे नाम पर, इतना विशाल मन्दिर सत्य के प्रचार के लिए। सत्य का प्रचार क्या मन्दिरो से होता है। सत्य का सम्बन्ध आत्मा से है। नेक कामो से है। जीवो पर दया करने से है। मन, वाणी, कर्म के एकत्व से है। ससार मे लोगो को कितना कष्ट है! कितनी अशान्ति है! कितना दुःख है! उसका सम्बन्ध आत्मा की अपवित्रता से है। अपनी आत्मा को, अपने मन को पवित्र करो......अपना चरित्र सुधारो......सत्य का ढोग मत रचो।"[2]

भट्टजी के नाटको की भाषा सरल व सहज है। उन्होने संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा को केवल उसी स्थिति मे क्लिष्ट होने दिया जब उन्होने गम्भीर विचारो की अभिव्यक्ति की है। भावो के अनुरूप ही उनकी भाषा परिवर्तित होती है एव शब्द-चयन भी भाव और विषय के अनुरूप ही होता है। यही कारण है कि जहाँ शृगार, करुण और शान्त आदि कोमल रसों के प्रयोग मे उनकी भाषा माधुर्य गुण से सम्पन्न रही है वहाँ वीर रस के प्रकरण मे ओज-गुणमयी हो गई है। भट्टजी के भावनाट्यों की भाषा माधुर्य गुण-संयुक्त है। मत्स्यगंधा नाटक मे मत्स्यगंधा ज्यो-ज्यों यौवन के प्रवाह मे आगे बढती जाती है त्यों-त्यो नाटककार की भाषा का सौन्दर्य, सूक्ष्म भावो का आवेग तथा संगीत का प्रवाह भी बढ़ता जाता है। अनग के यौवन का वरदान देने के अनुरोध पर मत्स्यगधा के निम्नलिखित उद्गार मे नारी हृदय की सहज सुलभ कोमल असमर्थता को जिन कलापूर्ण शब्दो मे व्यक्त किया है वहाँ कवि की प्रतिभा अपने चरम पर पहुँच गई है—

"किन्तु मुझे चाहिए न हे अनग, यह दान
मेरे लघु प्राण मे अनन्त अब्धि मद की
कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मैं उठाऊँ भार

१. 'परदे के पीछे', पृ० ६६
२. 'आज का आदमी', पृ० ६५

कैसे भरेंगी सरिताएँ देव ।"[1]

भट्टजी ने प्रेम की अनुभूतियों और प्रकृति के मधुर चित्र के अकन के लिए माधुर्य गुण से युक्त भाषा को अपनाया है ।

भट्टजी की ओजपूर्ण शैली भी बहुत पौरुषपूर्ण और धारावाहिक है । ऐतिहासिक नाटकों मे ओज की सत्ता सर्वोपरि है—

"आज विलास की चिता मे वीरत्व की अग्नि जलाकर शत्रु को भस्म कर डालूंगा ।"[2]

युद्ध का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए और उसको अनुरंजित करने के लिए नाटककार ने प्रायः सभी स्थानो पर ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है । प्रलयकारी स्रोतस्विनी की भाँति भाषा उमडती चलती है । दाहर अथवा सिंध-पतन में सूर्य की ओजमयी वाणी इस प्रकार सुन पड़ती है—"वासना के मुख पर कलोंच लगाकर, लज्जा की कन्था फाड़कर आज मैं निकली हूँ, अमर जीवन के उन्नत वक्षस्थल पर नाचने······इन वृक्षो के पत्तो के समान समय के समीरण से उत्तेजित होकर मे नाचूंगी ।······शिव के ताण्डव के समान मेरु हिलने लगेगा, शेष काँप उठेगा, कच्छप सिहर उठेगा, पर्वत डगमगाने लगेंगे और धरा धडकने लगेगी । आज अवसर है, ससार को मैं दिखला दूंगी कि मैं क्या कर सकती हूँ ।"[3]

दाहर अथवा सिन्ध-पतन के नायक दाहर के असन्तोष का और हृदय के भीतर देश की पराजय पर क्षोभ एवं उससे उत्साह का चित्र भी भाषा की सफलता का द्योतक है—

"इतना काण्ड हो गया, (क्रोध से) जा, मैं स्वयं युद्ध के लिए प्रस्थान करूँगा । आज क्षत्रियत्व के विकास द्वारा, धनुर्दण्ड की टंकार द्वारा, पराक्रम के प्रकाण्ड ताण्डव द्वारा अरबियो को नये शासन, नये विधान और नई युद्ध कला

१. 'मत्स्यगंधा', पृ० ५२-५३
२. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ७५
३. वही, पृ० ५६

का पाठ पढाऊँगा। कृतघ्नता के क्रूर अग्निकुण्ड मे नर रक्त-रंजित विभीषणों की आहुति दूँगा अथवा स्वयं मृतप्राय मातृभूमि के वक्षस्थल पर स्वर्ग-लाभ करूँगा। मन्त्री, प्रासाद की स्त्रियो को युद्ध और मृत्यु के लिए तैयार होने की सूचना दे दो।"[1]

दाहर की महत्त्वाकाक्षा को चित्रित करनेवाली यह भाषा ओज गुण से पूर्ण है। वीर दाहर का हृदय उत्साह और दृढता से परिपूर्ण है। वीरोल्लास-मयी वाणी को मुखरित करनेवाली वेगवती भाषा देखिए—"हम लोग आर्य हैं, हममे क्षत्रियत्व है, एक बगदादी राजा की तो बात ही क्या, यदि समस्त ससार भी दाहर पर अनुचित दबाव डालकर उसके देश को छीनने की चेष्टा करेगा तो दाहर उसके दाँत खट्टे कर देगा। आर्य लोग व्यर्थ ही किसी से छेड-छाड नहीं करते। यदि हस्तक्षेप द्वारा उन्हे कोई पद-दलित करना चाहे तो एक बगदादी राजा क्या ऐसे सैकडो राजा भी हमारा कुछ नहीं बिगाड सकते··· हमने जान-बूझकर किसी व्यापारी को कष्ट नहीं दिया।"[2]

इस प्रकार की भाषा मे केवल दाहर के वीर हृदय का ही आभास नहीं मिलता अपितु उसकी दृढता, उदाराशयता और शरणागत-वत्सलता तथा शौर्य का पता भी चलता है। व्यजकता के कारण उनकी भाषा अत्यन्त रोचक हो गई है।

प्रसाद शैली के लिए निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"देखी ऐसी, देखी कब, दामिनी की शुभ्र रेख
मूर्त रूप धर चली, उतरी अनन्त से
इस जग दुःख मे अमर करने के लिए;
युक्त करने के लिए सुख को अमृत मे
मानो विश्वराग ही शरीर धर आया हो।"[3]

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', पृ० ८४
२. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० २५
३. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ५१

उपर्युक्त अवतरण में अलंकारिकता नहीं है प्रत्युत भाषा में सहजता, सरलता है जो सहज रूप में फूट पड़ी है।

भट्टजी के नाटकों की भाषा द्वारा उनकी बौद्धिक स्पष्टता, प्रतिभा की पकड, धुली-निखरी धारणा और विश्लेषणात्मक मानसिक प्रक्रिया का पता चलता है। अनेक वाक्य तो आदर्श और कहावत के रूप मे प्रयुक्त हो सकते है। यथा—

१. युद्ध से कूटनीति ही अधिक विश्वसनीय है।

२. अज्ञान ही दु:ख का कारण है।

३. मद पतन की खाई की पहली सीढी है।

४. विवेक मनुष्य के दु:ख को जलानेवाला अमोघ बाण है।

५. सुख-दु:ख तो जीवन का लक्षण है।

लघुतम शब्दो मे विचाराधीन भावो का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है। विचार, अनुभव या अनुभूति को अत्यन्त सक्षिप्त और सूत्र रूप में प्रस्तुत करने के पश्चात् भट्टजी उसका विस्तार करते है, उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या करते है। विश्लेषण-प्रधान वाक्यों की भाषा में इतना कसाव और सघनता है कि एक भी शब्द निकाला नही जा सकता—

(क) "यह भी मनुष्य की प्रकृति है जो दूसरे के दु:ख को देखकर वह द्रवित हो उठता है। इसीलिए मनुष्य निर्लेप है। शत्रुता-मित्रता आपेक्षिक गुण हैं। मनुष्य तू महान है।"[1]

(ख) "सब कुछ हो सकता है, पर मनुष्य तो जैसे यह है ही नही। मनुष्य होना तो बडा कठिन है। मनुष्य या तो सरलता से पशु बन जाता है या फिर कठिनाई से देवता। यह दोनो ही मार्ग जीवन और समाज के लिए अहितकर है⋯⋯मनुष्य होना तो सबसे कठिन है।"[2]

विश्लेषण-प्रधान भाषा का उत्कृष्ट रूप भट्टजी के नाटकों में पाया जाता

---

१. 'सगर-विजय', पृ० १३

२. वही, पृ० १७

है—"जिस तरह इच्छा, रुचि, भावना, प्रेरणा, अनुभूति, कर्त्तव्य और ज्ञान के समूह आधार का नाम प्राण है, जीवन है, उसी तरह शान्ति, सुख, उन्नति, अधिकार, नियम के आधारभूत समूह का नाम समाज है, जिसमे देश का प्राण हँसता है।"

भट्टजी के सामाजिक नाटको की भाषा में गजब की वक्रता, विरोधाभास द्वारा अर्थ-सिद्धि, मुहावरों का अत्यन्त भाव-विधायक प्रयोग, अर्थ-शक्ति, सम्पन्नता और पैनापन है—

१. आग-पानी इकट्ठा होना, २. साँझ की धूप की तरह, ३. आँखों मे दूरी नापना, ४. प्राण कण्ठ को आना, ५. आटे-दाल का भाव मालूम होना आदि मुहावरो से भाषा अत्यन्त रोचक और स्वाभाविक बन गई है। उन्होने भाषा को मुहावरों और लोकोक्तियो से सजाकर और भी सरल व लोक-सामान्य बना दिया है।

भट्टजी ने आलकारिक भाषा का प्रयोग पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया अपितु उनकी भाषा मे अलकार स्वय ही सुन्दर ढग से व्यक्त हुए है—

उपमा—१. ठूंठ की तरह निर्जीव, कंकाल की तरह नि.शक्त, विधाता के अभिशाप।

२. जिस प्रकार काजल लगने से आँखों का प्रकाश बढता है, माँजने से पात्र चमकने लगता है, तपाने से सोना निखरता है, इसी प्रकार दु ख से, जिन्हे हम लोग जीवन की परिभाषा मे दुःख कहकर पुकारते है, पुण्य चमकता है।

३. धूप की तरह उजली आँखो मे यह पानी क्यो भर-भर आता है?

४. जीवन एक बुलबुले की तरह फेन की तरह।

भट्टजी ने नये उपमानों का प्रयोग भी किया है—

५. दूध की तरह उफन-उफनकर हृदय बैठ गया है।

६. बुलबुले की तरह आशाएँ उठ-उठकर मुरझा गई हैं।

रूपक—१. मेरे हृदय का मोती टूट-टूटकर बिखर गया है।

२. ईर्ष्या से मेघों में प्रेरणा की विद्युत छिप गई, आदि।

भट्टजी ने अलकारो के साथ-साथ भाषा को प्रतीको के प्रयोग द्वारा भी

सजीव बनाया है—

"यह आम के वृक्ष के मूल को भेदन करके वट अंकुरित हो रहा है। निश्चय ही यह आम के वृक्ष की मृत्यु की सूचना दे रहा है।"

यह वटवृक्ष शकों की विदेशी सत्ता है और आम का वृक्ष गन्धर्वसेन, अवन्ती का राजा, है।

इसी प्रकार—"नहीं जाना था कि पर्वतों की चट्टानें भी पानी पड़ते ही बालू की तरह बैठ जायँगी, समुद्र का प्रकाशस्तम्भ नदी का एक झोंका भी न सहार सकेगा। निर्बल पुरुष वटवृक्ष को नहीं उखाड़ सकता।"

नई उपमाएँ—१. पलाश को अपने निर्गन्ध पुष्प पर भी गर्व होता है।

२. परन्तु वह तो डर की तरह भयावनी, दुःख की तरह निर्बल और प्रतिज्ञा की तरह बेदर्द निकली।

अपने नाटकों की भाषा को अधिक अर्थ-बोध-सम्पन्न, व्यावहारिक, चलती हुई और व्यापक बनाने के लिए उपयुक्त वाक्य-खण्ड, पद्य-पन्क्तियाँ, आप्तवाक्य दूसरे कवियों के जड़ते चलते हैं।

उदाहरण के लिए—'जहां धर्म वहाँ जय,' 'गुन न हिरानो गुन-गाहक हिरानो है।' 'सब तें भलो है मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति।'

मानव बनाए देव दानव बनाए
यक्ष किन्नर बनाए पशु पछी नाग कारे हैं।
द्विरद बनाए लघु दीरघ बनाए
केते सागर उजागर बनाए नदी नारे हैं।
रचना सकल लोक लोकन बनाय ऐसी
जुगति में 'बेनी' परबीनन के प्यारे हैं।
(आपको) बनाय विधि धोयो हाथ जाग्यो रंग
ताको भयो चन्द्र, कर झारे भए तारे हैं।

आदि अनेक पद्य-खण्ड भट्टजी के नाटकों की भाषा में उसी का अखण्ड भाग बनकर आए हैं। सूर, वाल्मीकि, कालिदास से लिये गए अवतरण भी यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। संस्कृत उद्धरण भाषा का अंग बनकर और स्वतन्त्र

दोनो रूपों मे प्रयुक्त हुए है—

१. मैत्री बलेन जित्वा पीतो मे स्मिन्नमृतमण्ड:
   करुणा बलेन जित्वा पीतो मे स्मिन्नमृतमण्ड:

२. श्रो भूर्भुव: स्व:

३. विपस्यविषमौषधम्

आदि संस्कृत उद्धरणो द्वारा भट्टजी की भाषा को गति मिली है । उसमें सरसता, कोमलता, परिमार्जन आदि अनेक गुणों का समावेश हुआ है ।

उन्होंने व्यावहारिक भाषा का भी आश्रय ग्रहण किया है । इस प्रकार की भाषा मे सस्कृत के शब्दो का नितान्त अभाव रहता है । वाक्य छोटे एवं सरस होते है, जिसके फलस्वरूप नाटक मे अभिनेयोपयोगी रोचकता, नाटकीयता एव सजीवता आ जाती है ।

"वीणा—आपने तो हम लोगों के प्राण ही सुखा दिए ।

दिवाकर—वह मुझे पहचानने की कोशिश कर रहा था । लेकिन एक नये दिवाकर ने मुझे बचा लिया ।

वीणा—क्या आपको कभी उसने देखा है ?

दिवाकर—दो बार । वह झुटपुटे का समय था ।"

इस प्रकार भट्टजी के पात्रो मे जैसे-जैसे भावावेश, जिज्ञासा बढती जाती है वैसे-वैसे भाषा की धारावाहिकता भी बढती जाती है ।

भट्टजी ने यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद को भी अपनाया है । अतः कही-कही भावावेश मे आकर उनकी भाषा शैली उपदेश का रूप धारण कर लेती है । साम्प्रदायिकता, एकता, राष्ट्र-प्रेम, बलिदान की भावना और सामाजिक आलोचना के प्रसंगो मे उपदेशात्मक शैली का प्रयोग हुआ है—"पाप के पर्वत के टुकड़े होकर ही रहेगे । अहकार के हृदय रोकर, फूटकर, गलकर बह जाएँगे । बाहु को मार डाला । उनकी पत्नियो की यह दशा । खुलेगा, धूर्जटि का तीसरा कपाट खुलेगा । अब नही सहा जाता । देश मे विद्रोह की आग फूँक दो ।"[1]

---

१. 'सगर-विजय', पृष्ठ ५९

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको मे इतिहास की घटनाओं का, पात्रों का और जीवन से सम्बन्धित तत्वों का उल्लेख करने की प्रणाली मे वर्णनात्मकता आ गई है। भाषा मे किसी गहन विचार की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट साहित्यिक शब्द-योजना के स्थान पर सीधी, सरल शब्दावली का सहारा लेना पड़ता है। अतः भट्टजी के नाटको मे वर्णनात्मक भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है। कही-कही तो उनके पात्र इतिहासकारों की भाँति घटनाओं की ऐतिहासिक भूलो का वर्णन करने ही बैठ जाते हैं। दाहर अथवा सिन्ध-पतन मे दाहर पिता की ऐतिहासिक भूल का प्रायश्चित्त करता हुआ कहता है—

"स्वर्गीय पिता, तुम्हारे इस प्रमाद का फल मुझे भोगना पडा। सिन्ध मे जो वीर जातियाँ थी उन्हे तुम्हारे ऊँच-नीच के भावो ने विनष्ट कर डाला। हाय, वे लोहान, जाट और गूजर जो हमारे राज्य की शोभा, वीरता की मूर्ति थे, आज ऊँच-नीच के विचारो में पददलित हो रहे है······यदि हमारे पाप से अरबियो ने इस देश पर आक्रमण किया तो कैसे मैं अपनी सेना से उनका सामना कर सकूँगा। यह बडी राजनीतिक भूल हुई। हमने अपने हाथो अपना नाश किया। यदि वह लोहान, जाट और गूजर समय पर हमारी सहायता न करें तो इसमे किसका दोष होगा······।"[1]

अन्य ऐतिहासिक नाटक शक-विजय, विक्रमादित्य आदि की भाषा-शैली मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु यह लेखक की भाषा-शैली का दोष नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन करना उसके लिए अनिवार्य था। वर्णनात्मक शैली से एक ओर जहाँ उपदेशात्मकता का दोष बच गया है वहाँ नाटककार की रचनाओं को ऐतिहासिक सत्यता भी प्राप्त हो गई। वर्णनात्मक भाषा के प्रयोग का एक दूसरा कारण भी है। कथानक की शृंखला बनाए रखने के लिए, घटनाओ का पूर्वापर सम्बन्ध बनाए रखने के लिए, वर्णनात्मकता का सहारा लेना आवश्यक हो गया है।

विषय और भावानुसार ही भट्टजी ने वाक्यों का आकार बनाया है अतः

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० १०

कुछ वाक्य तो बहुत बड़े है और कुछ अत्यन्त छोटे। इस प्रकार की वाक्य-योजना द्वारा उनकी भाषा मे सजीवता है। इसके साथ वह सरस और अर्थ-बोधगम्य भी हो गई है।

अत्यन्त बड़ा वाक्य—दाहर अथवा सिन्ध पतन मे हैजाज कहता है—"मद की उत्तेजना को पचा जाना ही उसकी विशेषता है। जिस दिन मै इस उत्तेजक वारुणी को घूँट-घूँट कर पी लूँगा, जिस दिन सिन्ध की वासन्ती सुरभि के उन्मुक्त मकरन्द कण मेरे क्रोध की उत्तप्त ऊष्मा में रो छनछनाकर भस्म हो जायँगे, उस दिन मेरे हृदय में शान्ति की लहर धीमी किन्तु उत्कटता के अनुरूप राग के साथ सुख की रेखाएँ दिखला सकेगी।"[1] पचास शब्दों का पूरा वाक्य है।

अत्यन्त छोटा वाक्य—यथा "सृष्टि बडी विचित्र है।" "अज्ञान ही दुख का कारण है।" आदि। इस प्रकार भट्टजी के नाटको की भाषा नाटकोचित चलती हुई और चुस्त है; किन्तु उनके आरम्भिक नाटको की भाषा एक ओर तो सस्कृत से प्रभावित है और दूसरी ओर प्रसाद से। जिसके परिणामस्वरूप उसमे कुछ उलझन पैदा हो गई है। विशेषत. काव्यमय रगीन भाषा लिखने के प्रयत्न और चरित्र-चित्रण मे भाषा की आलकारिक और शब्द शृखला युक्त शैली के दर्शन होते हैं, परन्तु धीरे-धीरे परवर्ती रचनाओ में भट्टजी ने इस अस्वाभाविकता और उलझन का अनुभव किया। इस प्रकार अन्त मे उनके परवर्ती नाटको की भाषा प्रसंगानुकूल, अर्थ-साधन मे विलक्षण सिद्ध है। सूक्ष्मतम विचार, अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त सश्लिष्ट और अल्पतम शब्दयोजना, गम्भीर विवेचन के लिए सम्पन्न कहावतें, अनुभूति के लिए काव्यमय, नादपूर्ण, रगीन शब्दावली, अपेक्षित वातावरण के चित्रण के लिए लोक-प्रचलित स्थानीय शब्दो का चुनाव, व्यंग्य-हास्य लिखने मे व्यंजनात्मक, श्लेष-प्रधान, तिक्त, सरस, तरल शब्द प्रयोग आदि अनेक भट्टजी के नाटको की भाषा की विशेषताएँ है। प्रौढता, गठन, कसाव, जडाव, प्रसादात्मकता, व्यंग्यात्मकता, विवेचनात्मकता आदि का सामंजस्य उनकी भाषा मे सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० २६

अभिनय (रंगमंच)—नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है जिसका एक अर्थ है सात्विक भावो का प्रदर्शन और दूसरे अर्थ मे नाटक का सम्बन्ध 'नट' अर्थात् अभिनेता से है और उसकी विभिन्न अवस्थाओ की अनुकृति को ही नाट्य अथवा अभिनय कहते है। यही अभिनय तत्व नाटक की सबसे बडी विशेषता है जिसके माध्यम से नाटककार नाना समस्याएँ, मनुष्यों के चरित्र, सभ्यता और सस्कृति के स्वरूप और सुधार के उपाय दर्शको के सम्मुख प्रस्तुत करता है। अपने इसी तत्व के कारण नाटक श्रव्यकाव्य मे भिन्नता को प्राप्त होता है। अस्तु।

साधारणत नाटक मे सफल अभिनय के लिए निम्न तत्वो का सन्निवेश अनिवार्य है। यथा—

१. उसका दृश्यविधान कहाँ तक रंगमचोपयोगी है। उसका यथावत् अभिनय हो सकता है या नही। शास्त्र-वर्जित दृश्य यथा रगमच पर चीते, व्याघ्र आदि का लाना, युद्धभूमि प्रस्तुत करना, मृत्यु, हत्या, चुम्बन आदि न दिखाए जाएँ। अति-मानवीय और अति-भौतिक वस्तुओ का निषध।

२. दृश्यो के क्रमो का विशेष ध्यान रखा जाए।

३. नाटक का कलेवर सीमित होना चाहिए।

४. कथोपकथन सक्षिप्त, सरल, सजीव, पात्रानुकूल और स्वाभाविक होने चाहिए। विस्तृत कथोपकथनो तथा अधिक स्वगत-सवादो का निषेध आवश्यक है।

५. रग-संकेतो का उपयुक्त प्रयोग।

६. पात्रानुकूल भाषा।

७. सगीत एव काव्य तत्व का यथास्थान प्रयोग।

८. दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन कम हो।

९. घटनाओ के प्रस्तुत करने मे सग्रह और त्याग-प्रवृत्ति का पालन।

१०. संकलन त्रय का निर्वाह हो (घटनाओ का समय परस्पर सम्बद्ध हो)। उपर्युक्त सभी तत्वो के आधार पर भट्टजी के नाटक सफल कहे जा सकते हैं। स्वय भट्टजी के शब्दों मे—

"क्षिप्र संवादों में मुझे दिलचस्पी है, वातावरण-निर्माण के लिए मैं भाषा की लोच, वेषभूषा और रंगमंच-निर्देश तथा अभिनेयता का विशेष ध्यान रखता हूँ। मेरे नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेले गये है। अम्बा, सगर-विजय, कमला, दाहर इत्यादि नाटको को तो कई बार खेला जा चुका है और एकाकी तो प्राय सभी खेले जा चुके है।"[1]

भट्टजी के नाटक अभिनय की दृष्टि से प्राय. सफल है।

दृश्य-विधान—'शक-विजय' का दृश्य-विधान इस प्रकार है। राजमार्ग, अवन्ती-प्रदेश, मंदिर, उद्यान, लता-पुष्पो से आच्छादित कुटीर का प्रांगण, चन्द्रमा की ज्योत्सना, प्रासादोद्यान, जलती हुई आग, प्रासाद के उपकोष्ठ, वन-पथ, राजसभा आदि दृश्य सफलता से रंगमंच पर प्रस्तुत किए जा सकते है। शक-विजय मे कोई अस्वाभाविक दृश्य नही है। नदी-तट आदि के दृश्य मे कुछ आपत्ति हो सकती है, किन्तु आधुनिक रंगमंच के लिए यह असम्भव कार्य नही है। चित्रकला की दृष्टि से यह दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

'शक-विजय' के दृश्य प्राय. छोटे है किन्तु तृतीय अक का द्वितीय दृश्य अधिक लम्बा हो गया है। कठिनता से अभिनय किए जाने वाले दृश्यो के परिहार के कारण यह नाटक सफलता से अभिनीत किया जा सकता है।

दृश्य-विधान की दृष्टि से 'विक्रमादित्य' के प्रथम दो अक विशेष कठिन नही पर तीसरे अक के दृश्यो का निर्मित किया जाना कठिन प्रतीत होता है। एकदम सम्पूर्ण अक का निर्माण होने मे असम्भवता इसलिए प्रतीत होती है कि एक ही अक मे काँची के राजा का मन्त्रणागार, काली का मंदिर, काली मंदिर के सामने एक गह्वर पर्वत-शिखर की शिला और करहार का शत्रु सेना से घिरा हुआ होना तथा विक्रमादित्य द्वारा सेना का निरीक्षण—यह क्रम है। समय, स्थान और सुविधा के कारण कठिनाई प्रतीत होती है। पाँचवे अक मे लगातार प्रासादो और उद्यानो के दृश्य है। इन दृश्यो का आगे-पीछे निर्माण करना सरल काम नही है।

---

१. 'समस्या का अन्त', पृ० ७।

'दाहर' का दृश्य-विधान विक्रमादित्य से अधिक सरल और स्वाभाविक है। अधिकाश राजसभा, राजपथ, वन-पथ, छावनी, सैनिक शिविर, गाँव सैनिकों की क्षत-विक्षत अवस्था आदि दृश्य है। पहले अक के दृश्यो के निर्माण मे कोई कठिनाई नहीं होती अपितु सहायता ही मिलती है। एक दृश्य के विधान के पश्चात् दूसरे दृश्य को सरलता से निर्मित किया जा सकता है। दो बडे दृश्यो के बीच एक छोटे—सडक या वन के—दृश्य का समावेश करने के उपरान्त उनके निर्माण के लिए अवकाश निकाल लिया गया है। इस नाटक की सम्पूर्ण दृश्यावली रचना की दृष्टि से उचित कही जा सकती है। नाटककार ने युद्ध आदि की घटनाओ की ओर संकेत-भर कर दिया है, जिससे अभिनय मे सफलता मिलती है। किन्तु चौथे अक मे एक-दो दृश्य बाधा उत्पन्न करते हैं। इसके साथ ही रगमच पर कासिम का शव लाना, परमार और सूर्य की मृत्यु भारतीय दृष्टि से वर्जित है, परन्तु वियोगान्त शैली पर आधारित होने के कारण नाटककार ने ऐसा किया। दाहर अथवा सिन्ध-पतन मे दृश्य-विधान की सफलता और स्वाभाविकता का निकास होते हुए भी कुछ निर्बलता है। प्रभावशाली दृश्यो का प्रायः अभाव है, इसके साथ अक विभाजन की ओर भी विशेष ध्यान नही रखा है। प्रथम अक २८ पृष्ठ का, द्वितीय २०, तृतीय ३४, चतुर्थ १७ तथा पंचम अक ६ पृष्ठो का है, जो अभिनय मे बाधक प्रतीत होता है।

'मुक्तिदूत' में कहीं-कही बड़े रमणीय प्राकृतिक दृश्यों की सृष्टि होती है जिनमे कुछ तो (उदाहरण के लिए—तृतीय अक का दूसरा दृश्य) चित्रपट पर भी सफलतापूर्वक दिखाए जा सकते है। सिद्धार्थ के गृहत्याग और उनकी समाधि के दृश्य भी श्रमसाध्य नही है। वे सरलता से अभिनीत किए जा सकते हैं।

'मुक्तिदूत' में नाटककार ने बहुत दीर्घ अवधि तक फैली हुई घटनाओं को संक्षिप्त किया है। एक-एक दृश्य के बीच मे अनेक दृश्यों का व्यवधान है। छायाचित्र का प्रयोग के द्वारा भट्टजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। अन्तिम अंक के प्रथम दृश्य में बुद्ध को मंच पर अचल करके दृश्यों

को परिवर्तित करते चले जाने में चित्रपट की कला का प्रभाव अत्यधिक उभर आया है। इस नाटक मे भट्टजी को बुद्ध-कालीन वातावरण का स्वाभाविक चित्र अकित करने में पर्याप्त सफलता मिली है। उदाहरण के लिए—न्यायालय के दृश्य (द्वितीय अक का दूसरा दृश्य) मे उस काल के व्यक्तियों की सरलता, सत्य-प्रियता एवं उनकी नैतिकता का सुन्दर परिचय मिलता है। दोनों परस्पर-विरोधी पक्ष आदर्श भावनाओं के कारण अपने-आपको दण्डनीय मानते हैं, और दण्ड पाने के लिए तैयार हैं। न्यायाध्यक्ष के अमानुषीय न्याय को सुनकर राजकुमार सिद्धार्थ का सहानुभूतिपूर्ण हृदय काँप उठता है और उनके मुख से अनायास ही निकल पडता है—

"न्याय बडा कठोर है। उसके आँखे नही हैं, हृदय नही है, वह यन्त्र है।"[1] अतः मुक्तिदूत दृश्य-विधान की दृष्टि से अभिनय के लिए उपयुक्त है।

'सगर-विजय' का दृश्य-विधान उपयुक्त, सरल तथा नाटकीय होते हुए भी निर्दोष नही है। सघन वन प्रदेश, राजदरबार, वन-पथ, वन्दी-गृह मे अँधेरी कोठरी, अयोध्या की गलियों मे नागरिको के झुण्ड, वन-आश्रम के बाहर ऋषि बालको का खेल, अग्निहोत्र करते हुए ऋषि-मुनि, दिग्विजय के पश्चात् शिविर का दृश्य आदि का निर्माण हो सकता है। यद्यपि कोलाहल करती हुई वेगवती नदी, उसके किनारे वृक्षों के झुण्ड आदि आधुनिक रगमंच पर सरलतापूर्वक निर्मित किए जा सकते हैं परन्तु सगर-विजय मे इतने अधिक दृश्य हैं कि पहले दृश्य के पट-परिवर्तन के पश्चात् दूसरे फिर तीसरे दृश्य का निर्माण करने मे अत्यधिक समय लग जाएगा, इसके साथ-ही-साथ आगे-पीछे इन दृश्यो का निर्माण करना कोई सरल कार्य नही है। पाँचवाँ अंक तो नीरसता से पूर्ण दर्शक को थकता देने वाला है। एक के बाद एक प्रायः अनेक दृश्य बन्दीगृह के ही आते हैं। इस अंक मे कथा-प्रवाह को अत्यधिक वेग दिया गया है। इसमें सगर की बन्दी अवस्था, मुक्ति, दुर्दम की पराजय, सगर की विश्व-विजय आदि सब आ गए हैं। डा० नगेन्द्र ने ऐसे नाटकों मे कथा के अत्यन्त विस्तृत हो जाने के कारण घटना-

---

१. 'मुक्तिदूत', पृ० ५१

बाहुल्य का दोष बताया है जो अभिनय मे बाधक सिद्ध होते है। शास्त्र-वर्जित दृश्य यथा राजा बाहु का शव और उसकी चिता मे आग लगाना भी रंगमंच पर आते है। फिर भी सगर-विजय नाटक मे कुछ घटनाओ का परिहार करने के उपरान्त यह अनेक बार अभिनीत किया गया है, जिसकी विद्वानो ने प्रशंसा भी की है। डा० दशरथ ओझा के शब्दो मे, "आधुनिक युग मे कतिपय उत्तम नाटक लिखे गए है। प० उदयशकर भट्ट का सगर-विजय उनमे से एक है।'[१]

अभिनय की दृष्टि से 'अम्बा' एक सफल नाटक है। थोड़े-से श्रम और हेर-फेर से ही ये दृश्य प्रस्तुत किए जा सकते है। एक के पश्चात् दूसरे दृश्य के निर्माण मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती अपितु सहायता ही मिलती है। राजवाटिका, राजमहल, राजदरबार आदि दृश्य अधिक सरल और कम श्रम-साध्य है। 'विद्रोहिणी अम्बा' नाटक मे कुल तीन अक है जिनमे क्रमश: छ:, पाँच छ: दृश्य हैं। *अम्बा का अन्तिम दृश्य नाटकीय दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है।* भीष्म शरशय्या पर लेटे है। उनके जीवन की बीती हुई घटनाएँ विशेषत: अम्बा का वृत्त, उसका अपहरण, उसका विचित्रवीर्य से विवाह का प्रस्ताव ठुकराकर शाल्व के साथ विवाह का प्रस्ताव करना और शाल्व का मना करना आदि सभी घटनाएँ एक-एक करके भीष्म के मन मे आती है। इन विचारों के साथ-साथ भीष्म की उद्विग्नता बढती है और ज्योही भीष्म अन्तिम साँस लेते है, उसी समय शिखण्डी के रूप मे अम्बा प्रतिहिंसा से ऐंठती हुई रगमंच पर आती है, और प्रसन्नता से पागल होकर बेसुध हो गिर पड़ती है। भट्टजी का यह नाटक अनेक बार खेला जा चुका है।

भट्टजी के सामाजिक और राजनैतिक नाटक रगमच के अधिक समीप है। 'कमला' और 'क्रातिकारी' का तो सफलता के साथ अनेक वार अभिनय हो चुका है। क्रांतिकारी के अभिनय की सफलता पर कविवर पन्त की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"क्रातिकारी में भट्टजी की प्रतिभा नवीन वस्तु क्षेत्र मे प्रवेश कर उसे प्रभा-

१. 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास', पृ० ५२८

बोत्पादक रंगमंच पर प्रतिष्ठित कर सकी है। समस्त नाटक जैसे दिवाकर के बलिदान के लिए उत्पन्न यज्ञकुण्ड हो, जिसकी आत्माहुति उसकी अप्रतिहत चारित्रिक दृढ़ता को निखारती है। द्वितीय दृश्य जितना करुण तथा हृदय-द्रावक है, अन्तिम दृश्य उतना ही कठोर तथा रोमांचक.........नाटक की सर्वांगीण सफलता के लिए भट्टजी को बहुत बधाई है।"

'कमला' का दृश्य-विधान अत्यन्त उपयुक्त, सरल तथा नाटकीय है। मकान, शयन-कक्ष, अनाथालय आदि दृश्य हैं। इनमें कुछ को पर्दे की सहायता से पृष्ठभूमि में दिखाया जा सकता है। छोटे-से-छोटे निर्माण योग्य दृश्य के पूर्व ऐसा दृश्य है जिसके बार-बार बनाने की आवश्यकता नहीं। कमला नाटक भी सफलतापूर्वक बिना किसी असुविधा के खेला जा चुका है।

दृश्य विधान की दृष्टि से भट्टजी के प्राय सभी नाटक सफल कहे जा सकते हैं, फिर भी कहीं-कहीं उनके नाटकों में अरंगमंचीय दृश्य-विधान मिलता है। विशेषकर आरम्भिक नाटकों में। धीरे-धीरे बाद की रचनाओं में इसका पूर्णत: अभाव है।

कलेवर की दृष्टि से भट्टजी के नाटकों में क्रमिक विकास दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भिक नाटकों में भट्टजी को पात्रों की अधिक संख्या रखने का मोह था परन्तु शनैः-शनैः वे पात्रों की संख्या कम करते गए हैं। फिर भी ऐतिहासिक या सामाजिक नाटकों में यदि कहीं अधिक पात्र आ गए हैं तो उनका रंगमंच पर आगमन यदा-कदा ही होता है। दाहर अथवा सिन्ध-पतन में अठारह पात्र है, शक-विजय में पन्द्रह, सगर-विजय में पन्द्रह और मुक्तिदूत में भी इतने पात्र हैं। सगर विजय, कमला, अम्बा आदि नाटकों में पात्रों की संख्या उचित है। दाहर, जयशाह, विक्रमादित्य, सिद्धार्थ, सूर्य, परमाल, सगर आदि प्रधान पात्रों का चरित्र भारतीय इतिहास में अपना अत्यन्त महत्त्व रखता है।

नाटक में पात्रों की संख्या के सदृश ही कथानक का विस्तार बहुत अधिक लम्बी अवधि में नहीं करना चाहिए। मुक्तिदूत, अम्बा, सगर-विजय, कमला, पार्वती, क्रांतिकारी आदि अन्य नाटकों का कलेवर अत्यन्त संक्षिप्त है। ऐतिहा-

सिक घटनाओं की संक्षिप्तता का भट्टजी ने पूर्णतः ध्यान रखा है। कथावस्तु को संक्षिप्त रखने के कारण अनेक नाटकों मे भट्टजी ने सकेत-मात्र कर दिया है। उदाहरणतया युद्ध आदि के वर्णनो को सूचित-मात्र किया है। भट्टजी की सबसे बडी विशेषता है कि उन्होंने संक्षिप्त कथानक में पात्रों के क्रिया-कलाप द्वारा उस समय के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक वातावरण को स्पष्ट रूप से अंकित किया है। सीमित कलेवर ही भट्टजी के नाटक की प्रमुख विशेषता है।

वातावरण—नाटक की अभिनेयता पर वातावरण का भी प्रभाव पडता है। बिना अनुकूल वातावरण के रचना में सजीवता एवं नाटकीयता नही आ पाती। वातावरण इतिहास-तथ्यो से व्यक्त और कुछ तत्कालीन स्थिति के अनुसार कल्पित कर लिया जाता है। घटना के समकालीन रीति-रिवाज, रहन-सहन और सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाएँ सभी नाटक की भूमि मे सहयोग देते है। भाषा का अनुकरण भी वातावरण में सजीवता उत्पन्न करता है। भट्टजी ने अपने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटको मे भाषा, प्राचीन कला, वेषभूषा आदि का समुचित ध्यान रखा है। मुसलमानी एवं अंग्रेजी पात्रो के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यथा -'यस प्लीज रिंग अप इन दि आफिस' असबाब, हुजूर आदि। सामाजिक नाटको मे घरेलू वातावरण, कौटुम्बिक जीवन के स्वाभाविक चित्र उपलब्ध होते है। भट्टजी ने राजनैतिक जीवन की प्रेरणा से जो नाटक लिखे है उनमें समकालीन स्थितियों और वातावरण का चित्रण किया है। वातावरण को अत्यधिक स्पष्ट करने के लिए भट्टजी ने अपने नाटको मे प्राचीन और अर्वाचीन शिल्पकला का भी चातुर्य के साथ वर्णन किया है। मकान, बरामदे, क्लब आदि का वर्णन पृष्ठभूमि मे दे दिया है। इसके परिणामस्वरूप एक तो अभिनय के लिए स्पष्ट संकेत प्राप्त हो जाते है; दूसरे पाठक के सम्मुख अभिनीत दृश्यो का वास्तविक वातावरण उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार भट्टजी ने रंगमच के लिए अनेक सुविधाओं का विधान कर दिया है।

कथोपकथन—प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद किए है—नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य या स्वगत-कथन। भट्टजी के नाटकों के

कथोपकथन जहाँ भावानुकूल भाषा से युक्त हैं, वहाँ उन्होंने कथोपकथनो की उक्त तीनो प्रणालियो का यथावसर प्रयोग किया है।

नाट्यशास्त्र में संवादो के कई प्रयोजन बताए गए हैं जिनमे से निम्नलिखित मुख्य हैं—सवाद विशेषतः अभीष्ट साधक हो, वस्तु सविधान मे साधन रूप से सहायक हो, चरित्र-चित्रण मे पूरा योग दें, सुगुम्फित और सार-गर्भित हो, व्यावहारिक और यथार्थ हो, विषय की प्रकृति के अनुसार वेगयुक्त या मन्द-गामी हों, सवाद रसानुकूल हो, इत्यादि।

भट्टजी के नाटकों मे सवाद उपर्युक्त सभी प्रयोजनो की पूर्ति करते हैं। उनके नाटको के कथोपकथन नाटक की कथावस्तु को अग्रसर करने मे सहायक सिद्ध होते है। कथोपकथन छोटे और गति की तीव्रता से युक्त है। चरित्र-चित्रण मे भी पूरा योग देते चलते हैं। वे सरल, सक्षिप्त, प्रभावोत्पादक, व्यंजक, स्वाभाविक, पात्रानुकूल और नाटकोचित है। हृदय मे उठनेवाले बवडर को कम शब्दो में व्यक्त किया है, जिससे रोचकता बढती है—

"महाराज, इन स्वरो की साधना यदि एक बार तुम देख पाते, इस प्यास को यदि एक बार भी बुझा सकते, इस हृदय को एक बार भी विलास की उत्तंग ऊर्मियो में उँडेलकर मेरे जीवन की तूफानी धार मे बहा सकते। पर तुम्हे क्या! भोगो! भोगो।"[1]

इन पक्तियो मे पति द्वारा तिरस्कृत नारी-हृदय की व्यथा है, जिसको भट्टजी ने अत्यन्त रोचक शब्दो मे व्यक्त किया है।

कही-कही कथोपकथनो मे मार्मिक व्यंजना के कारण सुदूरव्यापी अनुभूति का परिचय मिलता है। भट्टजी के कथोपकथनो मे भाव अथवा भाषा की क्लिष्टता का पूर्णतः अभाव है। हृदय की भावनाओं को व्यक्त करनेवाले शब्दो मे भावना की गम्भीरता, कथन की गुरुता सर्वत्र सुरक्षित है। मार्मिक व्यजना के कारण भावुकता और कवित्व का पुट मिलता है—

"प्रस्फुटित कमल पथ पर पड़ा हुआ भी अपने सौन्दर्य को नहीं छिपा

---

१. 'सगर-विजय', पृ० २६

सकता। चन्दन घिसने पर और भी सुगन्धित होता है—यही अवस्था है उस रमणी की।"[1]

शक-विजय मे सरस्वती और राखी के संवाद इतने कवित्वमय है कि कविता का आनन्द आता है और अन्त मे सरस्वती का संवाद पौरुष की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। 'कालिदास और दो ध्वनि-रूपकों' के संवादों मे सरसता, सजीवता और कवित्व है। कवित्वपूर्ण संवाद का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

"उड़ते हुए भौंरे और खिले हुए तिलक के फूल प्रातःकाल के सूर्य की लाली से चमकनेवाली कोंपलें ऐसी लगती थीं, मानो वसन्त-श्री-रूपी लक्ष्मी ने भौंरो के अंजन से अपना मुँह चीतकर अपने माथे पर तिलक के फूल का तिलक लगाकर और प्रातःकाल निकलनेवाले सूर्य की लाली से चमकनेवाले आम की कोंपलो से अपने ओठ रँग लिए हों।"[2]

उनके स्त्री पात्रो के कथोपकथनो मे युक्ति, तर्क एवं नारी-सुलभ सहज कोमल, विशाल पवित्रता के दर्शन होते है। उदाहरण—कथोपकथनो मे सिद्धान्त वाक्य, मर्मस्पर्शी उक्तियों को भी भट्टजी ने उचित स्थान दिया है। यथा—

१ मनुष्य-स्वभाव कितना भयंकर होता है !

२ अभिमान पाप का सबसे प्रिय मित्र है।

३. अज्ञान ही दुःख का कारण है।

४. विचारो से ही मनुष्य का निर्माण होता है।

५. मनुष्यता से गिरे हुए व्यक्ति छल-छिद्र से कार्य-सिद्धि की आशा करते है।

भट्टजी के नाटको मे कथोपकथनो की शैली मनोवैज्ञानिक है। भाव और विषय के अनुसार ही धारावाहिकता तीव्र होती जाती है। भाव, भाषा तथा अभिनय की दृष्टि से उनके कथोपकथन अत्यन्त नाटकोचित है। उदाहरणतया—

---

१. 'कालिदास', पृ० २८

२. वही, पृ० १६

"बर्हि—डरपोक, कायर।

दुर्दम—मैं कायर हूँ ? (क्रोध से) मुझे कायर कहती है। जानती है इसका क्या परिणाम होगा ?

बर्हि—(हँसकर) सब जानती हूँ। खूब जानती हूँ। नीच, कृतघ्न, पापी, कुत्ते कहीं के ! कपट से विजय पानेवाले कभी उसकी रक्षा नहीं कर सकते।

दुर्दम—(क्रोध से पैर पटककर) इतना साहस !

बर्हि—वह मुझे लेने कहीं जाना न पड़ा।

दुर्दम—मैं नीच हूँ ? (उसकी ओर देखकर सहम उठता है)

बर्हि—कायर।

दुर्दम—(घबराकर) क्या चाहती है ?

बर्हि—(उसी तरह हँसकर) मुझे बुलाया था। मुझे पकड़ने को सैनिक भेजे थे। मैं स्वयं आ गई। (उसकी आँखों में घूरकर देखती है)

दुर्दम—(पलंग पर बैठ जाता है, इधर-उधर देखकर कुछ सोचता हुआ) मैंने बुलाया था ? भयंकर……भयंकर, क्रूर। उधर रह वहाँ। (आसन की ओर संकेत करता है।)"[१]

विक्रमादित्य, शक-विजय, दाहर अथवा सिन्ध-पतन, अम्बा आदि ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के संवादों की भी यही विशेषता है।

भट्टजी के कथोपकथनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे आधुनिक वातावरण के अनुकूल हैं। उनमें हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है इसीलिए वे दर्शकों को अधिक आकर्षित करते हैं। यथा—

"मनुष्य जाति बड़ी निठुर है, वह स्वार्थ से प्रेम करती है, वासना की पूजा करती है और सदा से अपनी आँखों की जलन को दूसरे की आँखों के पानी से बुझाती आई है।"[२]

---

१. 'सगर-विजय', पृ० ३८

२. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृ० ४२

वर्तमान नारी के पुरुष के प्रति यही विचार हैं ।

नाटकीयता की दृष्टि से भट्टजी के कथोपकथन अत्यन्त सफल हैं । सामाजिक नाटको के संवाद प्राय: सजीव, स्वाभाविक और गतिशील हैं। सामाजिक नाटको के कथोपकथन अपनी व्यंजना और तीखी चोट के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। सामाजिक नाटक कमला, पार्वती, नया समाज, अन्तहीन अन्त आदि मे संवादो के चुटीले तीव्रता की लक्ष्य के प्रति अन्विति से नाटक अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते है। इन नाटको के कथोपकथन संक्षिप्त है, विचारानुकूल है। उनमे स्वाभाविकता, चारित्रिकता प्रकट करने का मुख्य ध्यान रखा गया है। उदाहरण-स्वरूप कुन्त के शब्दो मे बर्हि का चरित्र—"स्पर्धा, प्रतिहिंसा का इतना उग्र रूप······कभी न देखा था। गई, साँपिनी-सी फुफकारती, चोट खाई सिंहनी-सी।"[1] कुन्त के शब्दों द्वारा बर्हि का चरित्र क्रोध, प्रतिहिंसा, क्रूरता और भयानकता से परिपूर्ण है।

सरदार के शब्दो में दाहर का चरित्र—

"तुम क्या जानो, महाराज दाहर कितने प्रजा-रक्षक हैं, ज्ञानी और वीर हैं। उनके राज्य मे शेर और बकरी एक घाट पानी पीते हैं।"[2] सरदार के संवाद द्वारा दाहर की प्रजा के प्रति स्नेह-भावना, समान दृष्टि आदि चारित्रिक विशेषताएँ ज्ञात होती है।

इसी प्रकार कमला के द्वारा प्रतिमा के चरित्र का पता चलता है। कालकाचार्य, विक्रमादित्य, परमाल, सूरज, बर्हि आदि का चरित्र उनके क्रिया-कलापों से ही ज्ञात होता है। सोमेश्वर, चन्द्रकेतु, परमाल, कासिम के चरित्र मे आपसी गुणों को व्यक्त किया गया है। परिस्थितियो के अनुसार चरित्रो में विकास और ह्रास भी दिखाया है। उनके नाटकीय कथोपकथनों के द्वारा एक ओर पात्रो के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और दूसरी ओर वस्तु के विकास में सहायता मिलती है। 'क्रान्तिकारी' नाटक के कथोपकथनो की बौद्धिकता, वक्रता,

---

१. 'सगर-विजय', पृ० ५१

२. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ५

व्यंग्य, वैदग्ध्य आदि नाटक को सजीव बनाते हे। प्रस्तुत नाटक मे दिवाकर के संवाद प्राणमय, सुगुम्फित और सार-गर्भित है।

भट्टजी के प्रायः सभी नाटको मे अधिकाश सवाद प्रभावोत्पादक हैं। वे पात्रो के चरित्र-विकास और कथानक के विस्तार मे यथेष्ट सहायता देते है। उनके नाटकीय पात्र परस्पर के सम्भाषणो एवं कार्यों से अपने मनोगत भावो को स्पष्ट करते हुए अपना व्यक्तित्व प्रकट करते हे। यद्यपि उनके संवादों में पर्याप्त सजीवता हे, तो भी कही-कही अनावश्यक रूप से विस्तृत होने के कारण कुछ खटकते है। वे घटना-व्यापार और नाटकीयता की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीत होते हे—

"कहीं सत्य रूप से स्पष्ट, कहीं असत्य रूप से अस्थिर, कहीं कोमलांगिनी वीरांगना के समान छलमयी, समय के उलट-फेर मे, हिंसा की उग्रता मे, दयालुता के आँचल मे, स्वार्थ के उत्संग मे, उदारता की ओट मे, धन-रत्न के प्रलोभन में राजनीति अपनी कार्य साधना मे सन्नद्ध रहती है, यह चरो के चक्षुओ से, न्याय के कान से, निश्चय के मुख से, सन्देहमय सकल्प से सबका निर्णय करती है।"[1]

दाहर अथवा सिन्ध-पतन के अतिरिक्त विक्रमादित्य में साढे तीन पृष्ठ तक के सवाद एक ही पात्र करता है। शक-विजय मे भी कही-कहीं पर संवाद बहुत लम्बे हो गए है, जैसे प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य मे सौम्या के कुछ सम्भाषण तथा प्रथम अंक के पंचम दृश्य मे मखलिपुत्र के सवाद। वार्तालाप के बीच में इस प्रकार के लम्बे-लम्बे भाषण कथोपकथन के विषय की प्रकृति के वेग अथवा गति मे, कथानक की प्रगति में बाधा डालते हें; परन्तु इसका कारण भट्टजी की सरस भावुकता ही है।

भट्टजी के सवाद रसानुकूल हैं। जहाँ वीररस का प्रसंग है वहाँ भट्टजी ने उसी रस के अनुसार पदावली, भाषा एव भाव-योजना का प्रयोग किया है, और जहाँ पर शृङ्गार का वर्णन है कथोपकथनों की पदावली कोमलकान्त

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ६

एव सरस है। मधुर और कोमल शब्दों का प्रयोग है। शान्तरस के अनुकूल गम्भीर एवं शान्त वातावरण दिखाने की चेष्टा की गई है।

रगमंच की दृष्टि से नाटकों मे स्वगत-कथनों का अनेक विद्वान महत्त्व नही मानते। ऐसे स्वगत-कथन जो रगमंच पर अन्य पात्रो की उपस्थिति में किसी पात्र द्वारा व्यक्त किए जाते है अवश्य ही अस्वाभाविक होते है, किन्तु जहाँ पात्र अकेला ही रगमच पर उठनेवाले भावो को व्यक्त करता है, वहाँ वे स्वगत अस्वाभाविक नही कहे जा सकते। भट्टजी के आरम्भिक नाटको मे स्वगत-कथनों की भरमार है, जिनसे नाटकीय प्रभाव कम हो जाता है। विक्रमादित्य मे पहले अंक के दूसरे दृश्य में सोमेश्वर का डेढ पृष्ठ, तीसरे दृश्य मे विक्रमदित्य का साढे तीन पृष्ठ, तीसरे अंक के दूसरे दृश्य मे चेगी का डेढ पृष्ठ, चौथे अक के पहले दृश्य मे प्रधानमन्त्री का डेढ पृष्ठ, पाँचवे अंक के दूसरे दृश्य मे विक्रमादित्य का दो पृष्ठ का स्वगत-भाषरण है। ये सभी स्वगत-भाषरण पात्र अकेले बैठे-बैठे ही करते है। 'विक्रमादित्य' नाटक के पहले अंक के दूसरे दृश्य मे चन्द्रकेतु स्वगत-भाषरण करता है, उसके प्रत्युत्तर मे सोमेश्वर भी स्वगत-भाषरण करता है। अनेक स्वगत-कथनो मे अपने सामने बैठनेवाले के विपरीत ही बातें कही गई हैं। 'दाहर' मे 'विक्रमादित्य' के सदृश विरोधी स्वगत नही है फिर भी स्वगत-कथनो की भरमार है। पहले अक का दूसरा दृश्य दाहर के दो पृष्ठ के स्वगत से आरम्भ होता है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य का आरम्भ हैजाज के एक पृष्ठ के एक स्वगत से होता है। चौथे अंक के दूसरे दृश्य में युवराज जयशाह भी दो पृष्ठ का स्वगत कहकर अपने अधिकार का उपयोग कर लेता है। 'सगर-विजय' में अन्तर्द्वन्द्व दिखाने के कारण लेखक को स्वगत का बहुत अधिक सहारा लेना पडता है। अनेक दृश्य स्वगत से ही आरम्भ होते है जो दो-तीन पृष्ठों तक चलते है। 'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' मे यह प्रवृत्ति कम हो गई है। एक-दो स्वगत-कथन आए है। उदाहरण के लिए शक-विजय मे द्वितीय अंक के दूसरे दृश्य मे तथा तृतीय अंक के तीसरे दृश्य मे आचार्य कालक के स्वगत-कथन, तृतीय अंक के चौथे दृश्य में सरस्वती के स्वगत-भाषरण जोकि नाटकीय दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। 'मुक्तिदूत' के कथोपकथन प्रायः सजीव, सबल

और सार्थक हैं। इस नाटक मे लेखक ने आधुनिक सिद्धान्तानुसार स्वगत का प्रयोग यथासम्भव कम करने का यत्न किया है। केवल दो-तीन अवसरो पर ही सिद्धार्थ अथवा गोपा स्वगत का प्रयोग करते है और वह भी तब जबकि स्वगत की योजना अनिवार्य प्रतीत होती है। जैसे द्वितीय अंक के चौथे, पाँचवे तथा छठे दृश्यों मे। 'कमला' मे यह प्रवृत्ति दूसरे रूप मे है, यथा, एक पात्र के स्वगत-कथन द्वारा अन्य के चरित्र पर प्रकाश डाला है। कमला प्रतिमा के और देवनारायण कमला के चरित्र का उद्घाटन स्वगत द्वारा ही करते हैं। भट्टजी के नाटकों मे ये स्वगत-कथन कही-कही अरोचकता एव अस्वाभाविकता उत्पन्न कर देते है, क्योकि वे आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए है। भट्टजी ने नाटको में परिस्थिति के अनुसार नेपथ्य-भाषित और आकाश-भाषित का भी प्रयोग किया है। उदाहरणतया, आकाश-भाषित—

"विक्रम—(आकाश की ओर देखकर) पिता ! पूज्य पिता ! क्या आप यह स्पष्ट रूप से नहीं देख रहे कि मैंने भाई का कुछ भी अपकार नहीं किया। हा हन्त !"[1]

अन्त मे सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी के नाटकीय कथोपकथन अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सफल कहे जा सकते है। उनके नाटको के कथोपकथन उद्देश्यपूर्ण है, नाटकीयता से युक्त है।

रंग-संकेत—यह नाटक की एक ऐसी विशेषता है जिसके द्वारा नाटक रंगमंच के अधिक उपयुक्त हो जाते है। भट्टजी ने अपने सभी पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटको मे इसका पूर्ण रूप सेनिर्वाह किया है और निरन्तर स्थान, वातावरण, समय, दृश्य-विधान, पात्रो की वेशभूषा, मुखाकृति, कथोपकथन आदि के सम्बन्ध में सकेत देते गए है। आरम्भिक रचनाओ मे राजमहल, राज-दरबार, शयनकक्ष, वन आदि स्थान-सूचक शब्दों का प्रयोग किया; किन्तु धीरे-धीरे अपने नाटकों में उन्होने स्थान की पूरी सज्जा की है। दृश्य को सँजोकर सामने रख देते है, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर जहाँ नाटक के निर्देशन मे

१. 'विक्रमादित्य', पृ० २१

सहायता मिलती है वहाँ दूसरी ओर पाठक या दर्शक को अपने सम्मुख दृश्य का साक्षात्कार हो जाता है। यथा—

"अवन्ती में महाकालेश्वर के मन्दिर से कुछ दूर उद्यान में एक कुटीर। लता, पल्लवों और पुष्पों से आच्छादित उस कुटीर के प्रांगण में काष्ठपीठ पर व्याघ्रचर्म बिछा है। योगी मत्स्लिपुत्र प्राय: दर्शनार्थी भक्तों के लिए इसी स्थान पर बैठते हैं। इसीलिए काष्टपीठ के चारों ओर दूर तक उपलिप्त भूमि में कुशासन बिछे हैं। दूर तक निर्जनता, कभी-कभी महाकाल के मन्दिर का घंटानाद ध्वनित होकर प्रदेश की निर्जनता में व्याघात डाल देता है·········आदि।"[1]

इस प्रकार दृश्य का सम्पूर्ण चित्र रंग-संकेत के द्वारा स्पष्ट हो गया है और पाठकों के लिए वातावरण भी तैयार हो जाता है। भट्टजी के नाटकों में रंग-निर्देश लम्बे और व्यापक हैं।

भट्टजी के नाटक के रंग-संकेतों में स्थान, वातावरण और पात्र के व्यक्तित्व-सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें, सूक्ष्म तत्व, कार्य-कलाप, बैठने की स्थिति तक दी जाती है। रंग-निर्देश में ही पात्रों का चित्रण संक्षिप्त किन्तु अपने-आप में पूर्ण होता है—मुक्तिदूत में गोपा का चित्र पूर्ण रूप से अंकित हो जाता है—

"उद्यान में गोपा और उसकी दो सखियाँ विद्यमान हैं। गोपा बैठी है एक झूले पर, सामने बिछे हुए आसनों पर वाद्य-साधनों के साथ सखियाँ बैठी हैं। गोपा कुछ उन्मन है, सखियाँ उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रही हैं। सब कन्याओं की वेशभूषा सुन्दर, कटि के नीचे रेशमी वस्त्र, स्तन चोली से ढके हुए, बाल लहराते हुए और फूलों से गुथे हुए। एक के सिर पर एक वेणी है, दूसरी के दो। शरीर पर आभूषण। गोपा सत्रह साल की, उभरे हुए यौवन की, शांत-गम्भीर आकृति की वयस्क बाला है। उसके केशपाश फूलों से गुथे हुए सहज, सतेज, सुन्दर मुखाकृति, गेहुआँ रंग, दुबली देहयष्टि, विशाल नेत्र गहराई लिए

---

१. 'शक-विजय', पृ० ७

कर्ण-विस्फारित बैठी सोच रही है। हाथ मे एक फूलों की माला है जिसके एक-एक फूल को मानो ध्यान से देख रही है, कभी ध्यानस्थ हो जाती है, कभी सखियो की ओर देखने लगती है।"[१]

भट्टजी के अन्य नाटको मे अभिनयशीलता की कमी नही। उनके सभी नाटको के रग-सकेत अभिनय और भाव-प्रकाशन के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध होते है।

संगीत और काव्य तत्त्व की दृष्टि से उनकी बाद की रचनाएँ आरम्भिक रचनाओ की अपेक्षा अधिक सफल है। उनके गीतो मे नाटकीय उपयुक्तता सफलता से अकित हुई है। उनके नाटकीय गीत वातावरण, प्रसग, पात्र के चरित्राकन और मनोदशा से पूर्णत. सम्बन्धित हैं। नाटको मे विद्यमान सगीत तत्त्व ने ही उनके नाटको को वास्तविक दृश्य-काव्य का रूप दिया है। अनेक दृश्य जो रगमच पर प्रदर्शित नही किए जा सकते, उनका प्रदर्शन भट्टजी ने सगीत तत्त्व के द्वारा किया है। यद्यपि भट्टजी ने सगीतात्मकता और स्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है, पात्रो के आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही व्यक्तित्वो को स्पष्ट किया है, कथा की गतिशीलता मे अपूर्व योग दिया है। फिर भी आरम्भिक नाटकों मे गीतों की प्रधानता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टजी के दाहर और विक्रमादित्य के पात्रो को तो गाने का ही रोग है, जो अभिनय की दृष्टि से भी उकता देने वाला है। सामूहिक रूप से कहा जा सकता है कि कुछ गीतो को छोडकर शेष सभी गीत रगमच की दृष्टि से सफल हुए हैं।

इनके अतिरिक्त भारतीय नाट्यशास्त्र-मनीषियो ने अभिनय के चार प्रकार बताए हैं—

१. आंगिक अभिनय से आशय शरीर के विभिन्न अङ्गो से है। शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गो का संचालन, विभिन्न रसों के अनुकूल दृष्टि मे परिवर्तन, हँसना रोना, लज्जित या सकुचित होकर दृष्टि नीची कर लेना आदि कायिक चेष्टाएँ इसी के अन्तर्गत आती है। भट्टजी ने स्थान-स्थान पर कोष्ठकों में

---

१. 'मुक्तिदूत', पृ० ३०

आंगिक अभिनय के लिए संकेत दिये है। अपने नाटकों मे जहाँ-जहाँ लज्जित और सकोच से सिर नीचा करना, चौककर, तलवार आदि खीचकर, मदिरा-पात्र रखकर, इङ्गित करके, मसनद के सहारे बैठकर आदि शब्दो और वाक्याशों का प्रयोग किया है वहाँ आंगिक अभिनय को पूर्णता दी है।

२. वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से है। वचन या स्वर मे विविधता लाना ही वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। भट्टजी के नाटको मे जहाँ-तहाँ—प्यार भरे उलहनों से, व्यग्य-भरे स्वर मे, उपेक्षापूर्वक, परिहास से, क्रोध से दाँत पीसकर, कठोर शब्दों मे, प्रसन्न होकर आदि शब्द-योजना का प्रयोग वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है।

३. सात्विक अभिनय में सात्विक भावो—स्वेद, रोमाच, कम्प, स्तम्भ, अश्रु आदि के अभिनय का भाव रहता है। भट्टजी ने इसके अन्तर्गत खोई हुई सी खडी है, भावाभिभूत होकर, आँखों मे अश्रु भरकर, रोमाच आदि शब्दावली का प्रयोग किया है।

४. आहार्य मे वेश-भूषा, आभूषण, वस्त्र आदि साज-सज्जा का संकेत होता है। भट्टजी ने आहार्य के संकेत यथा—जार्जेट की साड़ी, माथे पर बिन्दी, कानों मे डायमण्ड-क्रास-इयरिंग, लाल रंग की चप्पल आदि अपने नाटकों मे प्रयुक्त किए है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी की नाट्यकला का क्रमिक विकास हुआ है। उनके आरम्भिक नाटकों की अभिनय कला आदि निर्बल है, उनकी कथा का गठन भी शिथिल है, दृश्य-विधान भी जटिल है, स्वगत एव अनावश्यक गीतो की भारमार है; परन्तु धीरे-धीरे उनके नाटकों की कथा मे कसाव, दृश्यों का सरल विधान, स्वगत कथन व अनावश्यक गीतो की कमी, सफल अभिनय के लिए कार्य-व्यापार, कौतूहल, जिज्ञासा और अचानक घटनेवाली घटनाओं का होना आदि सभी दृष्टि से उनकी कला में विकास हुआ है। उनके नाटकों के आरम्भ और अन्त भी प्रभावोत्पादक हैं। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि नाटको के तत्त्वों के आधार पर भट्टजी के नाटक सफल हैं।

प्रस्तुत अध्याय का सार

भट्टजी ने अपने नाटकों के लिए विस्तृत क्षेत्र चुना। ऐतिहासिक, पौराणिक और समाजिक आदि सभी को उनका वर्ण्य विषय बनाया। राजनीतिक, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको के द्वारा भट्टजी ने वर्तमान परिस्थितियो पर प्रकाश डाला है। अपने नाटको द्वारा राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने के लिए उत्तम आदर्श प्रस्तुत किये है। भारत मे प्राचीन काल से लेकर आज तक किस प्रकार धार्मिक, समाजिक और वर्गवाद आदि के वैमनस्य, धार्मिक असहिष्णुता, रूढियाँ आदि पतन की ओर उन्मुख करते रहे—यही उनके ऐतिहासिक, पौराणिक नाटको की कथा है। अपने नाटकों की विषय वस्तु के सम्बन्ध मे भट्टजी का कथन इस प्रकार है—

"हमारी जातीयता मे धर्मवाद की निकम्मी-थोथी रूढियों ने हमे विवेक से गिरा दिया है। मनुष्यत्व से खींचकर दासता, भ्रातृ-विद्रोह, विवेक-शून्यता के गढे में ले जाकर पीस दिया है।"[१]

सामाजिक नाटको मे समाज के खोखलेपन और उनकी कुत्साओं का यथार्थ चित्र अंकित किया है।

भट्टजी के नाटको को भारतीय और पाश्चात्य मनीषियो द्वारा निर्धारित नाटक के तत्वों के आधार पर परखने से ज्ञात होता है कि उनके नाटकों की आत्मा भारतीय और शरीर पाश्चात्य से प्रभावित है।

पात्र—भट्टजी के पात्रो के चरित्र-चित्रण की सबसे बडी विशेषता है कि पात्रो के ऐतिहासिक और पौराणिक होते हुए भी उनके चरित्र अत्यन्त विकसित दिखाए है। उनके पास मानव का हृदय है। वे अपने ऐतिहासिक और पौराणिक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी वर्तमान जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि भट्टजी के ऐतिहासिक पात्रो के जीवन मे उत्थान-पतन, मानस का द्वन्द्व और भाव-संघर्ष आदि पर्याप्त मात्रा मे मिलता है किन्तु उनमे

---

१. 'शक-विजय', भूमिका, पृ० ४

साधारणीकरण के अनुसार ही अधिकतर चरित्रों का निर्माण किया है।

उनके ऐतिहासिक, पौराणिक पात्रो को उपेक्षित नही जा सकता, किन्तु भट्टजी ने गौण पात्रो को अपनी रुचि का विषय बनाया है। प्रमुख पात्रो को गन्तव्य लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए उन्होने काल्पनिक पात्रो का निर्माण किया है। ऐतिहासिक पात्रो को तोडने-मरोडने का बहुत कम प्रयत्न है। अम्बा और सगर-विजय मे यदि तोडा भी है तो उसे बड़ी कुशलता से ऐसा जोड़ दिया है कि उनका पार्थक्य मालूम नही होता।

प्रतीकात्मक साकेतिक नाटको मे काम, जरा, वासना, यौवन, आगन्तुक, विचारक, स्त्री, स्मृति, युवती, जवानी सबका काल्पनिक प्रतीक है। नाटककार ने सबसे अधिक रचना-चातुर्य इन्ही पात्रों के निर्माण से प्रदर्शित किया है।

भट्टजी के स्त्री पात्रो मे प्रेम के अतिरिक्त मानव-हृदय की अन्य उदात्त वृत्तियाँ भी है। जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-कल्याण-कामना आदि उदात्त वृत्तियो से उनकी नारियाँ गौरवशालिनी है। वे अपनी सत्प्रेरणा से पुरुषो का मार्ग प्रदर्शित करती है।

इसके अतिरिक्त भट्टजी ने अपने पात्रों के गुणो और स्वभाव के अनुरूप ही नामो का चयन किया है। पात्रो के सामाजिक और बौद्धिक स्तर के अनुसार ही उनके चारो ओर अनुकूल वातावरण रहता है। राजा, धनी व्यापारी, जमीदार, ताल्लुकेदार आदि का स्तर मध्यम वर्गवाले डाक्टरो, वकीलों, मजदूरो आदि से भिन्न है।

भाषा—भट्टजी के नाटको की भाषा विशुद्ध हिन्दी है। संस्कृत के पंडित होने के कारण उन्होने अपनी भाषा मे संस्कृत के तत्सम शब्दों का विशुद्ध प्रयोग किया है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त संयत, भावानुकूल और प्रभावपूर्ण है। रस और प्रसग के अनुसार ही उनकी भाषा मे कभी प्रसाद, कभी माधुर्य और कभी ओजगुण की प्रधानता रहती है। तत्सम-प्रधान भाषा होने पर भी क्लिष्ट नही है। उनके शब्द सरल और भावव्यजक होते है। साकेतिक भाषा का प्रयोग दर्शको व पाठको को दृष्टि मे रखकर किया है। अतः उनकी भाषा

सरल, स्वाभाविक, प्रसाद, ओज और माधुर्यगुण-युक्त तथा प्रवाहपूर्ण है।

देश, काल और पात्रो की स्थिति, उनके सामाजिक, शैक्षिक और बौद्धिक स्तर के अनुकूल शब्द-योजना भट्टजी के नाटको मे मिलती है। ऐतिहासिक, पौराणिक नाटको मे काल के अनुसार सस्कृत, अग्रेजी, उर्दू, फारसी और अरबी शब्दो का प्रयोग करवाया है। उनकी सरल भाषा मे लाक्षणिकता, भाव की व्यजना अत्यन्त गम्भीर है।

कथोपकथन—उनके सवाद नाटकोचित सभी प्रयोजनो की पूर्ति करते है। वे कथानक को अग्रसर करते है, छोटे और गतिशील है, चरित्र-चित्रण मे पूरा योग देते है। भट्टजी के कथोपकथन नाटकीयता, क्षिप्रता, लघुता, कथा के अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता, पात्रों के चरित्र-चित्रण एव अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने की क्षमता, कथा को विकसित कर अन्त की ओर अग्रसर करने की क्षमता, सरलता, पात्रानुकूलता आदि से युक्त है।

शैली—भट्टजी के नाटक वियोगान्त, सयोगान्त और प्रसादान्त शैली पर आधारित है।

अभिनय—अभिनय की दृष्टि से भट्टजी के नाटक सफल है। उनके रग-सकेत अत्यन्त व्यापक है, दृश्यो का निर्माण सरल व सहज है। पात्रो के वाचिक अभिनय के साथ-साथ आगिक और सात्विक अभिनय भी स्वाभाविक है। शास्त्र-वर्जित दृश्यो का प्रायः अभाव है। नाटको का कलेवर सक्षिप्त है जो सरलता से अभिनीत हो जाते है। भट्टजी के नाटको का अनेक बार अभिनय हो चुका है।

निष्कर्षत. कह सकते है कि भट्टजी के ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक नाटक नाटकीयता की दृष्टि से सफल है।

३ | भावनाट्य और गीतिनाट्य

संस्कृत काव्य-शास्त्रियो ने गद्य और पद्य दोनो को काव्य की परिधि के अन्तर्गत रखा है और दोनो के रचयिताओ को कवि नाम से विभूषित किया है। काव्य की इन दोनों विधाओ का लक्ष्य समान रूप से पाठक या सहृदय को रसानुभूति कराना होता है। जिसमे कविता के साथ साथ रूपक का समावेश भी हो उसे काव्य-रूपक या गीतिनाट्य कहते है। रामगोपालसिंह चौहान के अनुसार—

"भावनाट्य वे रचनाएँ है, जिनमे भावमयता, अनुभूति की तरलता और पात्रो के आन्तरिक सघर्ष का विशेष ध्यान रखा जाता है। भावनाट्यो में मानसिक, कायिक, वाचिक तीनो माध्यमो द्वारा मानव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की जाती है। दूसरे शब्दो मे भावनाट्य वह नाटक है जो अपने आन्तरिक अनुभवों से प्रेरित होकर बाह्य जगत् मे अपना मानस रूप स्थापित करता है। इसके द्वारा हृदय की तरगे प्रकृति या जीवन की बाह्याभिव्यक्ति से समन्वित होकर कायिक, वाचिक और मानसिक अभिव्यक्ति करती है। भावनाट्यों में सदैव मनोवेग एक तरग की भाँति वाणी से अभिव्यक्त होते है और आंगिक विकार तदनुरूप अभिनय करते चलते है। अतः भावनाट्यो मे प्रतीको का होना आवश्यक है। प्रतीको के माध्यम से जितनी तीव्र अभिव्यक्ति होगी उतना ही भावनाट्य सफल और गम्भीरता से परिपूर्ण, मार्मिक होगा।"[1]

विनयमोहन के अनुसार—

"यद्यपि गीति और भावनाट्य दोनो में ही गीत तत्व उनका प्राण-स्पन्दन होता है तो भी भावनाट्य के लिए अथ से इति तक गीत अपेक्षित नही है।

---

१. 'हिन्दी नाटक—सिद्धान्त और समीक्षा'

सस्कृत मे भावनाट्यो का अच्छा प्रचलन था। 'कर्पूरमंजरी', 'मालविका अग्निमित्र' 'विक्रमोर्वशीय' आदि इसी कोटि के नाटक है। गीतिनाट्य मे गीतात्मकता के अतिरिक्त एक गुण चाहिए—वह है नारी का बाहुल्य। साथ ही उसकी नायिका नारी होती है और रस उसका होता है 'रसराज शृंगार'। रचनातत्र की दृष्टि से यही भावनाट्य कहलाता है।"[१]

श्री रामकृष्ण भारती के शब्दो मे कहा जा सकता है—"ऐसे नाटकों मे न कथा की प्रधानता होती है न घटनाओ की प्रधानता। एकाकी नाटको के समान इनमे भावों का एकीकरण तथा अन्तर्जगत् के भावो का उथल-पुथल अथवा सघर्ष ही प्रधान होता है। ऐसे नाटको की गतियाँ उनके भावो को अधिक सुन्दर तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न करती है। उनमे शारीरिक प्रदर्शन की अपेक्षा मानसिक चिन्तन की ही प्रधानता होती है। प्राकृतिक दृश्य तथा उनका आकर्षक वर्णन इस चिन्तन मे सहायक सिद्ध होता है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भावनाट्य में सदैव मनोवेग एक तरग की भाँति वाणी से अभिव्यक्त होते है, और आंगिक विकार तदनुरूप अभिनय करते चलते है। इसलिए भावनाट्यो मे प्रतीको का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रतीकों द्वारा जितनी तीव्राभिव्यक्ति होगी वह भावनाट्य उतना ही अधिक गहरा एवं मार्मिक होगा।

सक्षेप मे भावनाट्य के तत्त्व निम्न है—

भावनाट्य में गीतिनाट्य के सदृश ही वैयक्तिकता की प्रधानता होती है। वैयक्तिकता के साथ-साथ भावातिरेकता का होना अत्यावश्यक है। भावातिरेक ही गीतिनाट्यो और भावनाट्यो की प्राणभूत विशेषता है। भावात्मक क्षणो के चित्रण के लिए ही इस काव्य का विकास हुआ। भावनाओं के विविध रूपों को विविध छायाओ मे चित्रित करना ही गीतिनाट्य का प्रमुख लक्ष्य है।

चित्रोपमता—प्रत्यक्ष चित्र-योजना के अतिरिक्त ऐन्द्रिक अनुभूतियो के चित्र

१. 'दृष्टिकोण', पृ० ११४

भी होने चाहिए। ध्वन्यात्मक चित्रोपमता भी रखी जा सकती है।

मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने पर भी बाह्य संघर्षों की योजना सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। गीतिनाट्यों का सम्पूर्ण सौन्दर्य पात्रो के मानसिक सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में होता है। उसमें बाह्य संघर्षों के चित्रण के लिए अधिक अवकाश नहीं होता।

अभिव्यक्ति मे नाटकीयता का होना आवश्यक होता है। इस कोटि के काव्य रूप के प्रत्येक कथन मे—चाहे वह स्वगत हो या प्रकाशित—नाटकीयता का होना आवश्यक है। इसके दृश्य भी नाटकीय ढग से प्रारम्भ हुए हों और उनका अत भी नाटकीय ढग से किया गया हो। इस दृष्टि से भट्टजी के गीतिनाट्य बहुत सफल हैं।

अभिनय—यह एक नाट्य-रूपक है, अतः इसमे अभिनय का होना परमावश्यक है। इसमे एक नही अनेक छोटे-छोटे दृश्य होने अनिवार्य है।

भावनाट्य के उपर्युक्त तत्त्वो के आधार पर भट्टजी के नाटकों का विवेचन करेगे।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में भट्टजी का विशेष योगदान उनके भावनाट्य और गीतिनाट्य विश्वामित्र, मत्स्यगधा, राधा, कालिदास आदि है, जिनमे बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा हृदय तत्त्व की प्रधानता है। इसके साथ ही अन्तर्जगत् मे उठनेवाले नाना घात-प्रतिघातों, वासना, विवेक और नैतिकता का सघर्ष है। अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करने में भट्टजी पूर्णतः सफल हैं। इन भावनाट्यों मे न घटनाओ की प्रधानता है न कथा का विस्तार ही, प्रत्युत मानव जीवन के चिरन्तन सत्य, अनुभूतियो और आन्तरिक सघर्षों की विवेचना है। बाह्य सघर्ष केवल आन्तरिक संघर्ष को तीव्रतर करने के लिए है। प्रेम, वासना, अहं के विविध रूप कही सम्भाषण मे, कही विद्रोह मे, कही आत्म-तल्लीनता मे सहज-स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत हुए है। इन नाटको मे पात्र अपने हृदयगत सघर्ष को प्रकृति के प्रतीको द्वारा व्यक्त करते है। इन भावनाट्यो में प्रकृति के माध्यम द्वारा मानव मन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण है।

कथावस्तु—'मत्स्यगधा' भट्टजी का अत्यन्त लोकप्रिय और सौन्दर्य से

मत्स्यगन्धा के अन्तःकरण में उठनेवाला तूफान एकदम अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो इसी के फलस्वरूप सर्वत्र अन्धकार छा जाता है। इस मानसिक और प्राकृतिक अन्धकार के बीच ये ध्वनियाँ गूँजती है—

"एक आवाज—नाथ, यह कन्यकात्व,
दूसरी आवाज—वह भी कलकहीन।
पहली आवाज—नाथ, वह इष्ट मुझे।
दूसरी आवाज—एवमस्तु, एवमस्तु —
पहली आवाज—एवमस्तु, एवमस्तु।"[1]

इन शब्दों मे आत्मसमर्पण से पूर्व मत्स्यगधा के मन मे उठते हुए भावों और विचारों की गूँज है।

चौथे दृश्य मे मत्स्यगधा यौवन का अनुभव करती हुई अपने पिछले कृत्यों पर विचार करती है। पाँचवे दृश्य में समय पाकर मत्स्यगधा राजा शान्तनु की पत्नी के रूप में आती है और शीघ्र ही वैधव्य को प्राप्त होती है। अनन्त यौवन का वरदान शाप सिद्ध होता है। वैधव्य के परिणामस्वरूप यौवन की अग्नि मे झुलसती हुई कहती है—

"यौवन के सागर का अन्त ही नही है कही
मेरा मन तूफानो मे उडा हुआ जा रहा।
मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य पाप बना
आशा औ' उमग हुई भार है अनन्त का।"[2]

इस प्रकार इसमें यौवन की दुर्दमनीय लालसा और समाज के बन्धनों से उसका संघर्ष दिखाने के पश्चात् अन्त मे उसकी पराजय का दिग्दर्शन कराया गया है। इस नाटक में प्रतिभासम्पन्न भट्टजी ने नारी के हृदय मे होनेवाले सघर्ष का चित्रण किया है। डा० नगेन्द्र के शब्दो में—"यौवन की दुरभि-

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ६३
२. वही, पृ० ७३

ा समस्त ससार को अपने में समा लेने की उत्कट अभिलाषा का नर्तन
'धा' की प्रेरक भावना है।"[1] नारी जिस रूप और यौवन को एकमात्र
एवं अभीष्ट समझती है, वैधव्य मे वही उसके जीवन का हाहाकार बन
है। सक्षेप मे इसमे मत्स्यगधा और पाराशर ऋषि के अन्तःपट की
काम लालसा, सेक्स का विश्लेषण, प्रकृति की उन्मुक्त पुकार, समाज का
बन्धन, यौवन का संघर्ष, यौवन की दुविधा और मनोवेगो का मार्मिक
है।

ट्टजी के भावनाट्य 'मत्स्यगंधा' मे नारी के हृदय मे होनेवाले सघर्ष का
चत्राकन है। एक ओर उसके मन मे चिर-यौवन और स्वच्छन्द आचरण
लसा है और दूसरी ओर प्रकृति तथा समाज की शक्तियाँ उसे बन्धन मे
का प्रयत्न करती है। अन्त मे नारी की लालसा प्रकृति की शक्ति के
हार मान लेती है। अतः वस्तु-योजना की दृष्टि से 'मत्स्यगधा' बहुत
ल भावनाट्य है। भावनाट्य के प्राणतत्व अन्तर्द्वन्द्व एव सघर्ष की
अन्त तक सफल अभिव्यक्ति हुई है। सघन क्षणो के सफल निर्वाह मे भी
की काव्यात्मक प्रतिभा ने पूर्ण योग दिया है। प्रकृति के भव्य चित्र
त्स्यगधा की भावमय सृष्टि भट्टजी की कवित्व शक्ति के परिचायक
टक के गीत न केवल गेय और काव्य के गुणो से ओत-प्रोत है अपितु
मनोवेगो और मानसिक सघर्ष की अभिव्यक्ति भी करते है।

वश्वामित्र' की कथावस्तु भी प्रतीकात्मक है। नाटककार के अनुसार
मित्र 'पुरुष' है, मेनका 'नारी' है और उर्वशी उन दोनो के बीच संघर्ष
ाक है। विश्वामित्र अहकार, बल, शक्ति, अभिमान और नर का प्रतीक
का प्रेम, कोमलता, भाव-प्रबलता, नम्रता और नारी जीवन का प्रतीक
-नारी का जो सघर्ष अनादि काल से चला आ रहा है वही इस भाव-
की आधार-शिला है। प्रस्तुत नाटक मे जहाँ एक ओर पुरुष अपने
की रक्षा के लिए नये-नये विकासो को अपनाता है वहाँ नारी अपने

---

[1] ाधुनिक हिन्दी नाटक', पृ० १०४

सौन्दर्य-आकर्षण के द्वारा अपने अस्तित्व की रक्षा करती है।

प्रस्तुत भावनाट्य में विश्वामित्र और मेनका की शापित प्रेम-लीला का उन्मेष है जिसके सयोग से शकुन्तला की सृष्टि होती है। विश्वामित्र हिम-शिखर की तलहटी मे देवदारु के नीचे समाधि मे लीन है। वे अपने तेज से गर्वित होते हुए सबको तुच्छ समझते है। यथा—

'बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि-निपात से
फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।"[1]

यही नहीं इस अपार सृष्टि की रचना करने की शक्ति का अनुभव करते है। इस अह के वशीभूत होकर विश्वामित्र विश्व को अपने वश मे करने के लिए पुनः समाधिस्थ हो जाते है, परन्तु ब्रह्मा और इन्द्र को इस प्रकार के आधिपत्य से कोई सहानुभूति नही। अतः विश्वामित्र की तपस्या भग करने के लिए वे मेनका और उर्वशी की अवतारणा करते है। उर्वशी विश्वामित्र से घृणा करती है क्योंकि विश्वामित्र स्वार्थ के कारण ही ध्यानावस्थ होते है। उसमें सब पर शासन करने की तीव्र लालसा है। वह कहती है—

"मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमे बना सुख ले रहा।"[2]

उर्वशी पुरुष के अत्याचार, दम्भ को स्वीकार नही करती—

"जब नारी, नर दोनो ही से सृष्टि है,
एक बडा, छोटा हो क्योंकर दूसरा !"[3]

परन्तु मेनका उर्वशी के सदृश पुरुष-द्रोहिणी नही है। वह नर को नारी-हृदय की प्यास मानती है। अतः नारी की प्रतीक मेनका के सौरभोच्छ्वास से सम्पूर्ण तपोवन मे बसन्त की मादकता व्याप्त हो जाती है। इसी के परिणाम-स्वरूप विश्वामित्र की आँखों में सौन्दर्य-दर्शन की लालसा जाग्रत हो जाती

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृष्ठ ३
२. वही, पृ० ८
३. वही, पृ० ८

है। मेनका की रूप-राशि को देखकर अहं लुप्त हो जाता है और वह कह उठते है—

"सब प्रपच 'अध्यात्म', एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।"[1]

किन्तु शकुन्तला की उत्पत्ति के पश्चात् ऋषि को वास्तविकता का बोध होता है। उनके मुख से सहसा निकल पडता है—

"दैव हा! गरल अमृत के धोखे मे मैं पी गया।"[2]

निज निमित्त स्वर्ग को नरक मानकर ब्रह्म-प्राप्ति के लिए पुनः साधना मे लीन होने के हेतु वहाँ से वह चले जाते है। ऋषि के इस प्रकार कन्या को जन्म देने के उपरान्त पलायन मे ही नाटक का पर्यवसान हो जाता है। निवृत्ति का प्रवृत्ति मे परिवर्तन और फिर प्रवृत्ति का निवृत्ति मे परिवर्त्तन ही इस भाव-नाट्य की कथावस्तु है। भट्टजी के इस भावनाट्य मे मानव-मन की हलचल, गति, सजीवता आदि का जीवन और समस्याओ से अटूट सम्बन्ध है। पौराणिक कथानक द्वारा नाटककार ने आधुनिक नारी-समस्या को अकित किया है। इसमे लेखक ने मानवी भावनाओ तथा चेतनाओं के अकन की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस प्रकार कथावस्तु की दृष्टि से विश्वामित्र एक सफल रचना है जिसमे भावो की सुन्दर अभिव्यंजना है।

तीसरा भावनाट्य 'राधा' है जो चार दृश्यों मे विभक्त है। राधा का कृष्ण के प्रति आकर्षण, समर्पण और अन्त मे विलय ही राधा भावनाट्य का विषय है। प्रस्तुत भावनाट्य मे हृदय मे उठनेवाले भावों की तीव्र उथल-पुथल है। मन की अनेक व्याकुल परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण है।

राधा कृष्ण के नटनागर रूप पर मुग्ध होकर उनके प्रति अनुराग से भर जाती है। वह निर्जन कुज मे अभिसार के लिए नित्य जाती है। एक दिन वह व्यथित होकर अपनी सखी विशाखा से कहती है—

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० २१
२. वही, पृ० ३२

"मै रही हूँ दूर जिनसे
वह बुलाते पास क्यो ?
हो गया यह हास मेरा
सब कही उपहास क्यो ?"[१]

राधा अपने अन्तःकरण के द्वन्द्व को मसोसती हुई भी अन्तर के द्वार बन्द नहीं कर पाती। वह वेदना से कराह उठती है—

"मन अँधेरे मे उजेले की आस कर रहा क्यो ?"[२]

अपने औदास्य का कारण विशाखा को बताती हुई कहती है—

"कभी रोकर भी बता दूँगी
विशाखा, विरह-सा यह
दीर्घ जीवन महापथ परि-
चित न होकर भी किसी से ?"[३]

राधा की विक्षिप्त अवस्था को देखकर विशाखा कृष्ण-प्रेम का समाचार समझ जाती है। वह राधा को कृष्ण-प्रेम मे विह्वल देखकर, उन्मत्त कर देनेवाले प्रमादी यौवन की पुकार को अनसुनी कर देने का उपदेश देती है, पर राधा के लिए यह सम्भव नही है। उत्तर मे अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहती है—

"क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान मे यमुना नदी तट।"[४]

विशाखा के मुख से वर्णित भट्टजी का नारी-हृदय-वर्णन भी दर्शनीय है—

"हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह—

× × ×

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ८२
२. वही, पृ० ८२
३. वही, पृ० ८५
४. वही, पृ० ८६

देखता कुछ भी न कोई नियम-बन्धन धर्म जग का !"[1]

दूसरी ओर विशाखा भी कृष्ण के प्रति निज आकर्षण व्यक्त करती है। दोनों सखियाँ अपने प्रिय को प्राप्त करने के लिए चिन्तित है। राधा द्वारा उपाय पूछने पर विशाखा उसे प्रेम के विषय-मार्ग का प्रदर्शन कराती है। दूसरे दृश्य मे कृष्ण की वंशी की धुन सुनकर राधा अस्त-व्यस्त, चंचल और उद्विग्न मुखाकृति लिये आती है। राधा-कृष्ण का यहाँ मिलन होता है। वह अपने द्वन्द्व को कृष्ण के सम्मुख व्यक्त करना चाहती है। अन्त मे कहती है—

"कौन तुम अनुरागसागर······सभी कम्पित विश्व कानन।"[2]

प्रत्युत्तर में कृष्ण अत्यन्त सरस और मधुर उक्ति कहते है—

"विश्व-कणकण मे सुवासित व्याप्त है पीयूष-सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से, छल-कपट से,
उसी को जागृत किया है प्राण ने वंशी-लहर से।
तुम पियो, यह जग पिये, अक्षय मधुर-रस प्राण-पावन
हृदय मे भरता रहे उच्छ्वास की गति-सी मनोहर।
मैं लहर हूँ एक उसकी, उसी सुख की, उसी स्वर की।"[3]

भट्टजी ने राधा के हृदय का संघर्ष, उथल पुथल, प्रेमाधिक्य आदि को सफलता से अभिव्यक्त किया है—

"चाहती, क्या चाहती हूँ, कुछ नही, पर चाहती हूँ,
एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूँ सुनती रहूँ निशि—
दिवस, पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वर्ष, युग-कल्पान्त भी।"[4]

कृष्ण पुन. वंशी बजाते है और अनेक व्रज बालाएँ उसी ओर भागती हैं।

तृतीय दृश्य में अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के बीच उसी कुंज मे राधा

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ८७
२. वही, पृ० ६४
३. वही, पृ० ६४
४. वही, पृ० ६८

आतुरता के साथ कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही है—

"चिर-प्रतीक्षा, चिर-मिलन की रात।"[१]

तभी विशाखा के आने पर राधा अपने मानस द्वन्द्व को उस पर व्यक्त कर देती है। उसी समय कृष्ण उपस्थित होकर राधा को समाज-कुल, मर्यादा तथा प्रेम-रक्षा का सन्देश देते है—

"धर्म है केवल समाजोन्नति, स्व-उन्नति, राष्ट्र-उन्नति
आत्म-चिन्तन, लोक-हित, कर्तव्य-पालन बस यही तो।"[२]

चौथे दृश्य मे मूक, अर्ध-चेतन-सी, केवल स्वप्न की मूर्ति-सी, अर्ध-जागृत, विवर्ण, मलिन-वस्त्रा विरहिणी राधा का चित्रण है। राधा ससार की प्रत्येक व्यथा को सहर्ष स्वीकार कर लेती है पर कृष्ण-वियोग उसके लिए दुर्निवार हो जाता है। उसका रोम-रोम पीडा से चीत्कार उठता है। विरह से पीड़ित हृदय की झाँकी निम्न गीत मे प्रत्यक्ष लक्षित होती है—

"कौन युग से पथ निरखती,
हृदय मे अंगार भरकर, श्वास मे पीडा छिपाये,
प्राण का उपहार लेकर साधना मे स्वर सजाये।"[३]

× × ×

"हो गया यह हास मेरा सब कही उपहास क्यों ?
मैं तिमिर मे खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?"[४]

इसी समय नारद मुनि राधा को नैतिक उपदेश देते है, पर सर्वथा व्यर्थ। राधा कृष्ण के राजनीति मे और धर्म-नीति मे तल्लीन हो जाने पर ब्रह्म रूप में उनकी आराधना करती है। अन्त मे राधा के मूछित हो जाने पर कृष्ण प्रकट होते है और राधा को सम्बोधित कर कह उठते है—

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० १०५
२. वही, पृ० १११
३. वही, पृ० ११५
४. वही, पृ० ८२

"राधिके ! उनके हृदय की श्वास भाषा कल्पना तुम,
कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधाकृष्णमय सब ।"[1]

राधा भी चेतना प्राप्त कर कृष्ण की आत्मा मे लीन हो जाती है। इस प्रकार नाटक का अन्त अत्यन्त नाटकीय व स्वाभाविक ढंग से होता है। श्री रामकृष्ण भारती के शब्दो मे कह सकते है कि नाटक का अन्त स्वाभाविक रूप से हुआ है। प्रेम की अन्तिम अवस्था भी यही एकाकार की भावना है। इस भावनाट्य को जितनी बार पढा जाए उतना ही आनन्द प्राप्त होता है। भाषा प्रवाहशील और माधुर्य रस से पूर्ण रूप से भरी हुई है। राधा-कृष्ण का जो आदर्श नाटककार ने प्रस्तुत किया है वह सर्वथा नवीन तथा मनन योग्य है। प्रस्तुत भावनाट्य हिन्दी साहित्य मे स्थान प्राप्त करेगा।

तीनों ही भावनाट्यों का कथानक पौराणिक होते हुए भी सामयिकता लिये हुए है। युग के प्रभाव के कारण इन भावनाट्यो पर छायावाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनका आन्तरिक और मानसिक द्वन्द्व कथा-विकास और चरित्र-विकास का आधार प्रस्तुत करता है। यौवन का उद्दाम आवेग और आकाक्षा ही तीनों कथाओ का केन्द्र-बिन्दु है परन्तु तीनो मे रूप भिन्न है।

इन भावनाट्यो का नामकरण मुख्य पात्र मत्स्यगधा, राधा और विश्वामित्र के नाम पर ही हुआ है जोकि भावनाट्य की विशेषता है।

पात्र—भट्टजी के भावनाट्यो मे यद्यपि पुराने व्यक्तित्व है—विश्वामित्र, मेनका, मत्स्यगंधा, राधा आदि, तो भी वे आधुनिक जीवन की समस्याओ पर भी प्रकाश डालते है। 'विश्वामित्र' नाटक मे केवल तीन पात्र है—विश्वामित्र, मेनका और उर्वशी। विश्वामित्र मे जीवन के निषेधात्मक और स्वीकृत्यात्मक मूल्यो का संघर्ष है। विश्वामित्र सांसारिक सुख-उपभोग से विरक्त, आनन्द से विमुख, कठोर तपस्या मे संलग्न और जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रतीक है। इस प्रतीक का दूसरा पक्ष भी है जिसमे विश्वामित्र पुरुषत्व के चरम अहकार और रुक्ष-विवेक बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा तप के वैभव से

१. विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० १२८

प्रमत्त हो उठते है। वे यह अनुभव करते है कि—

"मेरे तप का तीव्र तेज है बढ रहा"[1]

पुन. कहते है—"बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि-निपात से

फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।

× × ×

कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे;

नही मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग

ज्ञेय तथा अति गूढ गिरा अभिसार-सा।"[1]

यह है मानव के अहं भाव का चरम विकास। विश्वामित्र मानव के इसी अहं भाव का प्रतीक है।

मनुष्य के अन्तःकरण में दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष होता रहता है। कभी-कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक-दूसरे का विरोध करने लगती है। भट्टजी के नाटकीय पात्रों के चरित्र का विकास दोनो प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों से होता है। स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक मेनका और उग्र विकसित पुरुषत्व के प्रतीक विश्वामित्र में जब संघर्ष होता है तब पुरुषत्व झटका खाकर बिखर जाता है, उनका पुरुषत्व नारीत्व की ओर आकृष्ट होकर पूछता है—

"कौन, कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही,

मेरे अन्तर रोम-रोम में लीन हो?"[2]

पर दूसरे ही क्षण नारी की उपेक्षा ने पुरुष के दम्भ और क्रोध को प्रज्ज्वलित कर दिया—

"तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ!"[3]

विश्वामित्र मे एक ओर अपने अपमान के कारण दम्भ उभरता है किन्तु दूसरी ओर मानव का वास्तविक रूप विश्वामित्र मे प्रकट होता है। नारी की

---

१. 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य', पृ० ३–४

२. वही, पृष्ठ १६

३. वही, पृ० १७

प्रतीक मेनका के सौरभ-उच्छ्वास से तपोवन मे बसन्त छा जाता है। तपोधनी विश्वामित्र के नेत्रो मे सौन्दर्य-दर्शन की उत्कण्ठा भर जाती है और हृदय किसी के अभाव मे व्याकुल होता है। मेनका की रूप-राशि उनकी पुतलियो को चचल बना देती है। पुरुष का अह नारी के सम्मुख हार जाता है। विश्वामित्र के स्वर में पुरुष का प्रबुद्धत्व, महामुनीत्व बोल उठता है—

"सब प्रपच 'अध्यात्म', एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।"[1]

किन्तु कन्या के जन्म के उपरान्त ही उन्हे वास्तविकता का बोध होता है। सजग होकर उनके मुख से सहसा निकल पडता है—"दैव हा! गरल अमृत के धोखे मे मैं पी गया।"[2] अन्त मे अपने द्वारा बनाए हुए स्वर्ग को नरक-तुल्य समझकर पुन: ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उद्यत हो उठते है।

दूसरी ओर पुरुष के शासन मे अपने को विवश अनुभव करनेवाली नारी है। वह मानव की शक्ति, बल और दर्प से टक्कर लेने को प्रस्तुत है। इस नाटक में मेनका और उर्वशी क्रमश नारी के दो रूप है। उर्वशी मनुष्य के प्रति नारीत्व की घृणा की प्रतीक है। प्रतिस्पर्धा और रोष के भाव से वह कह उठती है—

"मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमे बना सुख ले रहा।"[3]

× × ×

"जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बडा, छोटा हो क्योंकर दूसरा!"[4]

पर नारी होने के कारण उसमे अधीर और अतृप्त नारीत्व की प्यास है—

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० २१
२. वही, प० ३२
३. वही, पृ० ८
४. वही, पृ० ८

"प्राणो में फिर एक बार अविराम मृदु ।
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत री !
ताक रही हूँ इधर-उधर पाती न कुछ ।
कोई भी आधार मुझे मिलता नही ।"[१]

उर्वशी की दृष्टि मे पुरुष नारी के प्रेम के प्रति कभी भी दृढ नहीं रहता—

"यह कच्ची मिट्टी है चाहे लो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कडा,
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन !"[२]

पर मेनका इसके विपरीत है। उसमे नारीत्व की सहज कोमलता, स्निग्धता स्फूर्ति और प्रेरणा है। वह स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक है। नारी होने के हेतु पुरुष को अपना प्रतिद्वन्द्वी नही मानती। वह तो रूप की प्यास का आश्रय 'पुरुष में खोजती है—

"मै न घृणा करती हूँ नर से हे सखी,
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिससे जीवन तत्त्व वह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओ को छू रहा ।"[३]

मेनका नारी को उर्वशी की भाँति अबला नही समझती। वह स्वीकार करती है कि यद्यपि नारी मे बल और बुद्धि का शौर्य नही है तो भी उसके पास हृदय-बल है। पुरुप की प्राप्ति मे ही वह यौवन की सार्थकता समझती है—

"सौन्दर्य औ' बुद्धि हमारे अस्त्र है
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी,

१. 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य', पृ० ५
२. वही, पृ० ६
३. वही, पृ० ११

यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड पुतली कर काम की ।"[1]

मेनका का नर-प्रकृति का अध्ययन यथार्थ सिद्ध होता है । वह यह भली भाँति जानती है कि कच्ची नीव पर खड़े होनेवाले पुरुष का पतन अवश्यंभावी है—

"अरी, अह ही इसकी कच्ची नीव है,
और स्वार्थ के सोपानो पर चढ रहा ।
जिस पर है ककाल मनुजता का खडा
गिर जाता है एक ठेस खाकर वही ।"[2]

मेनका मे नारी के आत्मविश्वास, आत्मज्ञान का परिपक्व रूप विद्यमान है—

"मानव के नैराश्य-पुज मे दीप की
ज्योति शिखा है, नारी, नर की चाहना ।"[3]

विश्वामित्र नामक भावनाट्य मे अन्य तत्वो की अपेक्षा मानवी भावनाओं और चेतना के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, किन्तु अनेक अवसरों के होते हुए भी नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व को नही के बराबर दिखाया है । मेनका को अपने सम्मुख उपस्थित देखकर विश्वामित्र अपने अभिमान और तपस्वी-सुलभ प्रतिष्ठा का विचार न करते हुए तुरन्त आकृष्ट हो जाते हें । उनके मन मे किसी भी प्रकार का विरोध उत्पन्न नही होता ।

'मत्स्यगधा' मे प्रधान चरित्र धीवर-कन्या मत्स्यगधा का है जो राजा शातनु के साथ विवाह होने के पश्चात् सत्यवती नाम से विख्यात हुई । मत्स्यगधा में पुरुष की वासना से लांछित सहानुभूति योग्य नारी के रूप मे सत्यवती को चित्रित किया गया है । सत्यवती का चिर-यौवन स्वय उसके लिए पहेली और

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ६
२. वही, पृ० ६
३. वही, पृ० ११

उस अपमान का कारण बन गया है जो भीष्म के पतन पर होनेवाले उसके महामरण तक उसे तिल-तिल जलाता रहा। पुरुष के विलास से व्यर्थ जीवित नारी का प्रतीक है—सत्यवती।

मत्स्यगंधा न केवल एक नारी पात्र है अपितु वह नारी में व्याप्त यौवन की मदमस्त तरंगों की प्रतीक है जो विश्व का सौन्दर्य बनकर युग-युग से प्राणी-मात्र को अनुप्राणित और प्रेरित कर रहा है। यौवन के आवेग से चकित और विभोर होकर वह अपनी सखी सुभ्रू से पूछती है—

""""""""""""किन्तु, देखती यही कि कोई
राग सा बजाने मेरे प्राणों की बीन पर
चल-चल आता है। कौन है बता तो वह
देखते ही जिसको मैं भूल जाती सुध-बुध
× × ×
अतल हृदय ताल निर्मल अमन्द मन्द
उठती तरंग मेरे अंग-अंग, प्राण में।"[1]

यौवन के मादक स्पर्श से मत्स्यगंधा अधीर और चंचल हो उठती है। प्रकृति के मनोहर विलास को देखकर उसकी यौवन-सुलभ भावनाएँ मचलने लगती है, किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी अवस्था का ध्यान आता है कि वह प्रकृति के सदृश स्वतन्त्र नहीं—

"दुःखहीन, लक्ष्यहीन, स्वरहीन, लयहीन
एक ही प्रमत्त मति, एक ही प्रमत्त गति।
ऐसे ही तो मैं बही जा रही हूँ, किन्तु मैं तो
नाविका हूँ, केवट की बेटी, काम जिसका
पार पहुँचाना। नहीं, लहर-सी मुक्त हूँ मैं"""[2]

अनंग द्वारा यौवन का वरदान देने के अनुरोध पर मत्स्यगंधा के निम्न-

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ४७
२. वही, पृ० ४८-४९

लिखित उद्गार नारी हृदय की सहज सुलभ कोमलता और नारी की असमर्थता को व्यक्त करते हैं—

"किन्तु मुझे चाहिए न हे अनंग, यह दान
मेरे लघु प्राण मे अनन्त अब्धि-मद भार,
कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मै उठाऊँ भार
कैसे एक पात्र मे भरेंगी सरिताएँ महान् !"[1]

कामदेव के अन्तर्द्धान हो जाने के पश्चात् मत्स्यगधा का छिपा हुआ यौवन सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है। वह अपनी अवस्था मे परिवर्तन देखती है—

"घूमता-सा देखती अलातृचक्र ऐसा चित्त,
रह-रह, काँपती है रोम राजियाँ निखिल।"[2]

मत्स्यगन्धा के मन मे भावों का तूफान आलोडित हो रहा है, जिसके फलस्वरूप उसकी विवेक-शक्ति क्षीणप्राय हो जाती है। पाराशर के द्वारा नदी पार ले जाने की प्रार्थना करने पर मत्स्यगन्धा को एक साथ अपने चचल भावुक मन तथा नदी मे उठते हुए तूफान का भय है। वह दोनो की ओर सकेत करती है—

"जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल।"[3]

यौवन के मद मे आत्मविभोर होने पर भी वह नारी की कोमल स्थिति से भली-भाँति परिचित है—

"नारी के स्वरूप, सुख, शोभा में छिपे हैं देव,
सख्याहीन अभिशाप, सख्याहीन यातना।
× × ×
......नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक बिन्दुपात भी कलंक है।"[4]

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ५२-५३
२. वही पृ० ५३
३. वही, पृ० ५८
४. वही, पृ० ६०

मत्स्यगन्धा के मन में उठता हुआ द्वन्द्व शनैः-शनैः चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वह समाज की मर्यादा-लोकलाज सबको त्याग देती है। वह चिर-यौवन और कन्यकात्व का वरदान प्राप्त कर अपना समर्पण कर देती है—

"एक आवाज—नाथ, यह कन्यकात्व ?
दूसरी आवाज—वह भी कलकहीन।
पहली आवाज—नाथ ! वह इष्ट मुझे।
दूसरी आवाज—एवमस्तु-एवमस्तु।
पहली आवाज—एवमस्तु, एवमस्तु।"[1]

यही मत्स्यगन्धा जब सत्यवती के रूप मे विधवा हो जाती है और अपने अतीत का पर्यवेक्षण करती है तो उसका हृदय विक्षुब्ध हो जाता है—

"अरे, कब अन्त होगा 'मद' का, प्रमाद का भी
× × ×
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान।
लौटाओ, लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त है।
यौवन का वेग ऐसा प्राणहीन देखा कब ?"[2]

मत्स्यगन्धा अनग द्वारा प्रार्थना अस्वीकृत किये जाने पर निराश हो जाती है—

"हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान दृप्ति है न अन्त हे अनग रंग ?"[3]

अन्त मे उसका चिर-यौवन अभिशाप बन जाता है। व्यथा से पीड़ित वह पुकार उठती है—

"डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे ! वेदना मे मेरी ही युगान्त की।"[4]

मत्स्यगन्धा में नारी के हृदय मे होनेवाले संघर्ष का स्पष्ट चित्रांकन है।

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ६३-६४
२. वही, पृ० ७४-७५
३. वही, पृ० ७७
४. वही, पृ० ७७

एक ओर उसके मन मे चिर-यौवन और स्वच्छन्द आचरण की लालसा है, दूसरी ओर प्रकृति एव समाज की शक्तियाँ उसे बन्धन मे बाँधने का प्रयत्न करती है। अन्त मे नारी की लालसा प्रकृति की शक्ति के आगे हार मान लेती है। अनंग और वेदना इन दोनो का समन्वित रूप हमे मत्स्यगन्धा के चरित्र मे मिलता है।

'राधा' भट्टजी का तीसरा भावनाट्य है जिसमे वासनाहीन यौवन का चित्रण है। जिसकी नायिका राधा उपचार-निरपेक्ष और प्रतिदान-शून्य प्रेम की दिव्य भक्ति की प्रतीक है। उसमे सात्विक उदात्त स्त्रीत्व है, जिसमें घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि का कोई महत्त्व नही। राधा मे न तो मत्स्यगन्धा के अतृप्त यौवन का आवेग है और न मेनका की अस्थिरता। उसमे निष्काम प्रेम भावना है जो अन्त में चलकर विवेक और कर्त्तव्यप्राण कृष्ण को सौपने के लिए बाध्य करती है। भट्टजी की राधा का स्वरूप परम्परागत होते हुए भी परकीया है। राधा भावनाट्य मे पौराणिक गाथा को अपनाते हुए भी भट्टजी राधा के प्रेम में एक क्रमिक सघनता लाये है। उसका प्रेम सघन से सघनतम होता जाता है। आवेगमय क्षणों में उसके मन मे अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं—

"वे यहाँ है, वे वहाँ है, हृदय मे विश्वास, बल में,
कुसुम-कलियों मे, लता मे, वृक्ष मे, सरिता-लहर मे,
गगन में, पाताल मे, भूधर, धरा, जीवन, मरण मे !"[1]

प्रेम मे उन्मत्त राधा के मन मे क्षण-क्षण परिवर्तन हो रहा है। प्रथम दर्शन में उसे प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त युवती के रूप में देखते है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति-सौन्दर्य ने राधा को बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, किन्तु दूसरे ही क्षण वह विवश होकर अपने अन्तःकरण मे उठती हुई व्यथा को छिपाती हुई गुनगुना उठती है—

"मन अँधेरे मे उजेले की रहा कर आस क्यो ?"[2]

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० १८०
२. वही, पृ० ८२

विशाखा द्वारा अपने औदास्य का कारण विवशतावश देती है—

"क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं,
पैर ले जाते मुझे अनजान मे यमुना नदी तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है ?"[१]

राधा के इन वचनो मे नारी हृदय के कोमलतम भावो की अभिव्यक्ति है। विशाखा राधा के सभी गुणो का गान करती हुई कहती है—

"हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह
दूध-सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने।"[२]

राधा को विवाहिता नारी के रूप में दिखाया है। यद्यपि उसने बाल्यकाल से ही अविवाहित रहने का सकल्प कर लिया था, पर उसका विवाह कर दिया गया। उस दाम्पत्य जीवन से उसे सुख-प्राप्ति नही होती। वह अपनी स्थिति का वर्णन इस प्रकार करती है—

"दम्पती के धर्म का पालन न मैं कर पा रही हूँ,
× × ×
नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री।"[३]

अन्त में राधा कृष्ण को अनिर्वचनीय ब्रह्म और ब्रह्म रूप मानकर उसकी आराधना करती है, और कृष्ण में लीन हो जाती है। सच्चे प्रेम मे अपना अस्तित्व नही के समान रहता है, प्रिय ही सर्वस्व होता है। राधा कहती है—

"चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके,
वे महान् विभूति, मै लघु, वे सरित, मैं लहर उनकी।"[४]

राधा के हृदय का सघर्ष, उथल-पुथल, प्रेमाधिक्य आदि की भट्टजी ने बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है—

"मैं नहीं कुछ जानती नारीत्व का है ध्येय कैसा

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ८६
२. वही, पृ० ८६
३. वही, पृ० ९०
४. वही, पृ० १२३

समझ भी सकती नहीं, कह भी नहीं सकती, कहूँ क्या।"[1]

प्रस्तुत भावनाट्य के पुरुष पात्र कृष्ण ईश्वर का अवतार नहीं है अपितु विवेकी, धर्मात्मा, संसारी पुरुष है। वह अपना उद्देश्य राधा को इस प्रकार बताते है—

'मैं जगत का पाप, मिथ्याचार, छल विद्वेष हरने
और वास्तव धर्म की संस्थापना का सुनिश्चय ले
तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को
यहाँ आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे
है न मुझमें पाप कोई, शुद्ध सत्य अनन्त अतिबल।'[2]

इस प्रकार कृष्ण एक आदर्श पुरुष के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होते है।

नारद की अवतारणा दो उद्देश्यों की पूर्ति करती है—एक ओर उद्धव की भक्ति और ज्ञान-गरिमा का प्रतिनिधित्व करते हुए उन्हींकी भाँति परास्त होते हैं और दूसरी ओर राधा की प्रेम भावना मे अवरोध डालकर उसे रागारुण बना देते हैं।

इस 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' नाटक में स्त्री-पात्रो की प्रधानता है। पुरुष-पात्र गौण तथा अनेक प्रकार की दुर्बलताओ से युक्त है। इन भाव-नाट्यों की प्रमुख पात्र भी स्त्री हैं। उन्हींकी आन्तरिक मनोवृत्तियों, सूक्ष्म-भावो और अन्तर्संघर्ष को प्रकट किया गया है। तीनो भावनाट्यो की नारियों के व्यक्तित्व अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते है। मत्स्यगन्धा मे यौवन की प्यास है, मेनका मे नारी-सुलभ कोमलता, स्निग्धता आदि गुणो का समावेश भी है, किन्तु वह पुरुष की प्राप्ति मे ही यौवन की सार्थकता समझती है, पर राधा में यौवन की वासना सात्विक प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार भट्टजी ने प्रेम के तीन स्वरूप उपस्थित कर उत्कृष्ट प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया है। भावनाट्यो के विषय में डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार—

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० १२०

२. 'राधा', पृ० १११

'मत्स्यगंधा के लिए अनन्त यौवन का वरदान शाप सिद्ध होता है। राधा के प्रेम मे दिव्य भक्ति की परिणति है। नाटक के सभी पात्र कवित्वमय है। उन्होने समाज के रूढ़ि-विरोधी व्यक्तित्वों की पुराण से अवतारणा कर भयभीत समाज को उसका मुख उसके ही दर्पण में दिखा दिया है। कवित्व के साथ-साथ बौद्धिक योग इन भावनाट्यों मे विलक्षण हुआ है। हिन्दी का ऐसा कौन कवि है जो इस प्रकार मानव जीवन के सत्ता-सम्बन्धी मूल तत्वों का उद्घाटन और प्रतिपादन इस प्रकार मूर्त रूप मे कर सका है।'

कथोपकथन—भावनाट्यों के कथोपकथन सरल, संक्षिप्त, सरस, प्रभावोत्पादक, व्यजक, स्वाभाविक, पात्रानुकूल और नाटकोचित है। हृदय मे उठनेवाले बवण्डर को कम शब्दो मे व्यक्त किया है, जिससे रोचकता बढ़ती है। उदाहरणतया—अनन्तयौवना मत्स्यगंधा को विधवा सत्यवती के रूप में कामदेव के दर्शन होते है। वह उससे अनुनय-विनय करती है—

'ले लो ले लिया जो लें लो, अविलम्ब हे अनंग

× × ×

दण्ड लघु कार्य का अमेय है, महान है।'[1]

परन्तु अनंग केवल यह कहकर चल देता है कि—

'पियो कण्ठ तक पियो, ओंठ तक ढाल ढाल
यौवन महान है, अलभ्य है जगत मे।'[2]

इस प्रकार मत्स्यगधा और अनंग की वार्ता मत्स्यगधा के आन्तरिक ऊहापोह की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। पाराशर का संवाद चिन्तनपूर्ण और बौद्धिक है और मत्स्यगंधा का स्त्रीजनोचित भीरुता और कान्ता-समन्वित।

इन भावनाट्यों के कथोपकथन मार्मिक और गम्भीर है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि वे आधुनिक वातावरण के अनुकूल है। उनमें हमारे दैनिक जीवन के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है इसीलिए वे दर्शको को अधिक

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ७५
२. वही, पृ० ७६

आकर्पित करते है। उनके संवाद पात्रो की मनोदशा, उनके बौद्धिक स्तर और परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। प्रसाद के पात्रो के सदृश दार्शनिकता से लदे हुए नही है। उनमे नाटकीयता के साथ-साथ प्रसगानुसार कथोपकथनो का स्वाभाविक ढग भी है और सर्वग्राह्य पद्धति पर भापा का मर्म-व्यजक स्वाभाविक अनुठापन है—

'(एक आवाज,—नाथ यह कन्यकात्व।
(दूसरी आवाज)—वह भी कलकहीन.........
(पहली आवाज)—नाथ वह इष्ट मुझे
(दूसरी आवाज)—एवमस्तु एवमस्तु। आदि।"[1]

नाटकीयता की दृष्टि से उनके कथोपकथन अत्यन्त सफल है।

भावनाट्यों की भाषा—इन भावनाट्यो की भापा माधुर्य और प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। मत्स्यगंधा ज्यो-ज्यो यौवन के प्रभाव मे आगे बढती जाती है, त्यों-त्यो नाटककार की भापा का सौन्दर्य, सूक्ष्म भावो का आवेग तथा सगीत का प्रवाह भी बढता जाता है। अनग के यौवन का वरदान देने के अनुरोध पर मत्स्यगधा के निम्नलिखित उद्‌गार नारी हृदय की सहज, सुलभ, कोमल असमर्थता को भट्टजी ने जिन कोमल शब्दो मे व्यक्त किया है वहाँ कवि की प्रतिभा अपने चरम पर पहुँच गई है—

'किन्तु मुझे चाहिए न हे अनग यह दान
मेरे लघु प्राण मे अनन्त अब्धि मद की
कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मै उठाऊँ भार
कैसे एक पत्र मे भरेगी सरिताएँ देव।"[2]

भट्टजी ने प्रेम की अनुभूतियो और प्रकृति के मधुर चित्राकन के लिए माधुर्य गुण से युक्त भापा को अपनाया है। इसके साथ ही प्रसाद गुण तो सर्वत्र विद्यमान है—

'देखी ऐसी देखी कब दामिनी की शुभ्र रेखा

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ६३
२. वही, पृ० ५२-५३

मूर्त रूप धर चली, उतरी अनन्त से,
इस जग दुःख से अमर करने के लिए।
युक्त करने के लिए सुख को अमृत मे
मानो विश्वराग ही शरीर धर आया हो।"[1]

उपर्युक्त अवतरण मे अलकारिकता नही प्रत्युत भाषा मे सहजता, सरलता है जो सहज रूप मे फूट पडी है।

शिष्टता के साथ-साथ उनकी भाषा शैली लय से युक्त है, जिससे रमणीयता आ जाती है और भाषा मे सगीतात्मकता का सुन्दर समावेश हो जाता है। भाव और भाषा का प्रवाह अनुपम है। सगीतात्मकता के लिए शब्द-चयन के साथ लय, सुर, ताल तथा राग-रागिनी का ध्यान रखा जाता है। गीति नाट्य के काव्यात्मक स्थलो मे 'चित्रोपमता' की योजना का चित्रण भी द्रष्टव्य है—
काम का चित्र—

'गर्विता सुमालती मे मदिर मदिर गन्ध
यौवन में तृप्तिहीन तृष्णा प्ररोह लोभ
× × ×
किन्तु प्रिय मानव मे सैकडों बसन्त हास
शत-शत उद्‌गार, शत-शत हाहाकार
प्रणयों में पीडित हृदय का अवहार्य छन्द।'[2]

उपर्युक्त पंक्तियों मे केवल प्रत्यक्ष चित्र-योजना नही अपितु रस, स्पर्श, गन्ध-समन्वित चित्र का विधान भी हुआ है—

'शत शत हाहाकार शत शत उद्‌गार' में ध्वान्यात्मकता, चित्रोपमता का भी समावेश हुआ है।

कवित्व की दृष्टि से भट्टजी के भावनाट्यो का बहुत महत्त्व है। इसके द्वारा उनके भावनाट्यों मे नाटकीयता का अत्यन्त आकर्षक रूप उपस्थित होता है। प्रथम दृश्य मे मत्स्यगधा और सुभ्रू, अनग का वार्तालाप गीतिमयी गूँजो से

---

१ 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ५१
२. वही, पृ० ५०

ओतप्रोत है। गीतो के माध्यम से कथासूत्र आगे बढता है। मत्स्यगंधा का एकाकी चिन्तन उच्चकोटि के कवित्व से अभिमण्डित है। कला की दृष्टि से मत्स्यगधा और अनग का सयोग-आलाप बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ है। अनंग के प्रति मत्स्यगधा कहती है—

'देखी ऐसी देखी कब, दामिनी की शुभ्र रेखा
मूर्त्त रूप धर चली उतरी अनन्त से
× × ×
मानो विश्वराग ही शरीर धर आया हो।'[1]

मत्स्यगधा के तीसरे दृश्य मे मत्स्यगंधा द्वारा नारी हृदय के धर्म और विवेक का, पाराशर द्वारा पुरुष जाति के मिथ्या गौरव रूपी अविवेक का जो प्रकृत चित्र खीचा है वह कला की दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ है। सकलन त्रय और अभिनय का ध्यान रखा है।

अभिनय—दृश्य-विधान की दृष्टि से भट्टजी के भावनाट्य सफल हैं। उनका अनेक वार अभिनय हो चुका है। मत्स्यगधा, विश्वामित्र और राधा तीनो में से मत्स्यगंधा की आवयिक अन्विति अधिक निखरी हुई है। यद्यपि दृश्य के समापन मे नाटकीयता का प्रभाव कम है।

मत्स्यगधा के प्रत्येक दृश्य का अन्त नाटकीय है। प्रथम दृश्य के अन्त में नाटकीयता का रूप—

'पद गतिहीन हुए
छन्द यतिहीन हुआ, मतिहीन मति है।'[2]

डॉ० बच्चन के शब्दो मे—'ताल पर गिरते हुए सम की भाँति गति की बुझती हुई गूँज की तरह दृश्य स्वयं परिसमाप्ति की सूचना देता है।'[3]

दूसरा दृश्य भी—'जाना ही पार पहुँचा दो प्रिय स्वर तर' का निर्माण भी कम श्रमसाध्य है। छठे दृश्य की परिवर्तित स्थिति मे मत्स्यगधा के करुण

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य,' पृ० ५१
२. वही, पृ० ५५
३. 'हिन्दी नाटक', पृ० १७७

पश्चात्ताप का स्वर अत्यधिक वेदनापूर्ण और आत्मग्लानि से मुखर है। मत्स्यगधा के छठे दृश्य मे नाटकीय गति का परिवर्तन अत्यन्त आकस्मिक रूप में होता है।

मत्स्यगंधा के सदृश ही विश्वामित्र और राधा के दृश्य सहज निर्मित हो जाते है। वंशीवादन द्वारा सारा वातावरण अवसादमय बन जाता है, परन्तु अन्त मे कृष्ण का प्रवचन नाटकीय प्रभाव को कुछ क्षीण बना देता है। भट्टजी ने अपने भावनाट्यों द्वारा वातावरण को अभिनय के अनुकूल बना दिया है।

गीतिनाट्य

भावनाट्य के साथ-साथ भट्टजी ने गीतिनाट्यों की रचना भी की है। भावनाट्य और गीतिनाट्य का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है, जो भट्टजी के काव्य-नाटकों द्वारा ही प्रकट हुआ है। गीतिनाट्यों मे स्वर और गेय तत्त्वों का प्राधान्य होने के कारण मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उतने सुचारु रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता जितना भावनाट्यों मे। इसके अतिरिक्त भावनाट्यों मे प्रतीकों की प्रधानता होती है, गीतिनाट्यो मे उतनी नही। गीतिनाट्यो मे कार्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक होता है। भावना की प्रधानता होने के कारण ऐसी रचना मे गीति तत्त्व का उपयोग किया जाता है। पात्रों के कथोपकथन साधारण पद्य में और आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतो में की जा सकती है। गीतिनाट्य मे यदि नाटककार चाहे तो अकों और दृश्यों का विधान रख सकता है अन्यथा उनकी कथा बिना अध्याय के ही आगे बढती है।

भट्टजी ने 'अशोक वन-वन्दिनी' तथा अन्य गीतिनाटको का निर्माण किया है, जिनमे जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण है। 'अशोक वन-वन्दिनी', 'सन्त तुलसीदास', 'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण' और 'अश्वत्थामा' ये चारों नाट्यरूपक अपने युग की विकसित मनोदशा को व्यक्त करते है। सीता का अन्तर्द्वन्द्व, स्थिति-परवशता मे आत्मनिपीडन एवं जागृति है। उसी प्रकार तुलसी-दास मानस सघर्ष और मनोदशाओ के उतार-चढाव का चित्रण उपस्थित करता है। गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण नाटक में जीवन के उन उद्धत क्षणों का विस्तृत अवलोकन है जिन्हे कभी श्रेष्ठ माना था। इस नाटक मे मनोदशा

का सुन्दर रूप प्रतिफलित हुआ है। 'अश्वत्थामा' प्रतिहिंसा के क्षणो का अत्यधिक उद्ग्रीव रूप है।

अशोक वन-बन्दिनी—प्रस्तुत नाट्य-रूपक का आरम्भ सीताहरण के उपरान्त होता है। रावण द्वारा सीताहरण के पश्चात् उसकी ओर से दिये गए प्रलोभन तथा सीता द्वारा उसके प्रस्ताव के अस्वीकृत किए जाने पर विविध द्वन्द्वों से युक्त कथावस्तु है। सीता का वही स्वरूप है जो प्राचीन काल से विविध कवियो का आधार रहा है। हनुमान के वापस लौट जाने के उपरान्त ही कथा समाप्त हो जाती है। प्रथम दृश्य मे सीता अशोक वन मे बैठी है और अन्य राक्षसियाँ उन्हें प्रलोभन देती है, किन्तु सीता पर उन प्रलोभनो का कोई प्रभाव नहीं पडता। वह सदैव राम का स्मरण करती रहती है। त्रिजटा सीता की इस एकाग्रता से अत्यन्त प्रभावित होती है। सीता के प्रति उसे गहरी सहानुभूति होती है। त्रिजटा और सीता के वार्तालाप के समय ही रावण वहाँ आकर अपने वैभव आदि का विस्तृत वर्णन करता है, किन्तु सीता राम के सम्मुख उसे तुच्छ समझती है। रावण क्रुद्ध होकर ज्योही सीता को मारने के लिए उद्यत होता है, त्योही मन्दोदरी वहाँ प्रकट हो जाती है जो कि नाटकीयता की दृष्टि से उपयुक्त है। मन्दोदरी रावण को पर-स्त्री-हत्या करने से रोकती है। तत्पश्चात् रावण एक मास की अवधि देकर चला जाता है। दूसरे दृश्य मे सीता राम के विरह मे व्याकुल है। हनुमान सन्देश लेकर चले जाते है। राक्षसियाँ पुनः आकर सीता को अनेक प्रकार की यातनाएँ देती है, परन्तु सीता पूर्ववत् ही अपने निश्चय पर दृढ रहती है। मन्दोदरी आदि सभी सीता को अपने व्यंग्य-बाणों से बेधती है। सीता शान्त भाव से उन्हे समझाती हुई अन्त मे आशीर्वाद देती है।

इस प्रकार नाटक की कथा सीता के महादर्शमय रूप व उसके महान् चरित्र को लेकर आगे बढती है। नारी वास्तव मे न केवल भोग की वस्तु है, प्रत्युत वह तो विश्व की संचालिका शक्ति है जो चाहे तो विश्व का मगल कर सकती है और यदि चाहे तो उसके अभिशाप द्वारा विश्व पतन के गर्त मे गिरकर नरक की ज्वाला मे जलता है। यही नाटककार ने सिद्ध किया है।

'सन्त तुलसीदास'—दूसरा नाटक 'सन्त तुलसीदास' है जिसमे घटनाओ के वस्तु-विधान की अपेक्षा चरित्र की प्रधानता है। तुलसीदास का चरित्र अपने आपमे इतना सशक्त है कि घटनाएँ उसके पीछे चलती है। प्रस्तुत नाटक में महाकवि तुलसीदास के जीवन-परिवर्तन की घटना का विवेचन है। उन्हे अपनी पत्नी से अत्यन्त प्रेम था परन्तु अन्त मे उसीसे तुलसीदासजी को किस प्रकार भगवद्भक्ति की प्रेरणा मिली—इस छोटी कथा को नाटककार ने दो सखियो के वार्तालाप द्वारा अभिव्यक्त किया है। तुलसीदास की प्रिय पत्नी रत्ना का भाई अनेक बार अपनी बहन को लेने आया परन्तु तुलसीदासजी (रामबोला) ने अत्यधिक प्रेम के कारण रत्ना को नही भेजा। एक दिन रत्ना पति की अनुपस्थिति मे अपने भाई के साथ चली गई। रामबोला पत्नी को न पाकर अत्यन्त विचलित हुए और शीघ्र ही अपनी ससुराल पहुँचे। तुलसीदास के इस व्यवहार से रत्ना और उसके सम्बन्धी अत्यन्त लज्जित हुए। तत्पश्चात् अपने सौन्दर्य की असारता बताते हुए रत्ना ने अपने पति को मर्मभेदी वाक्य कहे जिनका तुलसी पर अत्यधिक प्रभाव पडा। शास्त्रो के ज्ञाता तुलसी पत्नी द्वारा प्रताडना मिलने पर वैरागी होकर घर से चले जाते है। उनको इस प्रकार जाता देखकर रत्ना ने उन्हे रोकने का असफल प्रयास किया, क्योंकि रामबोला अब तुलसीदास बन चुके थे, उन्हे पत्नी का मोह ससार मे न बाँध सका।

भट्टजी ने अपने इस पद्यनाटको में अनेक स्थानो पर यथा—रत्ना के मन मे तुलसीदास के चले जाने के उपरान्त—द्वन्द्व अपना चरम रूप धारण करता है। मानव मन मे उठनेवाले विभिन्न भावो का सघर्ष भट्टजी ने सफलता के साथ व्यक्त किया है। तुलसीदास के लौकिक प्रेम की धारा किस भाँति पारलौकिक प्रेम मे परिवर्तित हो गई, यही नाटककार ने अकित किया है।

'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण'—यह निरीक्षण द्रोणाचार्य के जीवन की उस घटना को अंकित करता है जब वे महाभारत के युद्ध मे कौरव सेना के सेनापति नियुक्त हुए। दुर्योधन के द्वारा बार-बार उत्तेजित किये जाने पर गुरु द्रोणाचार्य शरीर से कौरवो का पक्ष लेते हुए भी हृदय से पाण्डवो की विजय चाहते थे, दुर्योधन आचार्य की इस चतुराई को समझ जाता है और गुरु को अनेक

अपशब्द कहता है। गुरु पश्चात्ताप मे डूब जाते है, यही से कथा आरम्भ होती है। गुरु द्रोण की अन्तरात्मा छाया रूप मे उनके सम्मुख प्रस्तुत होकर उनकी वृत्तियों का विश्लेषण करती है—आचार्य की स्थिति को स्पष्ट करती है। गुरु के स्मृति पटल पर वे दिन अंकित होते हैं जब उन्होंने अर्जुन को विशेष रूप से शिक्षा दी थी। अपने पुत्र अश्वत्थामा को शिष्यो की अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान दिया था, भील-पुत्र एकलव्य को शूद्र मानकर अपना शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया, आदि अनेक कुकृत्यो पर आचार्य द्रोण का मन ग्लानि से भर जाता है। वे अपने जीवन को व्यर्थ समझते है, क्योकि ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने के उपरान्त भी ब्राह्मणत्व का पालन न कर सके।

इस प्रकार नाटक की कथा गुरु द्रोण के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करती है। मानव मे भावना तथा कर्त्तव्य का द्वन्द्व सदैव से चल रहा है, जिसमे प्रायः भावना की विजय होती है परन्तु अवसर के व्यतीत हो जाने के उपरान्त मानव केवल पश्चात्ताप की अग्नि मे जलता रहता है। भट्टजी ने द्रोणाचार्य के मन मे उठनेवाले बवण्डरो को यथार्थ किन्तु कलात्मक ढग से अभिव्यक्त किया है। इन नाटको मे भट्टजी की कला का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है।

'अश्वत्थामा'—उनका अन्तिम पद्यनाटक 'अश्वत्थामा' है जिसमे प्रमुख पात्र 'अश्वत्थामा' के मन मे उठनेवाले संघर्ष को व्यक्त किया है। अश्वत्थामा ने प्रतिहिंसा के कारण रात्रि मे सोते हुए शत्रुओ को मार डाला। उसके बाद अर्जुन के साथ किए गए युद्ध मे उसे अपनी ज्ञानमणि से हाथ धोना पड़ा। इसीलिए अन्तिम दिनो मे अपने कुकृत्यो की स्मृति मे पश्चात्ताप करता है।

कथा का आरम्भ अश्वत्थामा के मानस-द्वन्द्व से ही होता है। वह शनैः-शनैः अपने पूर्व कृत्यों को याद करता है कि पराजित होने के उपरान्त वह अपने मामा कृपाचार्य तथा कृतवर्मा के साथ वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था। उसी समय अश्वत्थामा ने देखा कि रात्रि मे उल्लू सोते हुए पक्षियो के नीड़ो से शिशुओ को निकाल-निकालकर खा रहे थे। अश्वत्थामा पाण्डवो से प्रतिशोध लेने के हेतु सोचता है कि क्यो न वह भी सोते हुए पाण्डवों को मौत के घाट उतार दे। अपना यह विचार वह कृतवर्मा तथा कृपाचार्य को बताता है। दोनो उसे

समझाते है, किन्तु अन्त में अश्वत्थामा से सहमत होकर उसकी सहायता के लिए चल देते है। अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा को शिविर-द्वार पर छोड़कर अकेला ही प्रवेश करता है। वहाँ पहुँचकर सोते हुए द्रोपदी के पाँचो पुत्रों को शिखण्डी-सहित मार देता है। अन्त मे शिविर में अग्नि लगाकर चले जाते है। अश्वत्थामा द्वारा यह समाचार सुनकर दुर्योधन अत्यधिक सुख का अनुभव करता है। दूसरी ओर पाँचों पाण्डव उसे ढूँढते हुए आते है। अश्वत्थामा व्यास मुनि के आश्रम मे पहुँच जाता है, जहाँ अर्जुन से युद्ध मे पराजित होता है, परन्तु युधिष्ठिर गुरु-पुत्र होने के कारण उसे क्षमा कर देते है, पर उसकी ज्ञानमणि निकाल लेते हे, जिसके परिणामस्वरूप उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है।

भट्टजी ने प्रस्तुत पद्यनाटक मे अश्वत्थामा के मन मे उठनेवाले अहिंसा और प्रतिहिंसा से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व को नाटकीयता के साथ व्यक्त किया है। इनमें कथा का विवेचन न होकर मानव मन के सघर्ष की प्रधानता है। नाटककार ने इसमे दिखाया है कि एक विद्वान, सदय पण्डित अश्वत्थामा पराजय की अग्नि से धधकते हुए कितना क्रूर और निर्दय बन जाता है। पराजय के कारण उसका मनोवैज्ञानिक रूप कुत्सित हो जाता है।

'अशोकवन-वन्दिनी' एव अन्य नाटको के पश्चात् भट्टजी का अन्य पद्य नाटक 'नहुष-निपात' हे। यद्यपि अब तक भट्टजी का ध्यान नाटक की अपेक्षा उपन्यास की ओर अधिक हो गया है—'अब नाटक लिखने की ओर उतनी रुचि नही है। दिमाग़ मे प्लाट आने पर भी बोझ-सा लगता हे। वह समय अब मै उपन्यास को देना चाहता हूँ।'[1] तो भी 'नहुप' के चरित्र ने उन्हे नाटक लिखने को विवश कर दिया। प्रस्तुत नाटक की कथा भावात्मक एव यथार्थवादी शैली पर आधारित है। नाटक का प्रमुख पात्र 'नहुप' उसी काम-वासना का प्रतीक है जिसको आज के जीवन मे मनोविज्ञान का आधार मिल गया है।

नाटक की कथा का मूल-स्रोत पौराणिक है। नहुप अपने अश्वमेध यज्ञ, तप आदि के प्रताप से स्वर्ग मे इन्द्र 'के स्थान का अधिकारी हो जाता है।

---

१. 'साहित्य के स्वर', पृ० १५

अमरावती में पहुँचकर उसका अहं अपनी चरम सीमा को प्राप्त होता है। अहंकारी 'नहुप' प्रतिहारी से कहता है—

'सुना नहुप ने, जान लिया है सभी कुछ
अमरावती पुरी का वैभव, किन्तु यह—
लोकत्रय विजयी ऋतुकर्ता नहुप भी
स्वय कर्म से दीप्त तप्त कांचन सदृश
अप्रधृष्य अपने से किञ्चित् कम नही ?'[1]

अन्य स्थान पर भी उसका अभिमान उत्तेजित दृष्टिगत होता है। यथा—

'चाहूँ तो मै स्वर्ग करूँ नर लोक को—
और स्वर्ग को नरक बना दूँ······।'[2]

वह अमरावती मे होनेवाली सभी घटनाओ को आश्चर्य से देखता है। देवताओ को अपने द्वारा निर्मित नियमो के अधीन रखना चाहता है—

'मेरी आज्ञा बिना न कोई कार्य हो।
नहुप सभी तो विधि-विधान है जानता
कोई उससे गोप्य नहीं है चर अचर।'[3]

देवताओ द्वारा समझाये जाने पर नहुप का क्रोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। देवताओ को डाँटता हुआ कहता है—

'हटो, ब्रह्म बनने की मुझमे कामना
उदित हुई है ब्रह्म बनूँगा मै स्वय
सब प्रपच मेरे अनुशासन मे रहे
मुझमे सृष्टि स्थिति की क्षमता जागती
तब जग नाचेगा मेरे सकेत पर।'[4]

यही नही, धीरे-धीरे शची को देखकर उसके मन मे काम जागृत होता है।

---

१. 'नहुष-निपात', पृ० ४
२. वही, पृ० १२
३. वही, पृ० ८
४. वही, पृ० ४१

न केवल देवाप्सराओं को देखकर प्रत्युत शची को पाने के लिए अनेक प्रकार के ढोंग रचता है। उर्वशी को सम्बोधित करता हुआ बार-बार कहता है कि मृत्युलोक मे यज्ञ, तप आदि करते हुए मेरा समय व्यतीत हुआ है। किन्तु यहाँ पर आकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मैं अपना ज्ञान ही भूल गया हूँ। अतः पूछता है कि—

'चरम विषम ज्वाला से मेरा दग्ध मन,
और दग्ध तन, दग्ध हुआ है सभी कुछ,
कैसे हो यह शान्त प्राण की आग जो
निर्मम क्षण-क्षण वडवा-सी मन मे जली
क्या है, कैसी व्याधि, आधि यह प्राण की।'[1]

आगे कहता है कि—

'कहो उपाय करूँ क्या कैसे प्राप्त हो
वह आराध्या अमर सुन्दरी हृदय की।'[2]

नहुष के विक्षिप्त होने के उपरान्त शची उर्वशी के साथ प्रकट होती है। नहुष को विक्षिप्त अवस्था मे देखकर उसे (शची) दुःख होता है। शची कहती है कि यह अभद्र, अविनीत एवं शिष्टता से हीन व्यक्ति किसी भी भांति देवेन्द्र बनने के योग्य नही है। तभी नहुष चैतन्य अवस्था को प्राप्त होता है। नाटकीयता की दृष्टि से यह स्थल अत्यन्त रोचक है। चेतनता के प्राप्त होने पर वह पुनः कहता है—

'मैं हूँ अब अमरेन्द्र सभी का अधिप हूँ
× × ×
है अधीन मेरे वशवर्ती सभी सुर,
इसी दृष्टि से इन्द्राणी का पति हुआ
ठहरो-ठहरो आज्ञा है यह नहुष की।'[3]

---

१. 'नहुष-निपात', पृ० २४
२. वही, पृ० २५
३. वही, पृ० ३७

देवतागण नहुप को समझाते है कि इन्द्रपुरी में परस्पर स्वाधीन प्रेम का महत्त्व है। यहाँ पर किसीको भी अन्य की आज्ञा के अधीन नहीं रहना पडता। तभी शची आकर उसका प्रणय-निवेदन एक शर्त के साथ स्वीकार करती है कि

'सप्तऋषि द्वारा वाहित यदि पालकी
आवे उसमे बैठ आप प्रासाद मे ।'[1]

नहुप उपर्युक्त शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लेता है क्योकि देवगणो को वह अपना दास समझता हे। अत सप्तऋषियो को पालकी लाने के लिए आदेश देता है। यही नही, देवऋषियो के तनिक विश्राम लेने पर वह क्रोध से पागल हो जाता है। क्रोध के वशीभूत हुआ नहुष अपने भविष्य को ध्यान मे न रख देवगणो को भला-बुरा कहता है। उनको लात आदि मारने मे भी वह किसी प्रकार का सकोच अनुभव नही करता। अन्त मे नहुष द्वारा अपमानित किए जाने पर देवतागण उसे सर्प हो जाने का शाप देते है। सप्तऋषि उसकी पालकी को गिरा देते है। अन्त अत्यन्त नाटकीयता से युक्त है। नहुप के शोक एवं छटपटाहट के साथ परदा गिरता है।

इस प्रकार भट्टजी ने मानसिक चित्तवृत्तियो का विवेचन गीतिनाट्य के अनुकूल सजीव, सरस और परिष्कृत भापा मे किया है। उनके गीतिनाटको में कथानक का सघर्ष, पात्रो के चरित्रो का अन्तर्द्वन्द्व आदि का सामजस्य मिलता है। इनमे नाटककार ने रग-सकेतो द्वारा जो ध्वनि-सयोजन किया है वह नाटक के वातावरण को और भी मुखरता प्रदान करता है। उनके अन्य नाटकों मे जहाँ तर्क और बुद्धिवाद की प्रचुरता है वहाँ इनमे भावो की प्रधानता के साथ अन्तजगत् मे उठनेवाली विभिन्न भावनाएँ भी विद्यमान है। अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने मे भट्टजी को पूर्ण सफलता मिली है। इनमे न घटनाओ की प्रधानता है और न कथा की प्रत्युत अन्तर्जगत् के भावों तथा सघर्प की प्रधानता है। नाटक मे भावो की गति द्वन्द्व को सुन्दर तथा आकर्पक बनाने में समर्थ है। अभिनय की दृष्टि से भी उनके गीतिनाट्य सफल है। स्वय भट्टजी के शब्दों

१. 'नहुप-निपात' पृ० ३६

में—"ये नाटक निश्चित रूप से खेले जा सकते है अभिनय की क्षमता होनी चाहिए।"[1]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भट्टजी ने भावनाट्य और गीति-नाट्य की जो शैलियाँ हिन्दी साहित्य को भेट की वे हिन्दी नाट्यसाहित्य की अमूल्य निधि है।

रेडियो-नाटक

रेडियो-नाटक मूलतः श्रव्य नाटक है जिसका मूलाधार है ध्वनि। जिसके माध्यम से नाटककार वातावरण-निर्माण, वेशभूषा का वर्णन, दृश्यों की सजावट, पात्रो की आयु-स्थिति आदि का श्रोताओं को ज्ञान कराता है। ध्वनि के उतार-चढाव द्वारा ही पात्रों के मनोभाव, सघर्ष आदि अभिव्यक्त होते है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार ध्वनि-नाटक के तत्व इस प्रकार हैं—

१. ध्वनि-नाटक का समस्त प्रतिन्यास आगे होनेवाले सवादो द्वारा स्पष्ट होना चाहिए।

२. नाटक मे घटनाओ की गति क्षिप्र होनी चाहिए, क्योंकि कान लम्बे संवादों को अधिक देर तक सुनने के अभ्यस्त नहीं है।

३. सवादो को सजीव बनाने के लिए उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अभिनय मे ध्वनि भरने की आवश्यकता होगी।

४. रेडियो-नाटक मे घटनाओ की प्रमुखता होनी चाहिए जिनमे पात्रों के कार्य-कलाप, आरोह या अवरोह उपस्थित किये जा सके।

५. पात्रो या घटनाओ मे जितना अधिक विरोध या सघर्ष उपस्थित किया जा सकेगा, उतना ही अधिक नाटक मनोरंजन का विस्तार कर सकेगा।

६. असम्भावित या अप्रत्याशित घटनाओं का स्वाभाविक संघटन कौतूहल की पूर्ति करेगा।

७. घटना या पात्र कार्य या कारण से अनुबन्धित होकर जितने शीघ्र

---

१. अशोक वन-वन्दिनी और अन्य गीतिनाट्य की भूमिका, पृ० ५

विकास करेगे, उतनी अधिक मात्रा मे नाटक सफल होगा ।

८. छोटे-छोटे कार्यों की स्वाभाविकता ही रेडियो-नाटक में प्राण की भाँति अनिवार्य होगी ।

६. ऐतिहासिक नाटको की अपेक्षा सामाजिक या पारिवारिक नाटक ही रेडियो पर अधिक सफल होगे ।

१०. रेडियो पर समस्त अभिनय को कण्ठ-ध्वनि मे भरना पडता है । वातावरण की पूर्ति के लिए संगीत और ध्वनि-आलेखन (Sound effects) का उपयोग करना पडता है ।[1]

श्री कलाधर ने रेडियो-नाटक के लिए मुख्य रूप से छः तत्वो का प्रतिपादन किया—

१. पात्रो के परिचय, नाटक के विकास मे किसी नये पात्र के प्रवेश अथवा प्रस्थान की सूचना, स्थान तथा समय-विशेष की सूचना—ये सब पात्रो अथवा सूत्रधार की बातचीत द्वारा प्रकट किये जाने चाहिए ।

२. नाटको का आरम्भ व अन्त प्रभावोत्पादक होना चाहिए ।

३. सवादो तथा सूत्रधार द्वारा दिये गए कथा-सकेतो मे वर्णनात्मकता तथा चित्रमयता होनी चाहिए क्योंकि श्रोता पात्रो को केवल उनके स्वर से ही पहचानता है ।

४. थोड़े पात्र होने से रेडियोवालो की पहचानी जा सकनेवाली भिन्न-भिन्न आवाजोंवाले कलाकार सुनने मे आसानी रहेगी ।

५. रेडियो-नाटक मे अनावश्यक प्रसग अथवा सवाद नही होने चाहिए । इससे श्रोता का ध्यान मुख्य विषय से हट जाता है और रसानुभूति नही होने पाती ।

६. रेडियो-नाटक मे निश्शब्दता का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि शब्द का ।

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा निर्धारित रेडियो-नाटक के तत्वो का सार इस

---

१. डॉ. रामकुमार वर्मा कृत 'ध्वनि-नाटक की शैली, 'आजकल अगस्त' १६५१, पृ० २०

प्रकार है—

१. रेडियो-नाटक में केवल वाचिक अभिनय ही होता है।

२. रेडियो-नाटक मे कम पात्रो से भी काम चल सकता है।

३. दृश्य-विधान की कोई निश्चित सीमा नही है। ध्वनि के माध्यम से प्रत्येक दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। कथोपकथन के माध्यम से कथा का अभिप्राय उभरता है और शब्दो के उच्चारण से प्रभाव उत्पन्न होता है।

४. रेडियो-नाटक की कथावस्तु साधारणत सरल व सीधी होनी चाहिए, नाटक का आरम्भ और अन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक होना चाहिए। इसमे भावनाशीलता और कौशल की विशेष आवश्यकता होती है।

५. नाटक का विकास क्रमिक हो, दृश्य बीच मे जुडे हुए न हों, निरर्थक संवादो को छाँट-छाँटकर काटा जाए। भाषा की मितव्ययता अत्यावश्यक है। इन्ही तत्वो के आधार पर भट्टजी के रेडियो-नाटको का विवेचन करेंगे।

हिन्दी मे रेडियो-नाटक की रचना करनेवालो मे भट्टजी का प्रमुख स्थान है। उनके रेडियो-नाटक अत्यधिक सफल है। भट्टजी ने अपने प्राचीन (पुराने) नाटको को भी ध्वनि-प्रधान बनाकर रेडियो-प्रसारण के योग्य बनाया है। रेडियो-नाटकों मे भट्टजी की कला अपने प्रौढ, प्राजल और परिष्कृत रूप मे है। गाधीजी का रामराज्य, धर्म-परम्परा, अमर अर्चना, मालती-माधव, हिमालय के शिखर से, वन-महोत्सव, मदन-दहन, आदिमयुग, एकला चलो रे और कालिदास आदि इसके अन्तर्गत आते है। इनमें जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों, भूत, भविष्य और वर्तमान की विकृत छायाओं, मनुष्य की प्राचीन आदिम अवस्थाओं की झाँकी प्रस्तुत की है। सास्कृतिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी रूपकों मे 'एकला चलो रे' ध्वनि-रूपक टैकनिक की दृष्टि से सफल है। नाटककार के इस पद्यरूपक का आधार स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'एकला चलो रे' नामक गीत है जो कि रेडियो द्वारा सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। इसमें नेपथ्य से अनेक स्वर क्रमशः अपने-अपने विचारो को अभिव्यक्त करते है जिनके द्वारा अनेक महापुरुषों के कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। संसार के सभी महापुरुष जिन्होने मानव जाति का पथ प्रशस्त किया—वे सांसारिक चिन्ता से मुक्त होकर,

कर, अपनी आत्मा से निर्धारित, विवेक से प्रकाशित, चिन्ता से उद्भूत अपना अकेला मार्ग बनाकर चले। प्रस्तुत नाटक मे गौतम बुद्ध, ईसा, मुहम्मद एव गाधी द्वारा ससार को दिया गया नव-आलोक का वर्णन है कि इस यात्रा मे किस प्रकार जातीय-वैमनस्य की सरिता मे डूबते-उतराते, क्रोध, ईर्ष्या, राग, द्वेष, दरिद्रता आदि की चक्की मे पिसते हुए भारतीय मानव जाति को प्राण दान दिया। अन्त मे सभी स्वर सकेत रूप से विश्व-मगल की कामना करते है। नाटक मे विवरणात्मक रूप से कुछ कार्यो का उल्लेख जो 'एकला चलो रे' गीत की पुष्टि के लिए किया गया है। कालिदास नाटक मे भट्टजी ने कालिदास के हृदय-मन्थन को स्पष्ट किया है।

कालिदास—तीन ध्वनि रूपक

प्रस्तुत संग्रह मे तीन ध्वनिरूपक—कालिदास, मेघदूत, विक्रमोर्वशी सकलित है। जिनकी रचना रेडियो नाटक की टेकनीक पर की गई है। ये तीनो ध्वनिरूपक रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित किए जा चुके है।

कालिदास—प्रस्तुत सग्रह का प्रथम ध्वनिरूपक है, जिसमे नाटककार ने महाकवि कालिदास के प्रतिभा-कौशल का परिचय देते हुए उनके प्रसिद्ध ग्रन्थो के कुछ अशों को उद्धृत किया है। इसके साथ ही इन ग्रन्थो के प्रणयन मे कवि को अपनी प्रेमिका विलासवती से किस प्रकार प्रेरणा मिली—इस पर भी नाटककार ने प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम भट्टजी ने कालिदास के समय को प्रस्तुत किया है कि कालिदास के समय मे सर्वत्र आनन्द, सुख, वैभव और शान्ति था। किसी भी व्यक्ति को छोटी-सी वस्तु का भी अभाव न था। सब अपनी जाति एव अधिकारो के साथ अपने कर्त्तव्य मे लीन रहते थे। ब्राह्मण तप, विद्या दान करते, राजा प्रजा को पुत्रवत् प्यार करता, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी सम्पन्न और सुखी थे। समय के अनुकूल वर्षा होती जिससे जल की बूँदो के स्थान पर अन्न बरसता था। 'ऋतुसहार' काव्य मे न केवल ऋतुओ का सौन्दर्य है, अपितु सभी ऋतुओ मे होनेवाले मनुष्यो के सुख-दु:ख, आचार-विचार, प्रकृति-सौन्दर्य आदि का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। तत्पश्चात् 'मेघदूत' का यक्ष

मेघ से अपनी व्यथा कहकर अपनी प्रिया यक्षिणी के पास सन्देश भिजवाता है जिसमे मानव के वास्तविक प्रेम की झाँकी है। दोनों प्रेमी और प्रेमिका विरहाग्नि मे जलते है। अन्त मे उनके दुःख की रजनी समाप्त हो जाती है, और दोनों का मिलन होता है।

मेघदूत के पश्चात् कालिदास ने 'कुमारसम्भव' की रचना की, जिसमे शिव-पार्वती के श्रृगारिक चित्रो के साथ पार्वती की तपस्या से शिव प्रभावित होकर उसे किस प्रकार अपनाते हे, का उल्लेख है। कुमारसम्भव मे अमानवीय चरित्र भी कालिदास जैसे कुशल कलाकार की कल्पना क्रीडा से उद्भूत होकर मानवीय प्रतीत होते हे। इसी प्रकार 'मालविकाग्निमित्र' मानव-सौन्दर्य उनके सुख-दुःख की भावनाओ का आधार लेकर लिखा गया है। विक्रमोर्वशी में उर्वशी देवलोक की अप्सरा है, किन्तु चरित्र मे मानवी है। पुरुरवा सामाजिक त्रुटियो का पुतला है, किन्तु विलासवती कवि के ऐसे चरित्र के निर्माण के लिए उत्साहित करती है जो लोकोत्तर मनुष्यो में रहते हुए भी मनुष्योत्तर हो। विलासवती की उक्ति से प्रेरित होकर कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की रचना करते है, जिसमे तपोनिष्ट विश्वामित्र की कन्या शकुन्तला, जिसके मानव मे देवत्व है, भारत के एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठ नरेश दुष्यन्त के गन्धर्व-विवाह का विस्तृत वर्णन है। प्रस्तुतनाटक मे वास्तविकता और कल्पना का सामंजस्य है। कन्या को विदा करते हुए माता-पिता को कितना कष्ट होता है, इसका यथार्थ चित्रण किया है कवि ने। शकुन्तला के पश्चात् भी कालिदास के मन मे अन्य महान् चरित्रो को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने की लालसा विद्यमान रही, अतः अन्त मे उन्होने 'रघुवश' की स्थापना करके अपनी प्रियतमा विलासवती को शान्त किया—रघुवश मे इक्ष्वाकु वश के महान् चरित्र थे।

इस प्रकार नाटककार ने महाकवि कालिदास के काव्य-ग्रंथों—ऋतुसहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, शकुन्तला और रघुवंश के द्वारा तत्कालीन युग की सभ्यता, सस्कृति, धर्म, नीति, आदर्श, समाज का चित्र प्रस्तुत किया है जो महाकवि कालिदास की प्रतिभा का द्योतक है। शकुन्तला जैसे पात्र की उद्-भावना कर कालिदास ने लौकिक और अलौकिक पात्रों का समन्वय किया है।

प्रस्तुत सग्रह का दूसरा ध्वनिरूपक मेघदूत है जिसमें काव्य होने के कारण भट्टजी ने अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर दिया है—

कथा-सार—मेघदूत कालिदास कृत महाकाव्य है, जिसमे यक्ष पुष्प चयन करते हुए यक्षरणी पर मोहित हो जाता है और कुबेर को पुष्प पहुँचाने मे देर हो जाती है। कुबेर इस बात को सुनकर यक्ष को एक वर्ष के लिए शाप दे देता है। इस प्रकार यक्ष अपनी प्रेयसी यक्षरणी से दूर हो जाता है। दोनो विरह मे जलते है। अन्त मे यक्ष मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रेयसी के पास सन्देश भिजवाता है। मार्ग के प्राकृतिक दृश्यो के प्रति सहानुभूति प्रकट करता हुआ मेघ यक्षरणी के पास जाकर यक्ष का सन्देश कहता है। वह अपने प्रिय का सदेश अत्यन्त उत्सुकता के साथ सुनती है—यक्ष की विरहाकुल अवस्था का वर्णन करते हुए वह यक्षरणी से कहता है, कि अब मिलन-वेला दूर नही है। उनके निर्वासन के दिन बीत चले है और अन्त मे शाप का मोचन हो गया। यक्ष आकर अपनी प्रियतमा मे मिलता है—

'यक्ष आ गया मृत जीवित-सा,
स्मरण मात्र कंकाल देह सा,
दोनो मिले हृदय भर दम्पति,
शक्ति और विश्वास मिल गये।'

और अन्त मे सब मिलकर गा उठते है—

मिल गए दो प्राण फिर से मिल गए,
खिल गए दो पुष्प फिर से खिल गए।

इस प्रकार भट्टजी ने मेघदूत मे अपनी स्वच्छन्दता से काम लिया है यद्यपि अधिकतर पद्यो का अनुवाद मात्र है, फिर भी अनेक स्थल पर नए-नए गीतों का सृजन कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। भाव एवं प्रसग के अनुकूल ही परिवर्तन एव गीतों की योजना की गई है।

विक्रमोर्वशी

कैलाश पर्वत से इन्द्रलोक लौटने पर उर्वशी नामक अप्सरा को केशी नामक।

भयानक दैत्य सताता है । संयोगवश महाराज पुरुरवा की दृष्टि उस ओर पडती है और वह इस अन्याय का प्रतिकार करने के हेतु उर्वशी का इस दैत्य से उद्धार करते है । प्रथम-मिलन मे ही वे दोनो परस्पर अनुरक्त हो जाते है । राजा उर्वशी को उसके सम्बन्धियों पर छोड देता है, किन्तु पुरुरवा अपनी भावी प्रेमिका सम्बन्धी मनोव्यथा की सूचना अपने मित्र विदूषक को देता है । इसी अवसर पर महाराज को वल्कल पर लिखा हुआ उर्वशी का एक प्रणय-सन्देश मिलता है । कुछ काल पश्चात् लक्ष्मी के प्रणय का अवसर आता है । भरत मुनि इस सुखद काल मे एक नाटक का अभिनय करते है जिसमे उर्वशी से उसके भावी पति के विषय मे प्रश्न पूछे जाने पर वह भरत मुनि की इच्छा के विरुद्ध पुरुषोत्तम या विष्णु न कहकर पुरुरवा को अपना पति स्वीकार करती है । इस पर भरत मुनि कुपित होकर उसे अभिशाप देते है कि वह इस लोक को त्याग कर मृत्युलोक मे जाकर निवास करे । इन्द्र-पुत्र-दर्शन पर्यन्त उसके शाप की अवधि निश्चित कर देते है । उर्वशी मृत्यलोक मे आकर अपनी सखियोसहित पुरुरवा की अवस्था को देखती है । महाराज की मनोव्यथा का अनुभव कर वे उर्वशी को महाराज को सौप कर चली जाती है । एक दिन पुरुरवा से रूठकर उर्वशी कार्तिकेय के गन्धमादन उद्यान मे चली जाती है जहाँ स्त्री का प्रवेश वर्जित था—हतभागिनी उर्वशी वहाँ लता रूप मे परिवर्तित हो जाती है । इधर पुरुरवा अपनी प्रियतमा के वियोग मे अतिशय विलाप करते है—इसी बीच आकाशवाणी द्वारा पुरुरवा को ज्ञात होता है कि यदि वह सगमनीय मणि को अपने पास रख उर्वशी-रूपी लता का आलिंगन करे तो वह अपने पूर्वरूप को प्राप्त हो जावेगी । आकाश-वाणी के आदेशानुसार उर्वशी को पाकर, राजधानी मे सुखपूर्वक जीवन-यापन करते है । राजधानी मे वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हुए बहुत काल व्यतीत हो गया । एक दिन अचानक वनवासिनी स्त्री अल्प-वयस्क युवक के साथ महाराज पुरुरवा के दरबार मे उपस्थित हुई । वह उर्वशी का पुत्र एव राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया । इसी अवसर पर शाप-निवृत्ति के कारण उर्वशी इन्द्रलोक लौटती है । तभी नारद मुनि का आगमन होता है जो सूचना देते है कि इन्द्र की आज्ञानुसार उर्वशी समस्त जीवन महाराज पुरुरवा की

सहधर्मचारिणी ही रहेगी। इस प्रकार ध्वनिरूपक का अन्त होता है। विक्रमोर्वशी प्रायः मूल नाटक के समान है।

प्रस्तुत संग्रह मे नाटककार ने कालिदास के जीवन, उनके ग्रन्थों के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशो को नाटकीय शैली मे अभिव्यक्त किया है। इन ध्वनिरूपको के द्वारा भट्टजी ने उस समय की संस्कृति, आचार-विचार, पारस्परिक मानव सम्बन्ध आदि का चित्र प्रस्तुत किया है। तीनो रूपको द्वारा भट्टजी ने प्राचीनता का स्वाभाविक वातावरण बनाने मे सफलता पाई है।

भट्टजी के रेडियो नाटकों मे व्यंजना का विकास होता गया है। डाक्टर नगेन्द्र के अनुसार—

'चिन्तन और अनुभव मे परिपुष्ट भट्टजी की जीवन-दृष्टि अब प्राचीन और नवीन प्रवृत्ति और निवृत्ति, अनुशासन और स्वच्छन्दता मे सहज ही सन्तुलन कर लेती है और इस युग की समस्याओ के मर्म तक पहुँचकर व्यंग्य के द्वारा उनके समाधान की ओर संकेत कर सकती है। उनका व्यंग्य निषेधात्मक ही नहीं रचनात्मक भी है।"

प्रस्तुत अध्याय का सार

हिन्दी साहित्य को भट्टजी की महान् और महत्त्वपूर्ण देन उनके भावनाट्य और गीतिनाट्य है। उनके इन नाटको का मूल स्रोत यद्यपि पौराणिक है, फिर भी वह सामयिकता लिए हुए है जिनमे नाटककार ने मानव जीवन के सदैव रहने वाले सत्यो, उनकी अनुभूतियों, पारस्परिक संघर्षों और मानवोचित भावनाओ के माध्यम से आधुनिक जीवन की समस्याओ पर प्रकाश डाला है। भावनाट्यो की कथा का केन्द्रबिन्दु यौवन का उद्दाम आवेग है। मत्स्यगंधा मे यौवन ही उसका चरम प्राप्य है जिससे वह सदैव संघर्ष करती है। विश्वामित्र मे नारी के सम्मुख पुरुष का तप, दम्भ आदि सब-कुछ विलीन हो जाता है। नाटककार ने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो ही मार्गों को महत्त्व दिया है। राधा मे यौवन की वासना सात्विक प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। इन नाटको मे विभिन्न संघर्षों को महत्त्व दिया है।

पुरुष पात्रो की अपेक्षा नारी पात्र अधिक है जो कि भावनाट्यों की प्रमुख विशेषता है। नारी पात्रो के मन में उठनेवाले संघर्ष का भट्टजी ने सफल चित्र अंकित किया है। इन नाटको के नाम भी अधिकाशत: नारी पात्रो के नाम पर ही है—यथा मत्स्यगधा, राधा और अशोक वन-वन्दिनी आदि।

कथोपकथन, रस, भाषा और अभिनेय की दृष्टि से भी भट्टजी के ये नाटक अपने ही ढग के है। कला की दृष्टि से भट्टजी की प्रौढ़तम कला के दर्शन इन नाटको मे होते हैं।

भट्टजी के ध्वनिरूपक तत्वों की दृष्टि से अत्यन्त सफल है। अनेक बार रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित भी हो चुके है।

४ | भट्टजी के एकांकी

साहित्य अपने युग की सामाजिक-व्यवस्था, मान्यता और जीवन दृष्टि-कोण के अनुरूप ही विषय-वस्तु तथा कला का रूप ग्रहण करता है। उसकी रचना के सिद्धान्त, उसकी आलोचना तथा उसका दृष्टिकोण भी वैसा ही होता है। आधुनिक युग मे साहित्य केवल मात्र मनोरंजन का साधन नहीं है, प्रत्युत वह जीवन मे नई चेतना देने का सबल अस्त्र है। भारतेन्दु युग मे यही नवीन चेतना नाटको के सृजन का कारण बनी। परन्तु औद्योगिक स्पर्धा के फल-स्वरूप अवकाश का अभाव, रंगमच की जटिलता तथा चित्रपट की सस्ती लोक-प्रियता ने पूर्ण नाटको के विकास के मार्ग में भली प्रकार एक बाधा उत्पन्न कर दी। फिर भी नाटक अबाध गति से आगे बढता रहा। अवकाश के सीमित क्षणो मे, कम-से-कम साधनो के बीच, अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता एवं अपनी अभिव्यजना की शक्ति लिये हुए इस दिशा में एकाकी का उदय हुआ। चरित्र-चित्रण का सीमित क्षेत्र होने पर भी पूर्ण नाटक की अपेक्षा एकाकी नाटक जीवन के कटु रस मे डूबे हुए सिद्ध हुए, क्योंकि उनका उदय जिन साहित्यिक परिस्थितियो मे हुआ, उनमे सघर्ष की मात्रा सबसे अधिक थी। इसी संघर्ष तत्त्व से इस कला की आत्मा की भी प्रतिष्ठा हुई।

आधुनिक एकांकी पश्चिम की कला से बहुत प्रभावित है, अतः एकाकी कला मे अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं का घात-प्रतिघात सबसे प्रधान तत्त्व स्वीकार किया गया है। दो परस्पर-विरोधी परिस्थितियाँ अपने-अपने सत्य के साथ आपस में टकराती है और उनका संघर्ष समूचे एकांकी मे फैल जाता है। इस भाँति एकांकी मे एक निश्चित समस्या की तीव्रता, उसके द्रुत-विकास, आवेग और चरम-सीमा पर उस समस्या की चरम अन्विति, एकाकी कला की मूल विशेषताएँ

है। इसको एक अद्भुत सूत्र में बाँधने के लिए इस कला में कौतूहल और जिज्ञासा की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। इसी तत्त्व में एकाकी के समस्त तत्त्व परस्पर इस भाँति जुड़े रहते हैं जैसे एक पूर्ण-पुष्पित पुष्प में उसकी पखुडियाँ, पराग और सुगन्ध। अस्तु।

विभिन्न विद्वानों ने एकाकी के मुख्य तत्त्व छः माने हैं।

कथा-वस्तु—एकाकी की कथावस्तु में निश्चित रूप से जीवन की तीव्र अनुभूति होनी चाहिए। एकाकी की कथा नाटक की अपेक्षाकृत सीमित होती है जिसका लक्ष्य-बिन्दु एक घटना, एक विचार या एक भाव पर ही होता है। सारी कथा उसी बिन्दु के पास घूमती है। एकाकी का कथा-सगठन जिज्ञासा कौतूहल, आकस्मिकता, विस्मय, सभ्रम और तनाव की आरोह-अवरोहपूर्ण गति के मध्य में से होता हुआ अपने चरम विकास को प्राप्त होता है और जिज्ञासा मिश्रित विस्मय विमूढता की स्थिति दर्शकों में उत्पन्न करता हुआ आकस्मिक रूप से समाप्त हो जाता है

पात्र या **चरित्र-चित्रण** एकाकी का दूसरा तत्व है। पात्रों के द्वारा नाटक की मूल घटनाएँ और अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है, पात्रों के चरित्र-चित्रण इन्हींके मानसिक सघर्ष और इन्ही की गतिशीलता द्वारा एकाकी में स्वाभाविक रूप में नाटकीय आरोह-अवरोह उपस्थित होता है। एकाकी में पात्रों की सख्या कम-से-कम होनी चाहिए। एकाकी में दो प्रकार के पात्र होते हैं—

१. मूल पात्र—एकाकी के चरम लक्ष्य का नायक होता है। यही वह शक्ति होती है, जिससे नाटक की मूल सवेदना चरमसीमा पर पहुँचती है, और नाटक की अनुभूति साकार हो उठती है।

२. गौण पात्र—कभी मुख्यतः नाटक के मूल पात्र की सहायता के लिए होते है। ये पात्र कभी-कभी नाटक की मूल संवेदना को उत्तेजित करते हैं। दूसरी ओर ये पात्र मूल पात्र की आत्माभिव्यक्ति में माध्यम का कार्य करते हैं। एकाकी में वही पात्र शक्तिशाली सिद्ध होते हैं, जो अपने बाह्य-कार्यव्यापारों के साथ-साथ अपने चारित्रिक गुणों में अन्तर्मुखी होते हैं। पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से नाटकीय परिस्थिति भी पैदा होती है और उचित सघर्ष को भी

स्थान मिलता है।

संवाद—चरित्र-विकास, कथा-विकास, प्रासंगिक घटनाओं का संकेत आदि सारा कार्य संवादों का है। एकांकी के संवाद शक्तिशाली, सजीव, सरस, संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाक्-वैदग्ध, नाटकीय एवं प्रभावोत्पादक होने चाहिए। लम्बे अनाटकीय संवाद जिनसे वातावरण तथा प्रभाव के नष्ट होने का भय हो एकांकी में नहीं आने चाहिए। संवाद वाचिक अभिनय का प्रधान आधार है, किन्तु उसमें आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनय उत्पन्न करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

दृश्य-विधान—एकांकी में कथा का सम्यक् अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वैसा ही वातावरण बनाना नितान्त आवश्यक है। यह वातावरण ऐसा होना चाहिए जिसमें कथा की आत्मा और पात्रों का व्यक्तित्व तथा अभिनय उभर सके। एकांकी का वातावरण प्रमुख रूप से दृश्य-विधान तथा संवादों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। लेखक रंगमंच पर ऐसे दृश्य विधान का निर्देश करता है जिससे घटना का समय, स्थान, परिस्थितियाँ, वातावरण सब कुछ स्पष्ट होकर कथा-प्रभाव के अनुकूल वातावरण उपस्थित हो जाता है, और दर्शक दृश्य-विधान द्वारा प्रस्तुत वातावरण के माध्यम से स्वयं भी अपने को उसी वातावरण में अनुमान करके कथा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, और फिर रस-विभोर होता हुआ एकाग्रता के साथ नाटक देखता है। दृश्य-विधान के साथ-साथ एकांकी का आरम्भ रंग-संकेत से होता है, जिससे नाटक की संवेदना या देश-काल और परिस्थिति स्पष्ट होती है।

नाटक के आरम्भिक अंश में कौतूहल और जिज्ञासा-तत्त्व का सन्निवेश इस कला की चरम सफलता है। इस आरम्भ-अंश में एकांकी के लक्ष्य के बीज का प्रस्तुत होना सफल एकांकी के लिए आवश्यक है। इस बीज अंश में एक ओर नाटक की मूल संवेदना गुँथी रहती है और दूसरी ओर इसमें एकांकी के मुख्य-पात्र स्थान पाते हैं।

भाषा—स्वाभाविक और यथासम्भव पात्रानुकूल होनी चाहिए। उसमें कथा-अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता होनी चाहिए। शब्द, ध्वनि और

वाक्य-विन्यास ऐसा होना चाहिए जिससे सवादो मे नाटकीयता का गुण उत्पन्न हो सके।

एकाकी मे सकलन त्रय का भी विशेष महत्त्व है। वास्तव मे रचना-विधान की दृष्टि से एकाकी के सविधान मे प्रभाव और वस्तु की एकता अनिवार्य है। शेष देश और काल की एकता या विभिन्नता एक ओर एकाकी की सवेदना पर निर्भर है; दूसरी ओर लेखक की प्रतिभा पर। विशुद्ध शिल्प-विधि की दृष्टि से सफल एकांकीकार वही है जो जीवन का एक पक्ष, एक घटना, एक परिस्थिति को उतनी ही स्वाभाविकता से अपनी कला मे संजो ले, सजा ले, जैसी स्वाभाविकता हमे अपने जीवन मे मिलती है फिर चाहे सकलन त्रय की ओर ध्यान दिया गया हो, चाहे न दिया गया हो।

एकाकी के तत्त्वो की विवेचना करने के उपरान्त भट्टजी के इस विषय में विचार जानने आवश्यक है—

"मेरी दृष्टि मूलभाव पर रहती है। मैं टेकनीक को वही तक उपयोगी मानता हूँ जहाँ तक वह मूलभाव या समस्या को उद्दीप्त करे और यथार्थवादिता को नष्ट न करे। मैं नाटक को टेकनीक के कृत्रिम बन्धनों मे नही बाँधना चाहता।"[१] इससे स्पष्ट है कि भट्टजी ने शास्त्रीय पक्ष की अपेक्षा मूल उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया है। एकांकी के शिल्प-विधान की जटिलता मे उलझने की उनकी इच्छा ही नही थी। भट्टजी का एकाकी-साहित्य सामाजिक आलोचना, राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। विषय वैविध्य की दृष्टि से इनके एकांकियों का विस्तार व्यापक, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, सामाजिक चेतना के प्रति जागरूकता, व्यंग्यात्मकता, जनजीवन का यथार्थ चित्रण, प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की झाँकी और इतिहास का समीकरण महान् है। फिर भी शास्त्रीय कसौटी पर उनके एकांकी खरे उतरते है। साथ ही भाषा की सरलता, भावो की सरलता और सोद्देश्यता के कारण वे आकर्षण का विषय हैं। अपने एकाकी नाटकों में जीवन के सत्य का उपयुक्त प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। यही

---

१. 'राष्ट्र भारती', पृ० ६९०

कारण है कि अपने जीवन की यथार्थता और विषमताओ का चित्रण करने पर भी अन्ततः किसी उपयुक्त समाधान के खोज करने की चेष्टा की है। उनके एकाकी नाटको मे यथार्थ का स्पष्टीकरण है। भट्टजी के एकांकी नाटको के संग्रह इस प्रकार है—

१ आदिम युग और अन्य एकाकी, २. धूम-शिखा, ३. आज का आदमी, ४. पर्दे के पीछे, ५. अभिनव एकाकी, ६. समस्या का अन्त, ७. स्त्री का हृदय।

आदिम युग तथा अन्य एकाकी

आदिम-युग, प्रथम-विवाह, मनु और मानव तथा कुमारसम्भव आदि अन्य एकांकियो की कथा का मूल पौराणिक है। ये सभी एकाकी नाटक सभ्यता के विकास मे क्रम और परिस्थितियो के विभिन्न चित्र है। आदिम-युग मे प्रागैतिहासिक काल की सस्कृति का चित्र है। प्रथम-विवाह मे प्रारम्भिक आर्य-सस्कृति का चित्र है। मनु और मानव मे जल-प्लावन के पश्चात् आर्य-सस्कृति के विकास का चित्र है। कुमारसम्भव मे गुप्तकालीन सस्कृति की झलक है। इनमे प्रारम्भिक आर्य-सस्कृति, प्रागैतिहासिक काल, महामानव मनु के काल की संस्कृति, वैदिककालीन-भारतीय-सस्कृति तथा मध्यकालीन सास्कृतिक अभिरुचि चित्रित है।

आदिम-युग प्रस्तुत एकाकी की कथा का आरम्भ सृष्टि के आरम्भ के दृश्य से होता है। हिमालय के वन्य-प्रदेश मे एक नर और नारी का निर्माण अन्य विशाल जीव-जन्तुओ के साथ होता है। ज्वालामुखी के विस्फोट से सर्वत्र घनान्धकार छा जाता है। जलते हुए लावे से व्याकुल होकर जीव इधर-उधर भागते है। ऐसे भयकर वातावरण मे नर और नारी एक-दूसरे से टकराते है, यही दोनों का प्रथम मिलन है। दोनो आश्चर्य, भय, उत्सुकता तथा कुछ आकर्षण के साथ एक-दूसरे को देखते है। दोनो मे क्रमशः आकर्षण बढता है तथा दोनों साथ रहना प्रारम्भ कर देते है।

छाया रूप ब्रह्म दोनो को ज्ञान देता है। ब्रह्म के द्वारा शिक्षित किए जाने पर ही उन्हें मानव के मन मे व्याप्त विविध भावो का ज्ञान होता है। प्रारम्भ में वे दोनो प्राणी बोलना भी नही जानते थे। ब्रह्मा के आदेशानुसार ही वे अनेक पुत्र तथा पुत्रियों को जन्म देते है। नर का नाम स्वयभुव मनु और नारी का नाम शतरूपा हो जाता है। उनकी सन्तति के विभिन्न विचारधारावाली होने के कारण आपस मे लड़ते है और अन्त मे उन्हे छोड जाते है। मनु भी शतरूपा को त्यागकर तप करते है, किन्तु उन्हे शान्ति नही मिलती है और शतरूपा अपनी दो छोटी कन्याओ का पालन-पोषण करती है। मारीच के मानस-पुत्र कर्दम के समझाने पर मनु अपनी त्रुटि को समझते है तथा उन्हे पश्चात्ताप भी होता है कि वे शतरूपा को त्यागकर क्यो चले आए। तभी शतरूपा उन्हे ढूँढती-ढूँढती वहाँ आती है और मनु उसके द्वारा प्रार्थना करने पर पुनः घर जाने के लिए तत्पर हो जाते है। किन्तु मनु का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है—दोनो कन्याएँ एव शतरूपा उनकी सेवा करती है। मनु के पुत्र भी असफल होते है और अपने माता-पिता के पास ही आ जाते है। मनु पुनः उठने का प्रयास करते है और तत्काल ही उनकी मृत्यु हो जाती है : उन सबका मृत्यु से परिचय होजाता है। अन्त मे शतरूपा कहती है कि मानव-मन को सयत रखने के लिए मृत्यु अत्यन्त आवश्यक है।

आदिम युग में नाटककार ने नाटकीय बन्धन को तोडकर मनुष्य सृष्टि को स्वायभुव मनु और शतरूपा के प्रतीक द्वारा उस समय के आदिम जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। यद्यपि स्वायंभुव मनु और शतरूपा तथा उनके पुत्र-पुत्रियाँ सब वैदिक एव पौराणिक पात्र है, किन्तु उन पात्रो का चारित्रिक विकास नाटककार ने स्वाभाविक ढग से किया है। यहाँ पर भट्टजी ने ब्रह्मा को स्वायभुव मनु और शतरूपा की चिन्तना शक्ति माना है, जिसके द्वारा स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते है। पात्रो के उचित निर्वाह एव समय की रक्षा के लिए भट्टजी ने ब्रह्मा की कल्पना की।

प्रस्तुत एकांकी मे मानव-मन में सृष्टि के आरम्भ से किस प्रकार भाव उत्पन्न हुए तथा कैसे नर-नारी का मिलन हुआ, आदि पर प्रकाश डाला है।

प्रथम-विवाह—कब, क्यों और कैसे हुए इस कल्पना को साकार करते हुए नाटककार ने यह भी सिद्ध किया है कि विवाह मानव के लिए अनिवार्य है।

कथा-सार—काद्रवेय आर्यों का ऐसा परिवार है जो अपने पशुओं और सामान के साथ सदैव आगे बढता जाता है। जब से इस परिवार ने अपना निवास स्थान छोड़ा, तभी से इनका अन्य परिवार के साथ सम्पर्क नहीं हुआ। वेदों का ज्ञान तथा भाई-बहिन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री की सज्ञा भी इनसे अपरिचित थी। परिवार की प्रत्येक नारी पर नर का अधिकार था। कन्द-मूल-फल व पशुओं का माँस, मद्यपान तथा गायों का दूध ही उनका आहार था। भ्रमण करते-करते ये लोग भारत में आते हैं जहाँ उनका भारतीय आर्यों से परिचय होता है। परिवार के कुछ व्यक्ति भारतीय आर्यों के सदृश ही स्थिर रहकर जीवन-यापन करना चाहते हैं, किन्तु परिवार का स्वामी इसे उचित नहीं समझता। तभी उनका परिचय पचजन नाम के एक अन्य परिवार से होता है। इस परिवार के विश्वपचजन मध्य काद्रा, रुद्रपचजन ऊपा काद्रा तथा ज्येष्ठ काद्र विश्वावारा की ओर आकर्षित होते हे। विवाह के लिए वे काद्रवेय से अनुमति माँगते हे किन्तु कन्या को वे परिवार की सम्पति मानते है, अत. वे अपनी कन्या को परिवार से पृथक करना नहीं चाहते। अन्त में वरुण पचजन, जो कि पचजन परिवार के मुखिया हे तथा ज्ञान के प्रसार मे जिन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया है, बुलाए जाते है। वे काद्रवेय तथा अन्य व्यक्तियों को समझाते ह कि मानव का ज्ञान का उपयोग करते हुए लाभ उठाना चाहिए। अन्तत सभी उनकी बात से सन्तुष्ट हो जाते है—विवाह सम्पन्न हो जाता है।

प्रथम-विवाह का आधार एक वैदिक कल्पना है। प्रारम्भ मे सामाजिक आचार-विचार के वन्धनों से अनभिज्ञ आर्य-जाति भ्रमणशील थी। दूसरे शब्दों मे कह सकते है कि आर्य लोग पहाड़ो से उतरकर उत्तरीय प्रदेश मे आ रहे थे। प्रथम-विवाह उसी समय की एक झाँकी है। काद्रवेय एव काद्रवेयी का चित्रण ससार के सरल, सच्चे मनुष्यों का चित्र है। वरुण पचजन उस समय के विद्वान आचार्य थे जिन्होंने समाज मे मर्यादा की स्थापना की।

प्रस्तुत एकाकी मे विवाह के प्रारम्भिक स्वरूप को दिखाया गया है। साथ ही

विवाह-प्रथा द्वारा समाज मे सुख शान्ति और व्यवस्था स्थिर रह सकती है। मानव विकास और प्राचीन संस्कृति का चित्रण है।

मनु और मानव मे वैदिक सभ्यता और संस्कृति का चित्र है। जल-प्लावन के पश्चात् आर्य-संस्कृति का पुनरुद्धार मनु के द्वारा हुआ था। उन्हीकी सन्तति-परम्परा से वर्ण-व्यवस्था तथा भारतीय आर्यों का विकास हुआ। कथा का आरम्भ मनु के आश्रम से होता है, तथा मनु समाज की वर्ण-व्यवस्था एवं सुख-सुविधा के विषय मे चिन्तन करते है। तभी उन्हे वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के गोत्रो के संघर्ष का समाचार मिलता है। मनु इस संघर्ष को रोकने के हेतु वृहद् यज्ञ का आयोजन करते है।

दूसरी ओर आर्यों और दस्युओ मे संघर्ष, द्वन्द्व चल रहा है। दस्युओ का नेता वासुकी राक्षसो से गठबन्धन जोड लेता है। आर्यों के वृहद् यज्ञ के समाप्त होने के उपरान्त मनु वर्ण-व्यवस्था का प्रस्ताव रखते है, किन्तु ब्राह्मण वर्ग कर्म को नही छोड़ना चाहता। परन्तु दस्युओ एवं राक्षसो द्वारा पराजित किए जाने पर वे इसे सहर्ष स्वीकार कर लते है, और मनु के पुत्र एवं पुत्री इडा आर्यों को संघटित करके उन्हे युद्ध-शिक्षा देते है।

हिमालय पर्वत से आर्यो का एक दल बुध के नेतृत्व मे भारत आता है। इड़ा पुरुष-वेष मे बुध से मिलती है तथा बुध इडा के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा से परिचित होने के कारण उससे इड़ा का पता पूछते है। बुध की बहिन सुनृता इड़ा के रूप-सौन्दर्य से मुग्ध हो उसे पुरुष समझ विवाह का प्रस्ताव करती है, किन्तु इडा यह स्वीकार नही करती है। इस प्रकार आर्यों का नवीन दल पराजित आर्यों के साथ रहना आरम्भ कर देता है। धीरे-धीरे आर्य युद्ध-विद्या मे निपुणता प्राप्त करते है और दस्युओ को पराजित कर देते है। इसी अवसर पर बुध को इडा के स्त्री रूप का पता चलता है। इडा भी बुध से प्रेम करती है। अतः दोनो गन्धर्व विवाह कर लेते है।

इधर आर्यों की विजय के उपरान्त सभी मनु के आश्रम मे एकत्रित होते है। वही पर राजाओ का निर्वाचन होता है और भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त रखा जाता है। राजाओं को प्रजा-पालन की शिक्षा देकर मनु ब्राह्मणों को

उनका मन्त्री बनाते हैं। इस प्रकार नाटककार ने जल-प्लावन के पश्चात् आर्य संस्कृति का विकास इस नाटक मे प्रस्तुत किया है। इस एकाकी से प्रकट होता है कि मनु वैदिक-सभ्यता से पूर्व के है और वर्ण-व्यवस्था आदि का विकास वैवस्वत मनु के समय मे ही हुआ है। यज्ञीय-सभ्यता के प्रसार का सुन्दर चित्रण है। इडा को स्त्री और पुरुष दोनो ही रूपो मे रखकर नाटकीय चमत्कार के साथ-साथ नाटकीय व्यग्य भी उपस्थित होता है।

कुमारसम्भव — कथा का आरम्भ सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म के चालीसवे दिवस पर होनेवाले उत्सव से प्रारम्भ होता है। महाकवि कालिदास कुमारसम्भव नामक नाटक-काव्य की रचना कर, इसी उत्सव के उपलक्ष मे महारानी ध्रुवदेवी को भेंट करते है।

दूसरी ओर महाराज चन्द्रगुप्त चिन्ताकुल है, क्योकि स्वप्न मे देवर्षि नारद ने कहा कि ग्रन्थ के पूर्ण होने की आशा कम है। वे कालिदास से मिलने जाते है, किन्तु कालिदास की सेवा मे उपस्थित विलासवती द्वारा वे द्वार पर ही रोक लिये जाते है। इधर कालिदास वास्तव मे कुमारसम्भव को पूर्ण नही कर पाते। उनकी कवित्व-शक्ति कुमारसम्भव की रचना करने मे असमर्थ-सी हो जाती है। इसी प्रकार दृश्य-परिवर्तन होता है। कैलाश पर्वत पर सरस्वती देवी पार्वती से अनुनय-विनय करती है कि वे अपने शाप को, जो उन्होने कालिदास को कुमारसम्भव के अपूर्ण रहने के लिए दिया था, वापस लौटा ले या क्षमा कर दें (वास्तव मे नारद ने पार्वती को उत्तेजित किया है कि कालिदास ने मानव होकर आपका तथा भगवान् शकर का शृंगार वर्णित किया है। पार्वती नैतिकता का प्रतीक होकर कालिदास को शाप देती है) ; किन्तु पार्वती किसी भी प्रकार से शाप वापस नही लेना चाहती। उसी समय स्कन्द और शकर आकर पार्वती से अनुनय करते है कि वे कालिदास को शाप से मुक्त कर दें। अन्त मे शिव अन्य मार्ग न देखते हुए समाधिस्थ हो जाते है और तब पार्वती को चिन्ता होती है। तत्पश्चात् वे सरस्वती से कहती है—"मैं आशीर्वाद देती हूँ कि कुमारसम्भव अपूर्ण रहकर भी विश्व साहित्य का रत्न होगा।" इधर कालिदास सायंकाल तक ग्रन्थ पूर्ण नही कर पाते और उत्सव में सम्मिलित

होते है और अपूर्ण काव्य ही ध्रुवदेवी को भेंट करते है, किन्तु वह इसे अपने पुत्र का अपमान समझती है और स्वीकार नही करती। कुमार राजकुमार अचानक ही जोर से विलाप करता है। इस पर वराहमिहिर कहता है कि जब तक ग्रन्थ को स्वीकार नही किया जायेगा, राजकुमार रोता ही रहेगा। अन्त मे विवश होकर महारानी को काव्य स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार अन्त मे कालिदास की विजय होती है।

प्रस्तुत एकाकी मे कला और आचार की साहित्यिक समस्या का नाटककार ने अत्यन्त सुन्दर ढग से समाधान किया है। सरस्वती शुद्ध कलाकार का प्रतीक है जिन्होने कालिदास के पक्ष को लिया है। कालिदास की महत्ता को सभी परवर्ती कवियो द्वारा नाटककार ने बड़े कौशल से सरस्वती के माध्यम से पार्वती के समक्ष स्वीकार कराया है। नाटककार ने कालिदास को सुरासेवी दिखाकर इसे कविता की प्रेरक-शक्ति के रूप मे दिखाया है।

क्रांतिकारी विश्वामित्र—वैदिक-युग से सम्बन्धित क्रांतिकारी विश्वामित्र सामाजिक सघर्ष का चित्र है। विश्वामित्र अपने समय के महान क्रांतिकारी व्यक्ति थे। उन्होने आर्यों द्वारा किए गए भयकर विद्रोह को शान्त करते हुए आर्यों और अनार्यो मे सामजस्य उपस्थित किया। सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज, नियम-सयम आदि अनेक दृष्टियो से दो विभिन्न जातियो का एकीकरण किया। उनके पारस्परिक सघर्ष को अपने तप और पौरुष के द्वारा समाप्त किया। यज्ञ मे पशुबलि, नरबलि आदि के साथ-साथ प्राचीन परम्परा-गत रुढियो का खण्डन किया।

प्रस्तुत एकाकी की कथा भी विश्वामित्र के क्रान्तिकारी रूप को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। यथा—महाराजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की बलि न देकर यज्ञ आदि के द्वारा वरुण को प्रसन्न करना चाहते है, किन्तु पुरोहित वशिष्ठ उन्हे पुत्रबलि के लिए बाधित करते है, क्योकि ऐसा न करने पर महा-राज को प्रतिज्ञा-भग दोष के साथ-साथ पाप का भी भागी बनना पड़ेगा। महा-राज हरिश्चन्द्र पुत्र बलि की कल्पना से उद्विग्न और मूर्च्छित हो जाते है। चेतन होने पर वह ब्राह्मण-पुत्र की बलि करने के लिए तैयार हो जाते है। हरिश्चन्द्र

के इस कृत्य से क्रोधित होकर पुरोहित वशिष्ठ चले जाते है।

वशिष्ठ के चले जाने के उपरान्त विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र पुरोहित के रूप मे आमन्त्रित करते है, परन्तु अजीगर्त के निरापराध पुत्र शुन शेप को आत्म-रक्षा के लिए पुकारता हुआ देखकर विश्वामित्र यज्ञ मे नर-बलि का विरोध करते है—"मै नर-बलि नही होने दूँगा। देवता ऐसा कभी नही चाह सकते, हम सब उनकी सन्तान है, वे हमारे पिता है, जनक है, जनक पुत्र की हत्या नही चाहते। मैं ऐसा न होने दूँगा······।"[1]

और भी—

"तुम हट जाओ मै स्वय कराऊँगा, मै देवता को बलि के बिना प्रसन्न करूँगा तथा नर-बलि नही दूँगा।"[2] यह कहकर विश्वामित्र यज्ञ आरम्भ करते है। कुछ समय उपरान्त वरुण को अपने मन्त्र-बल पर यज्ञ मे आमन्त्रित करते है। महाराज हरिश्चन्द्र के क्लेश नष्ट हो जाते है। अन्त मे विश्वामित्र, जम-दग्नि, लोपामुद्रा, शुन शेप आदि को साथ लेकर चले जाते है। एकाकी का अत अत्यन्त अद्भुत एवं स्वाभाविक ढग से हुआ है।

नाटककार ने प्रस्तुत एकाकी के प्रमुख पात्र विश्वामित्र का रूप आधुनिक क्रातिकारी के रूप मे अत्यन्त स्वाभाविक व आकर्षक ढग से चित्रित किया है। विश्वामित्र ने अपने तप एव पौरुष के बल पर समाज मे वास्तविक ज्ञान एव नवीन चेतना की प्रतिष्ठा की। वशिष्ठ से सघर्ष करते हुए उन्होने जन्म-जाति का विरोध करते हुए मानव को उसके कर्म के आधार पर ही वर्ण के अन्तर्गत रखा। प्रस्तुत एकाकी मे भी उन्होने इसी सघर्ष को व्यक्त किया है।

शशिलेखा—प्रस्तुत एकाकी बौद्धकालीन सामाजिक सस्कृति का सजीव चित्र उपस्थित करता है। एकाकी का प्रमुख पात्र शशिलेखा महाराज विनोद वर्धन की राजनर्तकी है, किन्तु अन्य राजनर्तकियो से भिन्न वह एक सच्च-रित्र एव पावन स्त्री है। फिर भी, स्त्री होने के नाते वह मानवीय राग-द्वेप से

१. 'आदिम-युग और अन्य नाटक', पृ० १८५
२. वही, पृ० १९०

अभिभूत है। कथा का आरम्भ उसके सौन्दर्य-प्रसाधन से होता है। आरम्भ से वह भिक्षु कौण्डिन्यायन के रूप पर मुग्ध होकर उन्हे आत्म-समर्पण करना चाहती है। कौण्डिन्यायन तपस्वी और आत्म-चिंतक है। वह उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देते हैं। सौन्दर्य-गर्विणी शशिलेखा भिक्षु से प्रतिकार लेने के लिए व्याकुल हो जाती है। वह महाराज से भिक्षु के शिरच्छेद के लिए प्रार्थना करती है। महाराज विनोदवर्धन के द्वारा अनेक बार समझाए जाने पर भी वह अपने हठ पर दृढ़ रहती है। तभी भिक्षु कौण्डिन्यायन सहसा प्रकट होकर शशिलेखा को अपने शिरच्छेद के लिए कहते है। शशिलेखा द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर सुख-दुःख, वास्तविक सौन्दर्य आदि के विषय मे सारयुक्त बाते कहते हैं जिनसे प्रभावित होकर शशिलेखा धर्म के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है तथा बौद्ध हो जाती है।

'शशिलेखा' नामक एकाकी मे नाटककार ने नारी के हृदय मे उठनेवाले विभिन्न उद्गारो का द्वन्द्व अत्यधिक सुन्दर ढग से किया है। भिक्षु का सहसा प्रवेश रोचकता, कौतूहल आदि मे वृद्धि करता है।

भट्टजी के द्वारा रचित 'आदिम-युग' नामक एकाकी सर्वथा नवीन प्रयोग है। इन एकाकियो मे प्राणीविज्ञान, समाजविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, वेद, पुराण आदि मानवशास्त्र का समन्वय करते हुए सर्वथा एक नई शैली एवं विषयवस्तु की सृष्टि की गई है। इनमे एक ओर मनुष्य-सृष्टि से आदिपुरुष स्वयभुव मनु और शतरूपा द्वारा मनुष्य जाति की आदिम अवस्था की झाँकी है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक समाज तथा जीवन की सभी समस्याओं का यथार्थ चित्रण है।

प्रस्तुत एकाकी संग्रह के सभी नाटक वैदिक-युग से लेकर मध्य-युग तक के विभिन्न चित्र उपस्थित करते है। एक ही संग्रह मे हमे इन दोनो कालो का सम्पूर्ण चित्र मिल जाता है। साथ ही भारतीय संस्कृति और आदर्शों की भी झाँकी मिलती है। इन नाटको के द्वारा लेखक की चिन्तन-प्रकृति की विराटता का ज्ञान होता है। ये सभी एकाकी रगमच पर एवं आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुके है। अनेक स्थानों पर पुरस्कृत भी हुए है। इस प्रकार क एकाकी हिन्दी-साहित्य मे भट्टजी की अपनी मौलिक सूझ

है। जिनका अन्य भाषाओं मे भी अनुवाद हुआ है।

धूमशिखा

भट्टजी के छः एकांकी नाटकों का संग्रह है जिसमे नाटककार ने निष्पक्ष तथा तटस्थ भाव से समाज और साहित्य को परखा है। भट्टजी ने जीवन के पोष्य तत्वों को खोजकर समाज के व्यक्तियों के सम्मुख रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार एक सभ्य, संस्कृत परिवार एवं समाज की स्थापना करना चाहता है। प्रस्तुत एकांकी मे सामाजिक, पारिवारिक और राजनैतिक जीवन का चित्रण है। इन एकांकियों की समस्याएँ नवीनतम, संघर्षपूर्ण और यथार्थवादी है।

प्रथम एकांकी धूमशिखा है जिसमे मन्दाकिनी, विपिन और साधना ये तीन पात्र मुख्य है। कथा का आरम्भ मन्दाकिनी के घर से आरम्भ होता है। मन्दाकिनी अत्यन्त रुग्ण अवस्था मे चारपाई पर लेटी हुई है। उसकी छोटी बहन साधना उसकी सेवा कर रही है। साधना उसे विपिन नामक व्यक्ति का पत्र लाकर देती है, जिसे पढ़कर मन्दाकिनी कुछ भावावेश मे आ जाती है; परन्तु शीघ्र ही वह पुनः निराशा मे डूब जाती है और तभी विपिन नामक व्यक्ति कमरे में प्रवेश करता है। मन्दाकिनी प्रथमतः तो विपिन से बोलना भी उचित नहीं समझती, क्योंकि वह उसका प्रेमी ही है जिसने उसे धोखा दिया और मन्दाकिनी की अनुजा कमला से विवाह कर लिया था। अब कमला की मृत्यु होने के उपरान्त वह उसके पास आता है। इधर विपिन बाबू कमला को दोषी ठहरा कर स्वयं निर्दोष बनता है, किन्तु सब व्यर्थ है, यद्यपि वह मन्दाकिनी को नाना-भाँति से समझाता है, उसके भ्रम और सन्देह को दूर करना चाहता है, वह अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त भी करता है। मन्दाकिनी को भी सत्य का पता उसकी सखी से मिल जाता है, फिर भी वह कहती है कि उसका सौन्दर्य नष्ट हो चुका है। वह क्षय रोग से पीड़ित है। वह उस कंकाल का क्या करेगा! परंतु विपिन कहता है कि वह उसे मसूरी ले जाएगा, स्वयं उसकी सेवा करेगा इस प्रकार उसे बचा लेगा। मन्दाकिनी प्रस्तुत-सी हो जाती है, परन्तु तुरन्त

ही विपिन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है और उसे कभी न आने की आज्ञा भी दे देती है। अन्त मे विपिन निराश होकर लौट जाता है।

इस प्रकार नाटक की कथा मानव-मन मे पनपनेवाले सन्देह तथा उससे उत्पन्न होनेवाले परिणामो द्वारा किन-किन विकृतियो का जन्म होता है आदि का चित्रण है। नाटककार ने पुरुष की भ्रमर-वृत्ति की ओर भी सकेत किया है।

विस्फोट—नामक एकाकी मे आज के विद्वत् समाज पर व्यग्य है। मानव की यह मूलभूत त्रुटि है कि वह व्यक्तित्व से प्रभावित होता है। महान् व्यक्तित्व के व्यक्ति जो भी कार्य करते है चाहे वह सामाजिक, पारिवारिक किसी भी दृष्टिकोण से महत्त्व न रखते हो, परन्तु आलोचकवर्ग उस कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा करता है। सम्पादकवर्ग इस प्रकार की रचनाओ को अपने पत्र मे प्रकाशित करके अपना गौरव समझते है, इन्ही बातो को प्रस्तुत एकाकी मे चित्रित किया गया है।

नगेश एक ऐसे कवि है जिन्होने तीस वर्ष से साहित्य-साधना की, जिसके परिणामस्वरूप उनकी इतनी प्रतिष्ठा जम जाती है कि प्रत्येक आलोचक चाहे उस कविता का अर्थ समझ मे न आवे, उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते है। यही बात वे अपने मित्र से कहते है तथा उसे सिद्ध करने के लिए निरर्थक तुकबदी का निर्माण कर 'साधना' नाम की पत्रिका मे छपने के लिए भेज देते है।

इधर नाटक के आरम्भ मे कवि-गोष्ठी का आयोजन अपरा देवी नामक महिला के घर होता है। इन्हीके गण्यमान्य प्राय: सभी वादो के आलोचक वहाँ उपस्थित होते है। सिद्धेश्वर नामक व्यक्ति साधना मे छपी उस कविता का अर्थ पूछता है। सभी आलोचक अपने-अपने वाद का प्रतिपादन उस कविता मे करते हैं। इसी विषय को लेकर उनमे हाथापाई की नौबत आ जाती है। तभी साधना के सम्पादक का प्रवेश होता है। वह नगेश कवि द्वारा प्राप्त पत्र से उस रहस्य का उद्‌घाटन करते है। भेद खुलने पर सभी आश्चर्य एव लज्जा के भाव मे डूब जाते है। अन्त मे जलपान के पश्चात् एकाकी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार नाटक की कथा विद्वानों में व्याप्त थोथी व्यक्तित्व की विडम्बना

को चित्रित करती है। इसके साथ ही कवि-गोष्ठियों में परस्पर व्यवहार के प्रति भी नाटककार ने तीखा व्यंग्य चित्रित किया है।

नया नाटक—नाटक की कथा एक ऐसे व्यक्ति (लेखक) की कथा से सम्बन्धित है जो साहित्य सृजन के द्वारा ही अपनी आजीविका चलाता है। भारत को स्वतन्त्रता मिल चुकी है। देश—भारत तथा पाकिस्तान दो भागों में विभक्त हो चुका है। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर अत्याचार के साथ साथ महँगाई का भी अत्याचार होता है। लेखक जीवन की आर्थिक विषमताओं से व्यथित है। वह एक सम्पादक से नाटक लिखने का आश्वासन देकर कुछ रुपये ले लेता है, किन्तु समयाभाव के कारण वह नाटक लिखने में पूर्णत. असमर्थ है। सम्पादक के पत्र-पर-पत्र आते हैं। वह नाटक लिखने के लिए जितना शान्त वातावरण चाहता है उतने ही विघ्न कार्य में पड़ते हैं। कभी पत्नी घर के सामान की चर्चा करती है तो कभी अन्य व्यक्ति उससे परामर्श लेने आ जाते हैं। तभी उसके छोटे पुत्र के जो कि राशन लेने गया था, घायल होने का समाचार मिलता है। लेखक सब-कुछ छोड़कर राशन की दूकान की ओर चला जाता है। तत्पश्चात् मकान-मालिक किराया बढ़ाने की हठ करता है, और यदि वैसा नहीं करेगा तो वह थानेदार के द्वारा उसे पिटवाने की धमकी देता है। भट्टजी ने अपने एकाकी में लेखक का आज के समाज में क्या स्थान है, उसको किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है आदि यथार्थ घटनाओं का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में यदि कोई अपने सत्याधार पर अपना जीवन व्यतीत करता है तो समाज स्वार्थी व्यक्ति उसमें किस प्रकार से विघ्न डालते हैं। धूर्त तथा छल-कपट का व्यापार करनेवाले उसकी सच्चाई तथा त्याग से भी अनुचित लाभ उठाने में नहीं चूकते—यही भट्टजी ने अपने एकांकी में अंकित किया है।

नये मेहमान—प्रस्तुत एकांकी की कथा के द्वारा 'मान-न-मान, मैं तेरा मेहमान' बननेवाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति के प्रति करारा व्यंग्य है। राजनाथ मध्यम श्रेणी के परिवार का स्वामी है जो एक कमरे में अपने परिवार के साथ कठिनतापूर्वक रहता है। अत्यधिक गर्मी के कारण उन्हें और भी कष्ट का

सामना करना पडता है। राजनाथ की पत्नी रेवती पन्द्रह दिन से शिरस वेदना से पीडित है। राजनाथ एवं रेवती अपने निर्वाह के लिए विचार करते है तभी दो अनजाने व्यक्ति बीकानेर से यहाँ आते है। किन्तु उन्हे किसी और स्थान पर जाना था—वे राजनाथ से कोई-न-कोई परिचय निकालना चाहते है। परंतु उन्हे सफलता नही मिलती। अन्त में राजनाथ स्वय ही किसी वैद्य का नाम लेता है जिसके यहाँ वास्तव मे वे व्यक्ति आए हुए थे। एक ओर राजनाथ का पुत्र उन्हे पहुँचाने जाता है तो दूसरी ओर रेवती का भाई घर ढूंढता हुआ आ जाता है। रेवती उसे देखते ही प्रसन्नचित्त हो जाती है। उसकी सारी वेदना समाप्त हो जाती है। वह सभी चिन्ताओ को छोडकर अपने भाई के लिए भोजन बनाती है। राजनाथ के पूछने पर कि पहले आनेवाले मेहमानो और इन मेह-मानो मे क्या अन्तर है, रेवती कहती है कि यहाँ अपनत्व का भाव है।

इस प्रकार एकांकी की कथा व्यक्ति के, अपने तथा पराए भाव पर भी प्रकाश डालती है। मानव अनेक कठिनाइयो के विद्यमान होने पर भी, जिसे अपना समझता है उसके लिए सहर्ष सर्वस्व देने को उद्यत रहता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे बढती हुई महँगाई के कारण मध्यमवर्ग के निर्वाह की समस्या पर प्रकाश डालती है। व्यर्थ ही अतिथि बन जानेवाले व्यक्तियों पर अच्छा-खासा व्यग्य है।

अन्धकार और''''''एकांकी की कथा मानव हृदय के दो चित्रो को लेकर चलती है। एक ओर मानव अपने गुणों के कारण देवता से भी श्रेष्ठ बन जाता है तो दूसरी ओर अपने दुर्गुणों के कारण वह पशु से भी हीन हो जाता है।

कैप्टेन महेन्द्र को गोविन्द नाम के निर्दोप व्यक्ति पर सन्देह होता है कि वह उसकी बहन रमा को कुदृष्टि से देखता है। गोविन्द रमा की सखी उमा के पति है जो कि महेन्द्र के नगर के किसी कालेज मे प्रोफेसर है, कुछ दिन के लिए रमा के घर ठहर जाते है। एक दिन रमा के साथ उसे हँसते हुए देखकर महेन्द्र का सन्देह विश्वास में परिवर्तित हो जाता है। इसके अतिरिक्त महेन्द्र का मित्र हरीन्द्र जो स्वयं रमा से विवाह करने का इच्छुक है, उसे भड़काता है। महेन्द्र और हरीन्द्र शिकार खेलने के व्याज से गोविन्द को वन में ले जाते

है और शेर के मांद से बाहर आने पर मचान से गोविन्द को ढकेल देते है। परिणामस्वरूप शेर गोविन्द को अपना भोजन बना लेता है, परन्तु घर आकर महेन्द्र को रमा से वास्तविकता का पता चलता है। गोविन्द को निर्दोष समझ कर वह पश्चात्ताप करता है। पाप का निवारण करने के हेतु वह गोविन्द के माता-पिता से क्षमा माँगता है। गोविन्द के पिता सब कुछ सुनने के पश्चात् भी उसे पुत्रवत् प्यार करते है, उसे सदैव के लिए क्षमा कर देते है किन्तु गोविन्द की माँ और पत्नी इस दुःखद समाचार को सुनकर मूर्च्छित हो जाती है।

इस प्रकार प्रस्तुत एकाकी की कथा मानव-हृदय की उदारता तथा स्वार्थ के ही कारण होनेवाली तुच्छता को लेकर चली है। गोबिन्द का पिता महान् आदर्श प्रस्तुत करता है। उसका पुत्रस्नेह विशाल है। वह अपने पुत्र को भी प्यार करता है और उसके घातक को भी उसी प्रकार स्नेह करता है। दूसरी ओर कैप्टेन महेन्द्र है जो छोटे-से सन्देह के कारण गोविन्द की हत्या कर देता है। हरीन्द्र भी अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए गोविन्द को अपने मार्ग की बाधा समझकर महेन्द्र को उत्तेजित करता है। इस प्रकार आज का मानव निर्दोष व्यक्ति पर केवल भ्रमवश या आवेश मे आकर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है। समाज मे सत्य, चरित्रता आदि के नाम पर पाप, अत्याचार, अनैतिकता आदि का बोलबाला है। भट्टजी ने इन सभी समस्याओ को अपने एकाकी का विषय बनाया है।

अघटित नामक एकाकी की कथा का सम्बन्ध राजा योगेन्द्रसिंह तथा उनके दीवान ललितमोहन की कथा से सम्बन्धित है। भारत मे रियासतो के विलीनीकरण से पूर्व का चित्र है। भारत सरकार द्वारा भेजे गए विलीनीकरण के सिद्धान्त को सभी रियासते स्वीकार लेती है। महाराज योगेन्द्रसिह विचारमग्न हो जाते है कि अब क्या किया जाए ? रियासत के चले जाने के उपरान्त उनके सम्मुख कितनी बाधाएँ आएँगी, यही विचार उन्हे व्याकुल किए हुए है। एक ओर वे दीवान ललितमोहन को पचास लाख रुपया निकलवाने का आदेश देते है, दूसरी ओर दीवान ललितमोहन महाराज योगेन्द्रसिह से घृणा करता है। उनके

कुल की कुमारी कन्या का महाराज ने शील भंग किया था। उसने भी महाराज की पुत्री का शील भंग करने की प्रतिज्ञा करके कोषाध्यक्ष से चाबियाँ ले ली और सारा धन अपनी पत्नी के नाम करवा दिया। पत्नी को उसके पिता के घर भेजकर स्वयं राजकुमारी से विवाह करने का प्रयत्न करता है। महाराज के पूछने पर कि चाबियाँ कहाँ है, वह उत्तर देता है कि वे तो केन्द्रीय सचिवालय मे जमा कर दी गई है। आपको कोष से धन नही मिल सकता। वह राजा को इस शर्त पर कि यदि वह राजकुमारी को भेज दे, बीस लाख रुपये दे देता है। महाराज के जाने के पश्चात् एक कांग्रेसी सज्जन ललितमोहन से किसी अन्य की भूमि पर अपना आधिपत्य कराने के हेतु सहायता माँगने आता है। ललितमोहन उसकी सहायता करने का वचन देता है। उसके जाने के पश्चात् राजकुमारी ललितमोहन के पास आती है। वह पहले तो क्रुद्ध होती है, किन्तु अन्त मे विवश होकर अपना समर्पण कर देती है। तभी योगेन्द्रसिंह आकर कहते है—"ललितमोहन' सारा रुपया केन्द्रीय सचिवालय मे जमा करा दो; मुझे कुछ नही चाहिए।" इसी समय ललितमोहन की पत्नी अपना उत्तराधिकार-पत्र फेंककर कहती है—"मै केवल तुमको चाहती हूँ, धन को नही।" ललितमोहन का मन भी उन घटनाओं को देखकर परिवर्तित हो जाता है।

इस प्रकार नाटक की कथा उच्चाधिकारियों द्वारा जनता पर किए गए अत्याचारो का प्रदर्शन करती है। देशभक्त बननेवाले व्यक्तियों के ढोंग पर भी व्यंग्य है। पुरुष नारी को केवल उपभोग की वस्तु समझता है। अत. प्रस्तुत एकाकी संग्रह मे समाज के विभिन्न रूपो का चित्रण है। कुछ एकाकियों मे पारिवारिक जीवन के विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डाला गया है, और कुछ में मानव जाति की विभिन्न प्रवृत्तियो का प्रस्फुटन हुआ है। सभी एकाकियो की रचना किसी-न-किसी उद्देश्य को लेकर की गई है। आधुनिक समाज मे व्याप्त विभिन्न रूढ़ियो, दुर्बलताओ की स्वाभाविक किन्तु कटु आलोचना की गई है। धूमशिखा के नाटकों में विशेषरूप से नाटककार की आत्मानुभूति की पुकार है।

इस प्रकार भट्टजी के सामाजिक नाटको से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनमे वर्तमान जीवन मे उठनेवाली विविध समस्याओ तथा उनसे संघर्षों,

कुरीतियों, धर्माडम्बरों, धर्म पर होनेवाले अनाचार और व्यभिचार, अन्ध-विश्वास तथा आर्थिक कठिनाइयों का चित्रण है। धूमशिखा, समस्या का अन्त, आज का आदमी आदि एकांकियों की समस्या आधुनिक युग की अत्यन्त प्रमुख समस्या है।

आज का आदमी

इस एकांकी संग्रह में समाज के विभिन्न रूपों का यथार्थ एवं सजीव चित्रण है। प्रस्तुत संग्रह में जीवन-संघर्ष की प्रेरणा की अपेक्षा सामाजिक आचार-विचार, पारिवारिक समस्याएँ, सामाजिकता, कृत्रिम उथलापन, समाज के दुराग्रह आदि का चित्रण है।

आज का आदमी—प्रस्तुत संग्रह का प्रथम एकांकी है जिसमें लेखक ने पूँजीपति के व्यवहार का चित्रण किया है, कि समाज-सुधारक के रूप में उसका स्वार्थ निहित रहता है। अपने भौतिकसुख के लिए मिथ्याडंबर का ढोंग रचता है।

कथा-सार—सेठ धनपतराय अपने धन के कारण समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में स्थान रखते हैं। वह वास्तविक रूप से अपने स्वार्थ सिद्धि में लीन रहते हैं, किन्तु समाज में मान एवं प्रतिष्ठा के लिए, यश के लिए दान आदि देते हैं। स्वामी-सन्त आदि के द्वारा धर्म-उपदेश दिलवाते हैं। साधुओं के सम्मुख अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति का प्रतीत होता है, किन्तु दूसरे क्षण अपने व्यापार की उन्नति के लिए रिश्वत देता है ताकि इन्कमटैक्स से बच जाए। स्वयं बड़े-बड़े अफसरों की चाटुकारी करता है, किन्तु दूसरों को उपदेश देता है "यह चरित्र है हमारे देश का पूरा पैसा लेंगे पर काम से जी चुरावेंगे।"

एक ओर धनपतराय निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की भलाई के लिए प्रचार करता है, किन्तु दूसरी ओर अपने नौकर मुंशी आदि के रुपये देने में भी आना-कानी करता है। यही नहीं, अपनी ऐश्वर्य-लोलुपता की पूर्ति के लिए ही वह स्त्रियों को अपने यहाँ रखता है अन्त में उसकी इन वृत्तियों को देखकर स्वामीजी का मन चीत्कार कर उठता है। वह विरक्त भाव दिखाते हुए चले जाते

है और अन्त मे उनके ये शब्द—"पहले अपने को पहचानो, अपनी आत्मा की आवाज सुनो धनपत, आत्मा की आवाज। तभी देश का और अपना कल्याण कर सकोगे। शिक्षा और विवेक को मिला दो, जीवन को एक रस बनाओ।" इस प्रकार भट्टजी ने आधुनिक पूंजीपति जो समाज सुधारक का रूप धारण करते है, पर कठोर एव तीखा व्यग्य हे। आज के सुधारक, सेठ एव अन्य व्यक्तियो के आदर्श और कर्म मे अत्यन्त भेद है।

दूसरा एकाकी *मन का रहस्य* हे जिसमे आज यदि मानव सत्य का आसरा लेता है, उस पर अन्य व्यक्ति अनेक प्रकार के लाँछन लगाते है। दामोदर एक सम्पन्न परिवार का सदस्य है। वह अपने कार्य के अनुसार ही सम्पत्ति लेता है। असत्य, रिश्वत आदि को वह बुरी निगाह से देखता है। छल द्वारा धन कमाना पाप समझता है। अत दामोदर अपने दरिद्र पडित की कन्या के विवाह में भी सहायता देता है, किन्तु उसीके मित्र के लड़के उस पर मुकदमा दायर करते है। वह सत्य का अन्वेषी होने के कारण मुकदमा हार जाता है। उसके बगले की कुडकी होने की नौबत आ जाती हे, किन्तु सदैव सहायता करने के कारण ईश्वर उसकी सहायता करता है। वृद्ध पंडित की कन्या का विवाह करने के उपरान्त मृत्यु के समय वृद्ध पडित उसे आशीर्वाद देता है कि दामोदर का ईश्वर भला करे। अन्त मे उसका मित्र आकर उससे क्षमा माँगता है। इस प्रकार दामोदर की मान-प्रतिष्ठा नष्ट होते-होते बच जाती है।

प्रस्तुत एकाकी मे नाटककार ने आज के मानव के दो रूप प्रस्तुत किए है—एक वह जो मानवता से अभिभूत है, अपनी हानि उठाकर भी वह दूसरो का भला चाहता हे, किन्तु दूसरा वर्ग उन व्यक्तियों का है जो अपने स्वार्थ के लिए, भौतिक सुख के लिए दूसरो की अवन्नति चाहता है, छल-छद्म एव कपट जिनके अस्त्र है। भीतर से वे कुछ है और बाहर से कुछ। इस प्रकार आधुनिक मानव की मानसिक वृत्तियों का यथार्थ चित्रण है।

सत्य का मन्दिर—प्रस्तुत सग्रह का तृतीय एकांकी है, जिसमे आज के मनुष्य-समाज की विकृतियो पर कठोर प्रहार है। उस पर सदैव उसका संशयी मनरूपी अकुश दुर्भावनाओं और कुंठाओ का प्रहार करता रहता है। वह

सत्य की डौंडी पीटने के साथ-साथ असत्य का प्रतिष्ठापन करता है—छल-कपट मानों उसके अस्त्र हैं जिनके द्वारा वह विजय प्राप्त करता है।

कथा-सार—नगर मे एक सिद्ध मुनि आकर सत्य का प्रचार करते है। उस समय जनता उनका अपमान करती है, अतः वह किसी अन्य स्थान पर चले जाते है। बस इसीको मूलाधार मानकर कुछ उपदेशक उनकी महिमा का गान करते है, उनके नाम पर सत्य-मन्दिर की स्थापना करते है। नगर के धनवान व्यक्तियों से धन एकत्रित करते है और इस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध करते है। अन्त मे उन महात्मा के नाम मन्दिर की स्थापना होती है तभी वे प्रकट हो जाते है और वे जनता को कहते है—"मेरे नाम पर इतना वैभव—विशाल मन्दिर सत्य के प्रचार के लिए। सत्य का प्रचार क्या मन्दिरो से होता है? सत्य का सम्बन्ध आत्मा से है। नेक कामो से है। जीवो पर दया करने से है। मन, वाणी, कर्म के एकत्व से है······।"

इस कथन पर उनको वन्दी बना लिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का मानव सत्यता का भूठा प्रचार करता है, केवल अपनी क्षुधा शांति के लिए। नाटककार ने आज के प्रचारक, उपदेशक के प्रति तीखा व्यंग्य कसा है। यह एकाकी जीवन की अवास्तविकता के प्रति एक व्यंग्य है जो अनन्त-काल से सत्य और वासना मे संघर्ष रूप से चली आ रही है।

तीमारदारी—मे एक मध्यम श्रेणी के परिवार का चित्र है। घर का स्वामी अस्वस्थ है, उसका ऑपरेशन हुआ है। डॉक्टर ने पूर्णरूप से आराम करने के लिए कहा है। उसे देखने के लिए परिवार के अन्य व्यक्ति आते है, किन्तु उस व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की अपेक्षा अपना कार्य करते है। अस्वस्थ के पास ही ऊँचे स्वर मे चीखते है, आपस मे भगडते है। अन्त मे परि-वार का वही अस्वस्थ वृद्ध इस शोर से तग आकर चिकित्सालय में जाने की प्रार्थना करता हुआ इस लोक से विदा ले लेता है।

इस प्रकार प्रस्तुत एकाकी मे मध्यम अपढ परिवार के व्यक्तियो की स्वार्थ-परता, हृदयहीनता आदि का सजीव एवं यथार्थ चित्रण भट्टजी ने किया है। आधुनिक युग के परिवार की विषमताएँ इतनी अधिक हो गई है कि सहज ही

उनका निवारण करना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सक्षेप मे यह एक व्यग्यात्मक एकाकी है जो मूढता, स्वार्थपरता आदि के वातावरण को व्यक्त करने के साथ-साथ हमारे परिवार की जीवित समस्या को सामने लाता है। घर मे किसीके बीमार हो जाने पर आने-जानेवालो के व्यवहार से जो विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है उसका चित्रण इसमे है।

कुन्दन और तुलसी नामक एकाकी मे हमारे समाज के युवको के चरित्र के प्रति तिक्त व्यग्य है। वह अपनी काम-भावना को शान्त करने के लिए अनेक कन्याओ का जीवन नष्ट कर देता है। इसी प्रकार एक युवक कुन्दन तुलसी की एकमात्र कन्या से विवाह करता है। विवाह के पश्चात् कुन्दन और तुलसी को उसके कुकर्मों का पता चलता है। फिर अन्त मे वह अपनी नई सास से साढे तीनसौ रुपये लेकर उनकी कन्या को अपमानित कर स्वय किसी अन्य लडकी को लेकर भाग जाता है। कन्या-पक्ष के व्यक्ति बहुत पश्चात्ताप करते है, पर सब व्यर्थ।

सक्षेप मे भट्टजी ने प्रस्तुत सग्रह मे अपने युग के अर्थात् आधुनिक मानव की विभिन्न वृत्तियो का यथार्थ चित्रण किया है। आज का समाज कितना, पतन के गड्ढे मे गिर रहा है। मानव-शिक्षा के नाम पर उपदेश, प्रचार, सहायता, सहानुभूति आदि के नाम पर बुरे-से-बुरा काम करने को तत्पर रहते है। मानव-मन की विभिन्न मानसिक कुवृत्तियो का भट्टजी ने वास्तविक चित्र अकित किया है।

पर्दे के पीछे

भट्टजी के नवीनतम सामाजिक एकाकियों का सग्रह है, जिसमे आठ नए एकांकी सकलित है। प्रस्तुत एकाकियो मे आधुनिक समाज की नई नई समस्याओ का (यथा—समाज में आज के नवयुवक-युवतियो का पारस्परिक विडम्बनापूर्ण सम्बन्ध, युवती की आत्मनिर्भरता की भावना और युवक के प्रति उदासीन भाव, आत्मप्रवंचना, अर्थ-प्रधान सस्कृति के नए-आदर्श एवं मूल्य आदि) व्यग्यात्मक एवं संकेतात्मक चित्रण किया है। शिवदानसिंह चौहान के

अनुसार—'प्रस्तुत संग्रह में वर्तमान समाज की सच्ची और क्रूर वास्तविकता को उघाडकर रखा गया है। इसीलिए उनकी कला का अन्त:स्वर और उनमें व्यक्त क्षोभ और वेदना नैतिक है।"[1]

पर्दे के पीछे एकांकियों के संग्रह में सर्वप्रथम एकांकी नई बात है। प्रस्तुत एकांकी में आज के सामाजिक जीवन में एक कवि की स्थिति एवं अर्थ-प्रधान प्रदर्शन-प्रिय सभ्यता पर कटु आलोचना है। आधुनिक युग में व्यक्ति का सम्मान केवल उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर है, उसकी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक योग्यता पर नहीं। एकांकी की कथा इस प्रकार है—किशोरीलाल एक ऊँचे पद पर आसीन सरकारी अफसर हैं जो कि पूर्णत: अंग्रेजी शासन के नौकरशाही साँचे में ढले हुये हैं। उनकी दृष्टि में उसी व्यक्ति का मूल्य है, उसीके प्रति सम्मान है जिसके पास भौतिक प्रदर्शन के लिए बहुत साधन हैं, जो रुपये को पानी के सदृश बहाकर, दूसरे पर टीप-टाप कर अपनी प्रशंसा चाहता है। किशोरीलाल की ऐश्वर्य-विलासमयी पत्नी सुनन्दा भी उन्हीके विचारों से सहमत है। उसमें अपने से निम्न वर्ग के मनुष्यों को मनुष्य न समझने का अहंकार और भी दुर्विनीत है। ऐसे विचारों से युक्त-दम्पति के मन में कवि कलाकार की जाति नीच और निकम्मों की जाति है। समाज के सही मार्ग पर लगाने, जनरुचि का परिष्कार करनेवाले कवि तिरस्कृत रहते हैं। सरकारी अफसर किशोरीलाल के शब्द हैं—

"मैं कविता को लग्जरी मानता हूँ और कवि को व्यर्थ का मनुष्य। इसके अलावा हिन्दी में कवि है कहाँ? और हिन्दी में भी क्या है?"[2]

ऐसे ही एक अभागे कवि विश्वभूषण की पत्नी कुन्तल दैवयोग से सुनन्दा की सखी, पीहर की पडोसिन और सहपाठिन है। वह अपने निर्धन पति और उजडी गृहस्थी का रोना लेकर सुनन्दा के पास दफ्तर में विश्वभूषण की नौकरी की व्यवस्था के कारण एक याचक के रूप में आती है। किन्तु सुनन्दा अपने

---

१. 'साहित्यानुशीलन', पृ० २७०
२. 'पर्दे के पीछे', पृ० १४

ऐश्वर्य के वैभव मे डूबी हुई विश्वभूषण के प्रति अपनी भर्त्सना और कुन्तल के प्रति करुणा का भाव प्रदर्शित करती है। उसी समय सुनन्दा के पति एक-दूसरे उच्चाधिकारी अफसर रघुवंश के साथ घर आता है। कुन्तल का परिचय मिलने के उपरान्त दोनो मित्रो मे कवि की सामाजिक अनुपयोगिता को लेकर विवाद छिड जाता है। इस विषय मे किशोरीलाल और रघुवश के विचार एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न है। इसी बीच कुन्तल अपने स्वाभिमानी पति को वहाँ बुला लेती है। उसके आते ही वाद-विवाद का रार तीव्र (ऊँचे) धरातल पर पहुँच जाता है। यद्यपि विश्वभूषण के तर्क अधिक अर्थगर्भित और सारपूर्ण है, उसकी आत्म-सम्मान की धारणा भी अफसरी दम्भ से श्रेष्ठ है और उसकी उपेक्षा दृष्टि के सामने पडकर इन अधिकारियो का व्यक्तित्व केंचुए की तरह तिलमिला-कर सिकुड जाता है—किन्तु फिर भी इस जगह एक अस्वाभाविक घटना घटित होती है—तर्क से हृदय-परिवर्तन का कुछ ऐसा अकल्पनीय चमत्कार हो जाता है, कि किशोरीलाल और सुनन्दा दोनो ही समाज मे कवि की सर्वोच्च महत्ता स्वीकार कर लेते है और सभी केवल दिग्भ्रान्त, व्यक्तित्वहीन श्रीमती चोपडा के अतिरिक्त कवि का स्तुति-गान आरम्भ कर देते है। किशोरी लाल की पत्नी सुनन्दा तो उनकी शिष्या तक होना चाहती है और उनके जीवन-निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता करती है, किन्तु कवि उन नोटो को, विपुल धनराशि को भिखारियो मे वितरित कर देता है। उसकी दृष्टि मे निर्धनो को आर्थिक सहायता देना ही रुपये का सदुपयोग है। विश्वभूषण स्वय भूखा रहकर अन्य व्यक्तियो को भोजन कराने मे अधिक आत्मसन्तोष का अनुभव करता है। थोडे से विवाद के उपरान्त किशोरीलाल, सुनन्दा, रघुवश, कुन्तल आदि इन रुपयो के ऐसे सदुपयोग की कल्पना करके गद्गद और आत्मविभोर हो उठते है, और बाहर से आनेवाले कवि के जयकारों के साथ पटाक्षेप हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक मे एकांकीकार का लक्ष्य घोर भौतिक सासारिकता पर मानववाद की विजय कर कवि-जीवन की महत्ता चित्रित करना है। आधुनिक युग के मिथ्याडम्बर पर तीखा व्यंग है, आज का मानव पूँजी के मद में सांस्कृतिक

एवं बौद्धिक मूल्यो को नगण्य समझने लगा है। इसी पतन की ओर लेखक ने संकेत किया है।

बाबूजी—शिवदानसिंह चौहान के शब्दों मे—"भारतीय समाज मे माता-पिता के प्रति सन्तान का आदर-सम्मान, कर्तव्यनिष्ठता और श्रद्धा-भक्ति का भाव केवल सांसारिक लाभ-हानि के हिसाब-किताब के आश्रित नहीं है। इसकी पुनीतता मनुष्य-मनुष्य के बीच के सबसे निकटतम सम्बन्ध के कारण है। परिवार के जीवन मे अधिकारो और दायित्वों की श्रृंखला इस मार्ग पर ही पीढी-दर-पीढ़ी आगे चलती जाती है। लेकिन बुर्जुआ समाज की व्यक्तिवादिता अधिकारो का उपभोग तो करना चाहती है, पर दायित्वों को स्वीकार नही करना चाहती है। भट्टजी ने इस मनोवृत्ति का नाटकीय चित्र खींचा है बाबूजी मे।"[1]

कथा-सार—पीड़ित और वयोवृद्ध बाबूजी ने अत्यन्त कठिन परिश्रम करने के उपरान्त अपने पुत्रो को प्यार से पाला, शिक्षित और विवाहित किया और परिवार के लिए एक बड़ा मकान बनवाया, किन्तु अपने प्रति किए गए सभी उपकारो को भूलकर उनके पुत्र बाबूजी का तिरस्कार करते है। सर्वप्रथम उनका ज्येष्ठ पुत्र भोलानाथ अपने कमरे से निकाल देता है जिसमे वे अपने जीवन के अन्तिम दिन काटना चाहते थे। फिर दूसरा, तीसरा और चौथा पुत्र अपनी-अपनी नई गृहस्थियो को जमाने के लिए अधिक स्थान पाने की स्पर्धा से एक कमरे से दूसरे कमरे मे, ऊपर से नीचे की मंजिल मे और अन्त मे घर से बाहर ही निकाल कर नीम के नीचे उनकी खाट पहुँचा देते है। अपनी इस अनुश्रुत पितृभक्ति का औचित्य प्रमाणित करने के हेतु भोलानाथ विज्ञान का आश्रय लेता है कि "नीम के पेड़ के नीचे रहना स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा है।" किन्तु केदार को इतना भी व्यावहारिक ज्ञान नही है। वह बाबूजी को श्मशान घाट पहुँचाने की आसन्न समस्या का समाधान सोचता हुआ कहता है—"सबसे बड़ा फायदा तो यह है कि उन्हे अब आगे जाने मे ज्यादा सहूलियत

---

१. 'साहित्यानुशीलन', पृ० २७४

होगी।"[1] इस प्रकार अपने वृद्ध और पीडित पिता को मरने के लिए नीम की छाया मे प्यासा डाल दिया। इस दृश्य को देखकर (पिता-पुत्र सम्बन्ध की ऐसी अकृतज्ञ परिस्थिति पर) भारतीय अन्त.करण के प्रतीक रामू और चुनिया घर के नौकर चुपचाप अश्रुधारा मे प्रवाहित हो जाते है। उनके अन्त करण मे इस अधोगति के प्रति ग्लानि और वेदना भर जाती है।

'बाबूजी' नामक एकाकी मे हमारे नये परिवारो का सघर्ष, नये-पुराने आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन, आधुनिक सामाजिक रहन-सहन का खोखलापन, वृद्ध पिता का अपमान और भौतिक मूल्यो की सकुचितता प्रकट की है। आधुनिक युग की स्वार्थ से वशीभूत सन्तान अपने वयोवृद्ध जनो की उपेक्षा करके अपने नवागन्तुक व्यक्ति का, मेहमान का आदर-सत्कार करती है। प्रस्तुत नाटक मे सामाजिक मिथ्याडम्बर, दिखावे एव पारिवारिक जीवन मे भी कैसी स्वार्थ कटुता और निर्ममता है—इसका भी यथार्थ चित्रण प्रस्तुत एकांकी में किया गया है।

तीसरा एकांकी स्वतन्त्रता का युग है जिसमे भट्टजी ने स्वच्छन्दता-प्रिय पाश्चात्य जगत मे व्याप्त उन्मुक्त प्रेम, सौन्दर्य-प्रतियोगिता, फेमिलीप्लेनिग, रेस कोर्स आदि मे रुचि रखनेवाली एक आधुनिक नारी का चित्रण अकित किया है। इसकी कथा इस प्रकार है—प्रोफेसर जयन्त की पत्नी मीना, जो प्रेम की पवित्रता और अपने शिशु की मातृवत्सलता को ठुकराकर समाज की मृगतृष्णा के पीछे अपना सर्वस्व लुटाकर दौड़ रही है। पहले तो वह अपने पति को धोखे मे रखती है, किन्तु जब वास्तविक बात जयन्त को मालूम हो जाती है कि उसके प्रमियो मे कई सेठ है जो उसे रेसकोर्स, सौन्दर्य-प्रतियोगिता आदि के अखाडो मे उतारकर अपना स्वार्थ पूरा कर रहे है, तो वह (मीना) अपने पति जयन्त को वाग्बाणो से छेदता है। विवाह सम्बन्ध के विषय मे वह पुराने मूल्यो को धिक्कारती हे। बानगी के लिए पति पत्नी के वार्तालाप का एक मार्मिक अश प्रस्तुत है—

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ५०

"मीना—क्या घर मे पिसते रहना जिंदगी है—आज नारी का दृष्टिकोण बदल गया है, वह शादी को अब एक कांट्रैक्ट मानती है, जब तक भी निभे।

जयन्त—शायद तुमने अनुभव नही किया कि कांट्रैक्ट मे व्यावहारिकता है, हार्दिकता नही, शरीर है, प्राण नही।

मीना—यदि तुम मेरे पति हो तो मै तुम्हें सब कुछ नही दे सकती। मेरी इच्छाएँ है, मेरा शौक है। मै मजबूर नही हूँ कि एक ही दुकान से हमेशा खरीदती रहूँ। तुमने मुझे अपरूप भी कर दिया है। मेरी इच्छाओ को भी कुचल डाला है।"[1]

इस प्रकार मध्यम परिवार की साधारण स्त्री होते हुए भी उसकी मित्र-मंडली बढी-चढी है। उसे अपने बीमार शिशु की जो उसका प्यार पाने के लिए व्याकुल है, कोई परवाह नही है, अपने पति का कोई ध्यान नही है। मित्रो और चाहनेवालो के उपहार वह सहर्ष स्वीकार करती है। घर-गृहस्थी का ध्यान न करती हुई अपने एक धनी मित्र के साथ मसूरी जाने के लिए तैयार हो जाती है। अपने पति के मना करने पर यह उत्तर देती है—

"मै तो फेमिली-प्लेनिंग के पक्ष मे हूँ। मुझे नही चाहिए यह चिलपिल तुम्हारी। हाँ! नही तो अरे! तुम चुप हो? गम्भीर हो गए। क्या बात है? तुम चिन्ता मत करो। मैं रेस से जीतकर सरला का रुपया चुका दूँगी।...... मै खुद घोड़े रखूँगी और रेस कराऊँगी। इधर मेरा ख्याल है, ब्यूटी कंटैस्ट मे भी चुन ली जाऊँगी। मैंने तुम्हे बताया नही की ब्यूटी-एसोसिएशन वाले मेरे पीछे पड रहे है।"[2]

इस प्रकार कहती हुई अपने एकमात्र पुत्र को ज्वर से कराहता हुआ छोड-कर भ्रमण करने चली जाती है। एक सुखी परिवार विच्छिन्न हो जाता है, क्योकि परिवार की निविड एकान्तता अर्थ की अनैतिकता के आक्रमण के आगे निमिष-मात्र को भी नहीं ठहरती। परिवार की इकाई चर-चर करती

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ७०

२. वही, पृ० ६६

हुई टूट जाती है। आधुनिक समाज इस घृणित क्षोभ और ग्लानि से पूर्ण वृत्ति के परिणामस्वरूप पतन के गर्त मे गिर रहा है। इस एकाकी मे एकाकीकार का मुख्य प्रतिपाद्य है—जिस प्रकार पुरुष के प्रति नारी का उपेक्षा भाव अस्वाभाविक और अहितकर है उसी प्रकार उसकी स्वच्छन्दता प्रियता भी नारी-जीवन को पूर्णतः नष्ट कर देती है।

बार्गेन—'स्वतन्त्रता के युग' नामक एकाकी मे मिथ्याप्रेम का अभिनय है। जहाँ प्रेम का स्वतन्त्रता के नाम पर मिथ्याचरण, धोखाधडी का अभिनय हो वहाँ पर तथा स्वतन्त्रता की भ्रान्त धारणा से उत्पन्न उच्छृखलता के कारण युवती अपने लिए अनेक कठिनाइयो को उत्पन्न कर लेती है। शिवदानसिंह के शब्दो मे—"बार्गेन मे भट्टजी ने बुर्जुआ-प्रेम के अभिनय के पीछे छिपे *यथार्थ को उद्घाटित किया है। उच्चवर्ग से एक स्तर नीचे, बुद्धि-जीवियो मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की धर्म ध्वजा* फहराकर भारत की जनसख्या की वृद्धि को रोकने के नाम पर अविवाहित होने के सकल्प बनते है, किन्तु साथ ही गर्भ-निरोध की विधियों का प्रयोग करते हुए एक साथ ही अनेक स्त्रियो या पुरुषो से अनियन्त्रित प्रेम-अभिनय तथा यौन सम्बन्ध आदि भी चलते है। मूल भावना यह है कि उच्छृखल प्रेम का आनन्द तो भरपूर मिले, किन्तु कोई दायित्व न उठाना पडे……।"[१]

अतः विवाह पक्ष के द्वितीय पहलू अर्थात् आज के नवयुवको के विवाह, प्रेम, जीवन और आनन्द सम्बन्धी नये विचारो के नाना पक्षो का विश्लेषण है। बार्गेन का नायक कैलाश एक अंग्रेजी समाचारपत्र का सम्पादक है। वह दो युवतियों—कुन्ती और सरोज—से एक साथ प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करता है। कुन्ती कैलाश के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर गर्भ धारण करती है। इधर सरोज ने अभी प्रेम-गली मे पैर ही रखा है। कैलाश भ्रमर-वृत्ति के साथ-साथ एक ओर तो विवाह का कट्टर विरोधी है किन्तु दूसरी ओर सरोज को जीतने के लिए वह उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है। इधर कुछ घट-

---

१. 'साहित्यानुशीलन', पृ० २७६

नाओ के घटित होने के कारण कुन्ती को अपने गर्भ का पता चलता है और वह भी कैलाश को विवाह करने के लिए बाधित करती है । कैलाश डाक्टर की सहायता से गर्भपात कराने के लिए कहता है ; किन्तु इस बीच कुन्ती की बात सरोज पर और सरोज की बात कुन्ती पर प्रकट हो जाती है और दोनो उस धोखेबाज क्रूर कैलाश को अपने अन्त करण से धिक्कारती है। कैलाश के पिता भी अपने साधु पुत्र की अन्यत्र व्यवस्था करने मे तल्लीन हो जाते है।

प्रस्तुत एकाकी मे नाटककार ने यदि समाज के नैतिक सम्बन्ध टूट जाएँ तो कैसा भ्रष्टाचार, स्वच्छन्दता, वैषम्य और प्रवचना फैल सकती है—इसका व्यग्यपूर्ण चित्र अकित किया है। आधुनिक समाज मे भौतिक मूल्यो को महत्त्वहीन कर दिया गया है।

पर्दे के पीछे—नामक एकाकी का मुख्य प्रतिपाद्य है—हमारे जीवन मे पर्दे की आड मे क्या व्यापार चलता है, हमारे आदर्शवाद के पीछे कितनी बडी आत्मप्रवचना है। एकाकी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । बडे-बडे पूँजीपति इनकमटैक्स बचाने के लिए क्या-क्या काम करते है। सेठ छीतरमल सजातीय सेठो की तरह इनकमटैक्स वालो को धोखा देने के लिए अपनी बहियाँ बदलवाता है, समाचारपत्रों में अपने दान-पुण्यों की प्रशस्तिया छपवाने के लिए परिन्दों का अस्पताल खुलवाता है और काग्रेसी नेताओ को चदे की भारी पूँजी देकर पुलिस और कानून की पकड से मुक्ति पा दरिद्रो का निममता से शोषण करता है, चोरबाजार चलाता है और न मालूम क्या-क्या कर्म करता है, जिससे उसकी तिजोरी मे दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती जाती है । दूसरी ओर मध्य वर्ग और निम्न वर्ग पिसता जा रहा है—महगाई, गरीबी और शोषण से व्यथित है। मध्य वर्ग को नवीन ढंग से लूटना ही धर्म रह गया है। नाटक मे हमारे समाज की दूषित व्यवस्था चित्रित की गई है। कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की भी पोल खोल दी गई है । सर्वोदय समाज, देशभक्ति, स्वदेशी-प्रचारों में वास्तविकता का अभाव है। पूँजीपति सेठ के ये वचन कटु सत्य और व्यंग्य से परिपूर्ण है—"ये काग्रेस के लोग ! मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थलोलुप। इनके भी वैसे ही ठाठ है—मकान, मोटर, नौकर-चाकर और

फिर मजा यह कि काम कुछ भी नही करते, व्यापार कुछ भी नही करते, तो क्या रुपया आकाश से फट पडता है······मै आज ही खद्दर खरीदकर कपडे बनवा लूँगा······पहनने होगे। यही युग के समय का तकाजा है······सारा मामला इन क्लर्कों के हाथो मे ही होता है। अफसर तो सरकार की प्रेस्टीज-प्रकाश का बल्ब है, जो अपनी पावर के अनुसार चमकता है। कोई पाँच का, कोई दस का, कोई पच्चीस का।······लोग कहते है कि हम लोग ब्लेक मार्केट करते है······गरीबो का खून चूस चूसकर मोटे हुए है। कितनी गलत बात है—क्या हमने गरीबी पैदा की है—जिसमे योग्यता हो वह आए······।"[1]

प्रस्तुत एकांकी मे सामाजिक व्यंग्य है। धर्म और समाज-सेवा के ढोंग एव छल-कपट, रिश्वत का यथार्थ चित्रण है। नैतिकता के अनेक क्रूर पहलुओं की सफल नाट्याभिव्यक्ति है।

मायोपिया का प्रतिपाद्य है आधुनिक नारी की विवाह-विषयक विभिन्न धारणाएँ। आज की नारी केवल प्रेम, बनावटी रोमांस, सौन्दर्य या अर्थ-स्वातन्त्र्य पर सफल जीवन व्यतीत करना चाहती है। कुछ नारियाँ पुरुष वर्ग से हटकर किसी के भी नियन्त्रण मे रहकर अपना जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती। वे नारी-सुलभ मधुर वृत्तियो से वचित ही नहीं हो जाती, अपितु पुरुष की तरह स्वच्छन्दता का उपयोग कर अपने मधुमय जीवन को विषयक बना लेती है।

'मायोपिया' की नायिका प्रोफेसर सुधी भी आधुनिक नारी की प्रतीक है। वह युवक के प्रति उपेक्षापूर्ण बाह्याडम्बर का नाट्य करती है। पहले वह तारक नामक युवक के प्रेम को निष्ठुरता के साथ तिरस्कृत कर देती है, क्योंकि आरंभ मे वह एक साधारण कोटि का व्यक्ति था; किन्तु कुछ समय उपरान्त जब पन्द्रह सौ रुपये मासिक की आय पाकर अनामा से पाणिग्रहण संस्कार की विधि पूर्ण कर लेता है तब वह (सुधी) अपनी भूल पर अत्यन्त व्याकुल हो उठती है।

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० १८८-१८९

उसका हृदय ग्लानि, द्वेष से भर उठता है और उसके मन मे पुरुष-द्रोह की अग्नि और भी भीषण रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर जब सुधी की शिष्या चन्द्रिका अपने सहयोग एवं सेवा से केशव के मन पर अपना अधिकार कर लेती है तब सुधी के मन की ईर्ष्याग्नि अपना भयकर रूप और भी भीषण कर जाती है। साथ ही यह अनुताप सुधी के हृदय को और भी खरोचने लगता है कि उसका दूसरा प्रेमी भी हाथ से छूट गया। केशव का पहली बार अपमान कर सुधी पछताती है। वह अपने को अपूर्ण और अधूरी पाती है। मधु के निम्न शब्दो मे लेखक ने उचित मन्तव्य प्रकट किया है—

"स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध निश्चल भाव से एक-दूसरे को देने के लिए है। जो कुछ स्त्री के पास है, यदि वह पुरुष को दे डाले तो कोई कारण नही कि पुरुष से वह उतना या उससे अधिक न प्राप्त कर सके।"[1]

केशव के ये शब्द आज भी कुठाओ या मिथ्या धारणाओं से ग्रसित आधुनिक नारी के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकते है—

"जीवन केवल प्रेम-सौन्दर्य के बल पर ही नही चलता, वहाँ जीवन की गाडी को सुन्दर ढग से चलाने के लिए तत्परता, सहयोग, सदाशयता की भी आवश्यकता है। तुम्हारे (सुधी) भीतर मनुष्य के प्रति अहकार, ज्ञान के प्रति जागरूकता का भाव कभी उभरकर तुम्हे विद्रोही बना सकता है। यह मेरी भूल थी जो मैने केवल सौन्दर्य और ज्ञान के सहारे तुमसे जीवन की भिक्षा माँगी थी। वह भूल थी सुधी, विवाह विनिमय नही चाहता है। वह जीवन की नाव चलाने मे एक दूसरे की सहायता चाहता है।"[2]

अन्त मे अपनी आत्म-प्रवचना की अस्वाभाविकता तथा अपनी मानसिक विकृति को वह स्वीकार कर लेती है, किन्तु सब व्यर्थ है—क्योकि उसका प्रेम-निवेदन, आत्मसमर्पण केवल रह गया उसका बौद्धिक चक्र-जाल और पुरुष-द्रोह का हृदयानल। आज की शिक्षित नारी के बढते हुए इस मानसिक रोग

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ८६
२. वही, पृ० ९५

का समाधान विवाह के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गृहदशा—इस एकांकी में नारी-मनोविज्ञान, छोटी-छोटी बातों पर झगड़े, बहस तथा उससे होनेवाली हानियों का दिग्दर्शन कराया गया है। गिरधारी और रमा दोनों को विधाता ने एक दूसरे के उपयुक्त ही गढ़ा है—रमा अपनी पुत्री का विवाह अपने पड़ौसी के पुत्र से करना चाहती है, किन्तु बातों-ही-बातों में दोनों की गर्मागर्म बातचीत हो जाती है—वाग्युद्ध आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार गिरधारी और कृष्ण मनोहर जो क्रमश: कन्या और वर-पक्ष के पिता हैं, व्यर्थ की बात पर झगड़ पड़ते हैं और निश्चित विवाह सम्बन्ध पूर्णत: टूट जाता है। इसके साथ कन्या के माता-पिता धनहीन हैं, साथ ही व्यवहार, कौशल से पूर्णत: अनभिज्ञ। कन्या के विवाह के लिए जिधर भी बातचीत करते हैं वहाँ तक पहुँचने से पूर्व ही अपनी किसी अकथ्य बात से वह सम्बन्ध टूट जाता है।

प्रस्तुत एकांकी अत्यन्त मार्मिक नाटक है। आधुनिक समाज में आज भी ऐसे पिछड़े अदूरदर्शी विवाहित दम्पति दृष्टिगत होते हैं जो अपने वर्तमान तक ही देखते हैं और परिणामस्वरूप अपनी हानि कर लेते हैं, जिसे कुटिल गृहदशा का कुप्रभाव समझा जा सकता है।

अपनी-अपनी खाट पर—हास्य प्रधान एकांकी है जिसमें नशे की मानसिक स्थिति का मनोरंजक चित्र अंकित है। इसमें मुख्यत: दो ही पात्र हैं—उमाकांत और रमाकान्त। उमाकान्त की पत्नी द्वारा कही हुई बात से दोनों मित्रों के विचार-प्रवाह को एक नवीन मोड़ मिल जाता है। दोनों मित्र भाँग छानकर उसे पीने के पश्चात् अपनी-अपनी खाट पर प्राय: मूछित अवस्था में पड़े हैं और दोनों विचार विवेक और चेतना के बन्धनों को तोड़कर तीव्र गति से जगत् और जीवन के प्रत्येक पहलू पर टीका-टिप्पणी करते हैं। शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में—"इसमें कहीं पूर्वविरचित हास-परिहास का व्यंग्य-विनोद नहीं है, लेकिन चेतना के बन्धन ढीले होने पर विचार-पट पर आई हुई हर-वस्तु के विकृत चित्रों के टुकड़ों को जोड़-सँजोकर जो सहज हास का उद्रेक करने वाला एक सम्पूर्ण चित्र बनाया जा सकता है। एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता

है कि दोनो मित्र भाँग की झोंक मे अनर्गल बक रहे है, लेकिन उनकी बाते बे सिर-पैर की नही हैं, उनके भीतर आजकल के अनेक साहित्यिक प्रवादो और फैशनो की व्यग्यपूर्ण आलोचना है।"[१]

प्रस्तुत सग्रह मे भट्टजी ने विषय और विचार-वस्तु की सयोजना के द्वारा जीवन की अनेक मार्मिक झाकियाँ प्रस्तुत की है। इन एकाकियो मे अकृत्रिम खुला वातावरण, वास्तविक समस्याओ और उनसे उत्पन्न बाह्य और आतरिक जीवन के वास्तविक वैषम्य सघर्ष और नैतिक वेदन के निर्भ्रान्त चित्र चित्रित किये है। आधुनिक युग की समस्याओ के प्रति कठोर व्यग्य एव भर्त्सना के साथ-साथ भट्टजी ने सहानुभूति भी प्रदर्शित की है।

अभिनव एकांकी

रामचरण महेन्द्र के अनुसार—"अभिनव एकाकी मे आपने विस्मयात्मक अन्त तथा संवाद की प्रगल्भता पर बल दिया है। नाटक के सौन्दर्य-बोध के साथ वस्तु के अभिनव ग्रन्थन को नाटक का उत्कर्ष मानकर चलने का प्रयास किया है। चमत्कार जो नाटक की अन्विन्ति का मूल है, उसको जीवन के साथ यथार्थ भावों को लाने की चेष्टा की है।"[२]

अभिनव एकाकी-सग्रह मे सर्वप्रथम दो दृश्यो का एकाकी 'दुर्गा' है, जिसमे ऐतिहासिक आधार को लेकर सामाजिक और नैतिक विषयो के द्वारा सामन्त-युग की विकृतियो को शौर्य एवं वेदनामयी तूलिका से चित्रित किया है। इसकी कथा इस प्रकार है—

दुर्गा के पिता को अफीम का व्यसन है। वह सब कुछ खोकर अरावली की पहाडियो मे छिप जाता है। अपने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए दुर्जन सिंह दुर्गा के पिता विजयसिंह की खोज मे व्यस्त रहता है। विजयसिंह ने दुर्जनसिंह के पिता को अकुलीन घोषित करने के उपरान्त अपनी कन्या दुर्गा का

१. 'साहित्यानुशीलन', पृ० २७७
२. एकाकीकार भट्ट

विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। अतः अब दुर्जनसिंह दुर्गा को अपनी बाँदी बनाना चाहता है। एक ओर भीखा भील विजयसिंह के लिए अफीम लेने जाता है, जहा वह दुर्जनसिंह के चगुल मे फँस जाता है, दूसरी ओर वह अफीम के लिए तड़पता है जो केवल दुर्जनसिंह के द्वारा ही मिल सकती है। ऐसी भयकर परिस्थिति मे दुर्गा के सम्मुख जटिल सघर्ष उत्पन्न होता है—अपना धर्म या पिता की प्राण रक्षा—अन्त मे वह धर्म-सकट मे न पडकर अपने पिता की प्राण-रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है।

दुर्गा के द्वारा आत्मसमर्पण करने के पश्चात् दुर्जन उस पर अनेक कटु व्यंग्य बाणो की वर्षा करता है तभी दुर्गा का पिता विजयसिंह आ उपस्थित होता है और अफीम को वापिस देकर दुर्गा को मुक्त कर देने की प्रार्थना करता है। वृद्ध की दयनीय अवस्था को देखकर दुर्जन उसके प्रति प्रभावित होता है। वह विजयसिंह को उठाता है और उन्हे अपना बडा भाई मानता है। विजयसिंह इस प्रकार के व्यवहार से प्रसन्न होकर दुर्गा का विवाह दुर्जन के साथ कर देता है।

प्रस्तुत नाटक की कथा-वस्तु में हमे दो प्रकार का सघर्ष मिलता है—१. आन्तरिक धर्म और २. कर्त्तव्य-विषयक, जो दुर्गा और उसके वृद्ध पिता के मन मे उठता है। उनके सम्मुख यथार्थ और आदर्श का उत्कट विभेद प्रस्तुत हो जाता है जिसमे वृद्ध को अत्यन्त ग्लानि होती है। दुर्गा धर्म से च्युत भी होकर पिता की प्राण-रक्षा के सकल्प से महान् हो जाती है। दुर्गा के मन के द्वन्द्व के समाप्त होने पर यह संघर्ष भी समाप्त हो जाता है।

दूसरा सघर्ष दो परिवारों के बीच मे है—विजयसिंह और दुर्जनसिंह—नाटककार ने इसी संघर्ष को दुर्गा नामक एकाकी का प्रमुख द्वन्द्व माना है और जब यही संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब दूसरा पक्ष उसके सम्मुख समर्पण कर देता है—इसी मे नाटक की समाप्ति हो जाती है। अन्त में नाटक की सभी विषमताएँ सहज ही नष्ट हो जाती है।

नेता—इसमें आधुनिक तथाकथित समाज-सुधारकों (नेताओ) पर कटु व्यंग्य है। विषय-वस्तु के सामाजिक होने पर भी उसे वैयक्तिक समीकरण के

द्वारा अभिव्यक्त किया है। सत्येन्द्रजी के शब्दों में—"यह एकांकी चरित्र-प्रधान न होकर टाइप प्रधान है, विशेष कोटि के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला।"[1] हमारे नेताओं की कर्त्तव्य-निष्ठा एवं अधिकार में अत्यन्त असमानता विद्यमान है। इसकी कथा इस प्रकार है—आधुनिक युग में अपने यश के लोभी विशेष श्रेणी के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले पुरुषोत्तमजी समाज-सुधारक हैं। वे वर्ण-व्यवस्था का खण्डन करने की घोषणा करते हुए एक नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, किन्तु जब उन्हीं का भतीजा अपने चाचा के आदर्शों में अनुप्राणित हो एक शिक्षित जाटव कन्या मनोरमा से विवाह करना चाहता है तब पुरुषोत्तमजी का कृत्रिम मुँह मलिन पड़ जाता है, और वे मनोहर को निषेध करते हुए कहते हैं—"नहीं, मैं इस प्रकार की आज्ञा नहीं दे सकता। यह समाज का सुधार नहीं समाज की हत्या है, संस्कृति का पतन है। हमारा समाज अभी इस काम के लिए इतनी दूर जाने के लिए··· ···।" इसके पश्चात् नेता होने के अभिमान को त्याग देते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से एकांकी प्रतिक्रियावादी प्रतीत होता है, व्यंग्य में प्रगति-पूर्ण। एकांकी में अन्तिम उद्घाटन की कुशलता के कारण यथार्थता में एक गति का समावेश हो गया है। नाटककार ने सामाजिक विषय वैयक्तिक समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया है।

उन्नीस सौ पैंतीस—एक दृश्य का नाटक है। सुरेन्द्र नामक एक ग्रेजुएट को किसी माँग का विज्ञापन मिल जाता है। वह तुरन्त प्रार्थनापत्र भेज देता है। वह समझता है कि अब समस्त दरिद्रता दूर हो जायगी। मुझे नौकरी अवश्य मिलेगी। इस प्रकार कल्पना लोक में वह हवाई-किले बनाता है। अपनी माँ और पत्नी को इसकी सूचना देकर प्रसन्न करता है। किन्तु इसी प्रसन्नलोक में बिजली की तरह घहराता हुआ गिरता है यह सम्वाद कि वह विज्ञापन तो 'उन्नीस सौ पैंतीस' का है। यद्यपि सुरेन्द्र की यह भावना कि प्रार्थनापत्र भेजते ही नौकरी मिल जायेगी पूर्णरूप से हास्यास्पद प्रतीत होती है, पर नाटककार

---

१. 'हिन्दी एकांकी', पृ० १४८

ने पढ़े-लिखे ग्रेजुएटो की बेकारी, बेबसी, व्याकुलता और विक्षिप्तावस्था का करुणात्मक चित्र अंकित किया है। नौकरी के लिए चारों ओर बेकार घूमनेवाले के प्रति संवेदना और परिस्थितियो मे उपहास और हास्य की धूप-छाँह बडी कुशलता से इस एकाकी मे गुम्फित की गई है।

वर-निर्वाचन—यह भी एक दृश्य मे समाप्त होनेवाला एकाकी है। प्रस्तुत एकाकी मे आधुनिक शिक्षित ऐश्वर्य-लोलुप किन्तु उथली विचार-धारा की नारियों पर व्यग्य है। शारदा चौधरी की लडकी एक इङ्गलेण्ड रिटर्न आई० सी० एस० सिटी मजिस्ट्रेट के धोखे मे अपने पिता के एक मुवक्किल से प्रेम करती है। उसका सम्मान करती है। चौधरी साहब यह समझते है कि लडकी ने मजिस्ट्रेट साहब को ही अपना वर निर्वाचित किया है। किन्तु जब अन्त मे भेद खुलता है तो नाटक भावना और संघर्ष के समन्वय से झनझना उठता है। नाटक का आधार कथा-विकास की दृष्टि से अत्यन्त साधारण है। लड़की सौन्दर्य से प्रभावित होकर आनेवाले का परिचय ही प्राप्त नही करती। मजिस्ट्रेट आनेवाले हैं, अतः प्रत्येक आनेवाले को ही मजिस्ट्रेट मान लिया जाए यह कुछ विचित्र बात ही है, आधुनिक शिक्षित नारियो का उपहास-मात्र है।

सेठ लाभचन्द—दो दृश्यो मे समाप्त होनेवाला यह एकाकी सेठ लाभचन्द एक कजूस सूदखोर सेठ की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण है। आजकल बडे-बडे शहरो मे कुचक्र और अनुचित बल-प्रयोग द्वारा ठगैती होती है। प्रस्तुत एकाकी की कथा इस प्रकार है—सेठ लाभचन्द कभी किसी पर दया करके एक पैसा देना भी व्यर्थ समझते है, किन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्यवश वह ठगो के जाल मे फँस जाता है। प्रथमतः ये ठग नागोजा की महारानी के गुमाश्ता (दास) बनकर आते है और महारानी का एक आभूषण गिरवी रखकर सात हजार रुपये नकद ले जाते है। पुनः पुलिस के वेश मे आकर वे ही ठग आभूषण को लेकर भी चम्पत हो जाते है। कहाँ तो सेठजी ने बिचारे दुःखी महादीन को उसकी संकटमयी परिस्थिति को जानते हुए भी एक पाई तक नही दी और कहाँ ठगो के कुचक्र मे पडकर सात हजार रुपये खो बैठते है।

सेठ लाभचन्द का नाम श्लेषात्मक है जोकि कंजूस और मूर्ख धनिकवर्ग

का प्रतिनिधित्व करता है।

समस्या का अन्त

वास्तविक सामाजिक एकांकियों का संग्रह समस्या का अन्त ही है, जिसके नौ एकांकियों मे विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का भट्टजी ने चित्रण किया है।

समस्या का अन्त—ऐतिहासिक तत्त्व को मूल मे धारण किये हुए इस संग्रह का यह प्रथम नाटक है। प्रस्तुत एकाकी मे श्रुतबुद्धि और माणविका क्रमशः मद्रक और वामरथ जाति के प्रतिनिधि है। मद्रक और वामरथ जाति मे घोर शत्रुता होने पर भी वामरथी की कन्या माणविका मद्रक श्रुतबुद्धि से प्रेम करती है। जीवन का बलिदान करने के लिए तत्पर रहती हुई वह अपने प्रेमी से मिलने आती है और अपने सरल किन्तु गम्भीर प्रेम का पालन करती है। श्रुतबुद्धि प्रेम से अभिभूत होकर माणविका को अपने गण मे ले आता है। किन्तु वामरथी इसे अपना तिरस्कार समझकर अपनी कन्या के अपहरण से सन्तप्त होकर मद्रको पर आक्रमण करना चाहते है। इसी बीच माणविका दोनों गणो को युद्ध के लिए धिक्कारती है और अन्त मे अपने को असफल होते देख स्वयं अपने हाथो अपना सिर काटकर वही पर आत्महत्या कर लेती है जिसके परिणामस्वरूप दोनो गणो का रोष प्रायः समाप्त हो जाता है और दोनों गण परस्पर मित्र बन जाते है। माणविका का आत्मोत्सर्ग दो जातियों के विनाश की समस्या का अन्त प्रस्तुत कर त्याग और बलिदान का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करता है।

समस्या के अन्त मे लेखक ने उदात्त प्रेम और उदात्त त्याग का मार्मिक चित्र अंकित किया है। पवित्र प्रेम के सम्मुख जातीय मानापमान और ईर्ष्या तथा द्वेष का स्तर कितना गिर जाता है इसका भी यथार्थ चित्रण लेखक ने किया है।

गिरती दीवारें—डा० सत्येन्द्र (एकांकीकार और एकांकी) के अनुसार "प्रस्तुत एकाकी मे नाटककार ने १९वीं शती के आभिजात्य वर्ग का एक स्तोत्र

दिया है ।" उस युग के एक रूढ़िप्रिय, परम्परा-जर्जर, अन्धविश्वासी धनी का सजीव चित्रण है । राव साहब की मृत्यु के द्वारा नाटककार ने उस युग मे धनिक व्यक्ति की परिवर्तित चेतना अर्थात् मर्यादावादी प्रतिक्रियाशीलता पर कटु व्यंग्य किया है ।

पिशाचों का नाच—भारत—विभाजन के समय उत्पन्न हुए उत्पात और मानव की क्रूरता, पाशविकता, धर्म की आड मे उन्माद आदि पशुता का यथार्थ चित्रण है। यह अमानुषिक अत्याचारो का सिंहावलोकन कर हिन्दू-समाज की उस दुर्बलता का उद्घाटन करता है जो रवि के सदृश महान व्यक्ति को भी चेतना-हीन बना देती है । वह विदेशियो द्वारा अपहरण की हुई, भगाई हुई, अपनी ही बहू-बेटियो को पुन अपनाने मे सकोच अनुभव करता है । किन्तु रवि स्वार्थ के वशीभूत होकर अपनी पुत्री मृणालिनी के आते ही उसे तुरन्त स्वीकार कर लेता है । उसे अपनी कन्या कहने मे वह तनिक भी लज्जा या संकोच नही करता ।

आत्मदान—मे आधुनिक शिक्षित युवती के स्वातन्त्र्य-प्रेम, स्वाच्छन्दता और बडप्पन पर तीखी चोट है । साथ ही प्राचीन भारतीय आदर्श तत्त्वो का पोषण किया गया है । आधुनिक मानव जाति अर्थ को अन्य सभी की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है । शिक्षित कन्या अपने पति को सर्वस्व अर्पण करने तक मे अपना अपमान समझती है । प्रस्तुत एकांकी मे सरला अपने पति का निरादर करती हुई माथुर नामक व्यक्ति को अपना टेनिस का सहचर बनाती है । किन्तु इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप जब सरला का पति विश्वेश्वर एक नर्तकी के प्रति अपना आकर्षण प्रदर्शित करता है तब वह क्षोभ के कारण व्याकुल हो जाती है, ईर्ष्या से जल जाती है । इसी बीच अपनी सखी सुषमा द्वारा अपने पति के प्रति किए गए आदर-सत्कार से सरला प्रभावित होती है । सुषमा भी सरला को भारतीय नारी के आदर्श, पत्नी के कर्तव्यों को बताती है । अपनी सखी सुषमा के उपदेश से सरला चेतनावस्था को प्राप्त होती है और समझ जाती है कि बिना पूर्व-आत्मदान के वह पति का वास्तविक प्रेम पाने की अधिकारिणी नही है । अत: आत्मसमर्पण करने के हेतु अपने पति के पास जाती है, जबकि उसे मयूरी

नामक नर्तकी मदिरा-पान कराके बहुत कुछ ले जाती है। अन्त मे वे दोनों एक-दूसरे के सम्मुख अपनी-अपनी भूल का परिमार्जन करते है।

प्रस्तुत एकाकी मे एकाकीकार ने सुषमा की अवतारणा कर पति-पत्नी के मध्य खडी हुई विरोधी भावना का परिहार किया है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दो मे—"सुषमा नाटकीय समस्या का समाधान बनकर आती है और दो व्यक्तियो के रागात्मक सम्बन्धो को स्थापित करने मे सफल होती है। सुषमा द्वारा सरला को उपदेश कोरा कर्त्तव्य-बोध है, जो सरलता से गले के नीचे नही उतारा जा सकता। लेखक ने उसे सहज सम्भाव्य बना दिया है। लेखक उसे यथार्थ अकन भले ही समझे किन्तु उसे ज्यो-का-त्यो हृदयगम करने मे एक हल्की सी अटक-अडचन अवश्य है।"[1]

बीमार का इलाज एकाकी मे आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से आज के व्यक्ति की हठधर्मी, एकागी दृष्टिकोण और सकुचित विचारधारा पर तीखा व्यंग्य किया है। कान्ति का मित्र विनोद ग्रीष्मावकाश व्यतीत करने के लिए कान्ति के घर आया हुआ है किन्तु दुर्भाग्यवश वह ज्वर से पीडित हो जाता है। अतएव उसके इलाज के लिए घर के सभी सदस्य अपनी-अपनी चलाते है। कान्ति के पिता चन्द्रकान्त एलोपैथिक मे विश्वास करते है, उन्ही का इलाज करायेंगे। कान्ति की माँ वैद्य मे विश्वास रखती है और पूजा तथा मन्त्र मे, नौकर सुखिया झाड-फूंक मे, पुत्र कान्ति होम्योपैथी मे—सब विनोद की भलाई चाहते हैं और सभी अपने-अपने चिकित्सको को लाते हैं। इस प्रकार चिकित्सा की अनेक प्रणालियो के कारण घर मे एक विषम और जटिल स्थिति उत्पन्न हो जाती है। चन्द्रकान्त और उनकी पत्नी का हठ तो लेखक ने व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। ऐसे संघर्षमय वातावरण मे पीडित व्यक्ति को भागने के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नही देता। अतः अन्त मे विनोद चुपचाप भाग निकलता है। और कान्ति द्वारा लाये हुए डाक्टर का कथन यथार्थ सिद्ध होता है—

१. 'समीक्षात्मक निबन्ध'—विजयेन्द्र स्नातक

"मिस्टर कान्ति मुझे इस घर मे सभी बीमार मालूम पडते है।" अतः 'बीमार का इलाज' विभिन्न प्रकार के चिकित्सकों पर जनता की आस्था, विभिन्न दृष्टि-कोणों का संघर्ष, देश की अज्ञानता, प्राचीन रूढियाँ, झाड़-फूँक इत्यादि पर व्यंग्य है।

जीवन प्रतीक-रूपक गम्भीर तथा संकेतवादी प्रणाली पर लिखा गया है। इसके सम्बन्ध मे स्वयं भट्टजी ने लिखा है कि—"हिन्दी मे एकांकी प्रतीक-रूपक बहुत कम लिखे गये है। ··· जीवन नामक एकांकी जवानी नामक प्रतीक रूपक से अधिक गम्भीर तथा संकेतवादी प्रतीक-रूपक है।" प्रस्तुत एकांकी में काम, यौवन, जरा, वासना, वसन्त आदि स्वयं पात्रों के रूप मे हमारे सम्मुख आते है। ये सभी तत्त्व अन्त में यही अनुभव करते है कि विवेक के सहारे ही उनका यथार्थ रूप प्रस्तुत हो सकता है। नाटक मे विवेक नामक पात्र की उक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"मैं चाहता हूँ हम सब (काम, रति, यौवन, सौन्दर्य आदि) मिलकर युद्ध से पीडित वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों से जर्जरित, स्वार्थ से बहकी हुई, हिंसा से धूसरित, क्रोध से जलती हुई सृष्टि को जीवन देकर सुख प्रदान करेंगे—हमारा एक ही ध्येय होना चाहिए—मनुष्य सृष्टि की रक्षा, मनुष्य सृष्टि का सुख मानवता—मानवता।" नाटककार ने प्रस्तुत नाटक मे विचार-विमर्श के सजीव स्थल उपस्थित किए है जिसमें बौद्धिक संकेत की प्रधानता है।

वापसी—आज के समाज मे धन जैसी कृत्रिम वस्तु ने मानव समाज में कैसा भयंकर संघर्ष उत्पन्न कर दिया है! धन के सम्मुख अपने वृद्ध व्यक्ति को तिर-स्कृत करने मे भी उसके कुटुम्बी लज्जा का अनुभव नही करते—इसका नाटक-कार ने यथार्थ चित्रण किया है। मानव और धन के पारम्परिक मूल्यों की तुलना की गई है। कथासार—दीनानाथ के भाई रायसाहब वर्मा से अत्यधिक सम्पत्ति सहित अपने देश भारत आए हैं। भारतवर्ष मे रहनेवाले अपने कुटुम्बी (भाई) अम्बिका के यहाँ ठहरे है। सरोजनी उनकी पत्नी की छोटी बहिन है और चन्द्रिका उनकी पहली पत्नी से उत्पन्न पुत्री। कृपानाथ रायसाहब के साले हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रायसाहब अब इस संसार मे अधिक दिन

नही रहेगे किन्तु उनके स्वास्थ्य की किसी को तनिक भी चिन्ता नही, कोई भी उनकी चिकित्सा कराने का प्रयत्न नही करता। सभी उनकी सम्पत्ति पर अपना आधिपत्य चाहते है, जिसके फलस्वरूप आपस मे षड्यन्त्र रचते है और एक-दूसरे को अपना शत्रु समझते है। रायसाहब का पडोसी सिद्धेश्वर उन्हे परामर्श भी देता है कि—"भाइयो मनुष्य से बढकर रुपया नही है", पर कौन उस परामर्श को सुनता है। वे सब स्वार्थ एव धन के मद मे ऐसे वशीभूत हो जाते है कि रायसाहब का निरीक्षण करने के हेतु आये हुए डाक्टर को यह कह-कर वापिस कर देते है कि अब आपकी आवश्यकता नही, काम तो प्रायः समाप्त हो गया। अन्त मे जब अम्बिका और दीनानाथ रायसाहब का बक्स खोलते है तभी वे (रायसाहब) आँखें खोल देते है—अपने प्रति किए गए व्यव-हार से वे एकदम विक्षिप्त हो उठते है, क्षोभ से बेचैन हो जाते है और पुन बर्मा जाने को तैयार हो जाते है; क्योकि वे अपने कुटुम्बियो की वास्तविकता से परिचित हो गए है। आज का मानव मानवता से हटकर पशुता पर उतर आया है। लेखक ने स्वार्थी और धन-लोलुप व्यक्ति के विकास के लिए प्रमुख पात्र की मृत्यु की कल्पना करके इस प्रसग को और भी यथार्थ बना दिया।

मन्दिर के द्वार पर—नाटक मे अछूतोद्धार की समस्या है। जाटव जाति ने हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के हेतु आक्रमणकारी से मन्दिर की रक्षा की, और बिना किसी हानि के ही उन्होने विरोधी पक्ष को वापिस कर दिया। किन्तु उसी मन्दिर मे जब चमार आराधना करने जाते है तब उनका अपमान किया गया। असहाय अबला और उसका एकमात्र पुत्र हरिराम प्रसाद चढाने मदिर मे जाना चाहते है किन्तु पुजारी आदि ने उस भोले बालक के मस्तक को विदीर्ण कर दिया। अन्त मे पुजारी अपने किये पर पश्चात्ताप करता है और सद्ज्ञान द्वारा समझता है कि मन्दिर तो सभी का है और प्रत्येक मानव को पूजा करने का समान अधिकार है।

प्रस्तुत एकाकी मे हिन्दुओं के वर्गभेद, सकीर्णता, छुआछूत, मन्दिरो के अत्याचार आदि का यथार्थ चित्रण है।

दो अतिथि मे आर्यसमाज के उपदेशको के भोजन करने के ढंग का व्यग्यात्मक चित्रण है । दो आर्यसमाजी एक स्टेशन मास्टर के असमय में अतिथि बनते हैं । दोनो के कहने और करने मे बहुत अन्तर है । दोनो भोजन करने मे पेटू प्रतीत होते है । उनमे से एक स्टेशन मास्टर और उनकी पत्नी का समस्त भोजन अकेला ही चट कर जाता है । स्टेशन मास्टर अपने एव पत्नी के लिए दूध लाते है, उसे भी पी जाता है । दुबारा दूध लाते है उसे दूसरा पी जाता है । पति-पत्नी इस सत्कार मे भूखे ही सो जाते है ।

स्वय नाटककार के शब्दो मे यह एक व्यंग्य-प्रहसन है जिसमे तथाकथित उपदेशक तथा प्रचारक वर्ग की लोभवृत्ति-जन्य लाचारी को व्यग्यात्मक प्रकरण का रूप दे दिया है ।

भट्टजी के एकांकियो का अन्य सग्रह 'स्त्री का हृदय' है । प्रस्तुत एकाकी संग्रह में नाटककार ने पिछडी हुई मानवता के प्रति सहानुभूति प्रकट की है । जवानी एकाकी के अतिरिक्त अन्य सभी एकाकी यथार्थवादी नाटक हैं । पहला नाटक स्त्री का हृदय है । कथा का सार—जगदीश राय ने अपनी पत्नी अजना को बहुत मारा है जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो अंजना की टाँग टूट गई और तीन महीने पश्चात् उसे चिकित्सालय से छुट्टी मिली और दूसरी ओर अजना के भाई कपूर ने जगदीश राय को दो वर्ष के लिए सजा करा दी । अब यशवन्त जगदीश राय को अपना पिता स्वीकार नही करता । अंजना भी अपने पति को भुला देना चाहती है । अजना की पुत्री शोभा को छोडकर सभी जगदीश राय के विरुद्ध प्रतीत होते है । शोभा की उक्ति कि—'जब पिताजी कमाते थे तब सबको अच्छे लगते थे, यदि आपकी रक्षा के लिए उनकी नौकरी छूट गई, उन्हें व्यसन लग गया, तो वे ऐसे कड़वे हो गए······" से कोई भी सहमत नही होता है ।

दूसरी ओर गुरुनारायण जेलर है जो अपनी कन्या का विवाह जगदीशराय के पुत्र यशवन्त से करना चाहता है । अतः एक दिन अजना एव उसके पुत्र यशवन्त निमन्त्रित होकर गुरुनारायण के घर आते है । गुरुनारायण यशवन्त को जेलर बनाना चाहते हैं, इसके लिए यशवन्त भी उत्सुक है । जिस जेल

का यशवन्त जेलर बनता है, उसी मे जगदीशराय कैदी बनकर आते है। यश-वन्तराय को देखकर जगदीशराय का वात्सल्य उमड पडता है और वह उससे मिलने के लिए झपटता है, किन्तु वहा के कर्मचारी समझते हैं कि वह यशवन्त को मारना चाहता है—अतः गुरुनारायण आदि उसे बुरी तरह से पीटते है। इसी अवसर पर अजना आ जाती है और अपने पति को पिटता हुआ देखकर उसका हृदय व्यथित हो उठता है, और वह उसे बचाने के हेतु दौडती है। यश-वन्त के मना करने पर भी वह पति-प्रेम से व्याकुल हो जाती है और अपने पति के चरणों में मूर्छित होकर गिर पडती है।

प्रस्तुत एकाकी मे आधुनिक स्त्री-पुरुष के आडम्बरपूर्ण सम्बन्ध को प्रद-र्शित किया है। एक ओर तो भारतीय नारी अपने पति को धन के अभाव में तनिक-सी बात पर त्याग देती है, उसका साला उसे सजा दिलाकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु दूसरी ओर वही स्त्री जिसने अपने पति को छोड दिया है—उसके जेल जाने से विक्षुब्ध हो उठती है—अतः ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने अर्थ और नैतिक आचरण की समस्या को स्थूल रूप मे अपनाया है।

जवानी—*यह प्रतीक रूपक है जिसके विविध पात्र विभिन्न अपदार्थ जगत्* के तत्वो के रूपक है। आगन्तुक विचारक का, स्त्री स्मृति का और युवती जवानी का प्रतीक है। कल्याण करने के हेतु विचारक का सत्कार किया जाता है। नाटककार ने कैदी के माध्यम से विचारक, स्मृति और जवानी का जीवन मे महत्त्व और आवश्यकता को दिखाया है। हिन्दी साहित्य मे भट्टजी का प्रतीक रूपक 'जवानी' अपने श्रेष्ठतम रूप मे हैं।

स्त्री का हृदय नामक एकाकी सग्रह मे नाटककार ने आधुनिक युग के मानव की विभिन्न कृत्रिम वृत्तियों पर व्यग्य का कठोर प्रहार किया है। प्रो० रामचरण महेन्द्र के शब्दों मे—

"इन एकाकियों मे अनुभूति के उन चित्रों को प्रौढ़ से प्रौढतर बना दिया है जिसमे कृत्रिमता की ओर संकेत नाट्यकार के यथार्थवाद का साधन है।"[1]

---

१. 'एकांकीकार भट्ट'

एकांकी नाटक

एकांकी नाटक के तत्वों के आधार पर भट्टजी के एकाकियों की विवेचना—

कथावस्तु की दृष्टि से भट्टजी ने अपने एकांकियो की विषय-वस्तु सास्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र से ली है। आदिम-युग और अन्य एकांकी संग्रह मे सास्कृतिक दृष्टिकोण से भट्टजी ने विशेष अध्ययन कर नवीन गवेषणात्मक एकाकियो को जन्म दिया है। इनसे प्रारम्भिक आर्य सस्कृति, मध्यकालीन सास्कृतिक अभिरुचि चित्रित है। इनमे उन्होने जीवन तथा समाज की उथल-पुथल, सामयिक समस्याओ और आकुल अभिव्यक्ति के सुन्दर और सफल चित्र अकित किए है।

भट्टजी के सामाजिक एकांकियों मे मनुष्य की विभिन्न मानसिक प्रवृत्तिय को अभिव्यक्त किया गया है। इन सभी प्रवृत्तियो का वास्तव और अवास्तव रूप मे प्रस्फुटन हुआ है। इनमे कुछ एकाकी सुधारवादी और समस्यामूलक दृष्टिकोण से लिखे गये है। प्रत्येक नाटक एक समस्या का समाधान करते हुए विषमता को कलात्मकता प्रदान करता है।" भट्टजी ने इनके अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ-साथ समाज की ऐसी समस्याओ को लिया है जो मानव-जीवन और उसके परिवार की सुख-शान्ति को भंग करने वाली होती है। इनमे एकाकीकार आज के व्यक्ति की हठधर्मी, एकागी दृष्टिकोण और सकुचित विचारधारा पर परोक्ष रूप से व्यग्य करता है। बीमार का इलाज नामक एकाकी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। प्रस्तुत एकांकी मध्यवर्गीय परिवार के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। इसकी मुख्य समस्या है "ज्ञान का असमान वितरण।' 'गृह दशा' और 'बाबूजी' भी इसी प्रकार के एकाकी है। सामूहिक परिवार आज की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के कारण छिन्न-भिन्न हो गया है। पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी वात्सल्यमय न होकर आर्थिक हित का साधन बनता जा रहा है। इसके अतिरिक्त धूमशिखा, समस्या का अन्त, परदे के पीछे, आज का आदमी और अभिनव एकाकी आदि संग्रहो की

समस्या आज के समाज की प्रमुख ममम्या है। सभ्य और सभ्रान्त परिवार की लडकियाँ अपनी समभदारी या कुशिक्षा के प्रभाव से, कुसगति से बुरे नवयुवको के षड्यन्त्र मे फँस जाती है, और अपने जीवन को विषादमय बना लेती है। इतना ही नही, आधुनिक शिक्षा, विवाह, प्रेम, नारी की घुटन और नारी स्वातन्त्र्य, आर्थिक वैषम्य, नवीन और प्राचीन मान्यताओ के बीच द्वन्द्व आदि अनेक समस्याएँ है। आज की नारी अपनी सामन्ती सीमाओ की बन्दिश से विद्रोह कर पूँजीवादी खोखली तडक-भडकपूर्ण जीवन की दुर्गम भाडियों में फँस जाती है। पूँजी के बल पर उसे विलास-पूर्ति का साधन बनाया जाता है, जो दयनीयता के साथ-साथ समाज के लिये एक भयकर समस्या हो जाती है। मायोपिया, स्वतन्त्रता का युग, वर-निर्वाचन, बार्गेन, आत्मदान, वापसी आदि एकाकी इसी के अन्तर्गत आते है।

भट्टजी ने बदलती हुई मान्यताओ का अत्यन्त सजीव और युगानुरूप चित्रण किया है। गिरती दीवारे भट्टजी का एक ऐसा ही एकाकी नाटक है। इस प्रकार इन एकाकियो की अधिकतर समस्याएँ सामयिक या सामाजिक है। ये एकाकी नाटक प्रतिक्रियावादी और व्यग्य मे प्रगतिपूर्ण है। भट्टजी ने अपने इन एकाकियो मे यत्र-तत्र सामाजिक जीवन, नेताओ, पुलिस और देश-भक्ति के ढोग रखनेवालो पर बडे मार्मिक व्यग्य-बाण फेके है। यथा—

१—"देशभक्ति एक पेशा है जो प्लेटफार्म से पैदा होकर बैक-बैलेन्स मे समाप्त हो जाता है।"[1]

२—"समाज में प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए कुछ-न-कुछ देते रहना तो जैसे जरूरी हो गया है। अखबार मे कोई-न-कोई खबर आती रहनी चाहिए। दूसरे की पार्टियो मे जाना और अपनी ओर से पार्टी देना भी जैसे आज के युग मे जरूरी है। कहाँ से आवे ये सब। साफ है, बेइमानी करो और नही करते तो समाज मे प्रतिष्ठा नही है। खिलाओ और खाओ, फिर साधन भी होने चाहिए। कार, बगला, फर्नीचर, नौकर, इनके बिना भी तो काम नही चलता।

---

१ 'नेता', पृ० २४

कितना दिखावा है जमीन मे । पर समाज मे रहना है, तो यह सब नाटक करना पड़ेगा । नहीं तो·········।"[1]

अतः भट्टजी ने व्यापक दृष्टि से जीवन के प्रत्येक अङ्ग और सामाजिक मूल्यो को देखा तथा उनके खोखलेपन को प्रकट किया है ।

भट्टजी के सामाजिक एकाकियों की कथावस्तु का स्वाभाविक विकास होता है और मुख्य पात्रो मे परस्पर विरोधी भावनाओं मे सघर्ष के माध्यम से एकाकी चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है । चरम सीमा के पश्चात् किसी प्रकार की घटना न देकर एकाकी कला की रक्षा की गई है । सभी का अन्त विस्मयबोधक होता है, जोकि पाश्चात्य नाट्यकारों की विशेषता हैं । भट्टजी के एकांकियों की कथावस्तु मे तीव्रानुभूति है । सक्षिप्त कथानक मे आरम्भ से ही कौतूहल, जिज्ञासा मिश्रित विस्मय, आकस्मिकता आदि का प्राधान्य है । कथावस्तु की दृष्टि से उनके एकाकी सफल है ।

पात्र—एकांकी का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व पात्र है । भट्टजी के एकाकियो के कथानक जितने सजीव और सुसगठित है, चरित्र-चित्रण उतना ही उत्कृष्ट है । भट्टजी के एकाकियों के पात्र यथार्थ की ओर अधिक झुके हुए है । आधुनिक विद्यार्थी बेकारी, बेबसी और विफलता के द्वारा सताये गए है । वे कल्पना-लोक मे विचरण कर हवाई किले बनाते है किन्तु यथार्थ स्थिति का ज्ञान होते ही उनकी अवस्था करुणाजनक हो जाती है । 'वर-निर्वाचन' नामक एकांकी मे शारदा चौधरी की लडकी आधुनिक शिक्षित, ऐश्वर्य-लोलुप और उथली विचारधारा की प्रतीक है । वह इङ्गलैड रिटर्न्ड आई० सी० एस० सिटी मजिस्ट्रेट के धोखे मे अपने पिता के मुवक्किल से प्रेम करने लग जाती है । 'एक ही कब्र' में मुख्य पात्र ज्ञानचन्द्र कांग्रेस के विचारो का प्रतिपादन करता है । वह गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित है । 'नई बात' मे प्रमुख चरित्र सुनन्दा, कुन्तल और भूषण आदि का है । एकाकी का प्रमुख नारी पात्र सुनन्दा आर्थिक दृढ़ता, टीपटाप, वैभव और ज्ञान की पुतली है । कुन्तल

---

१. 'आज का आदमी,' पृ० २६-२७

प्रतिभाशाली कवि की पत्नी होते हुए भी आर्थिक दुर्बलता मे पलती है। सुनन्दा के पति किशोरीलाल को भी अपने पद-वैभव का अभिमान है। वह समाज को उचित मार्ग पर लानेवाले कवि को अत्यन्त हीन समझता है। अपने मित्र से कहता है—

"मै कविता को लग्जरी मानता हूँ और कवि को व्यर्थ का मनुष्य।"[1]

किन्तु कुन्तल का पति विश्वभूषण आदर्श व्यक्ति है। वह निर्धन है पर सहृदय। त्याग, सेवा आदि की भावना उसमे कूट-कूटकर भरी हुई है। किशोरीलाल की पत्नी द्वारा दिये गये धन को वह भिखारियो मे बाँट देता है। उसकी दृष्टि मे गरीबो को आर्थिक सहायता देना ही रुपये का सदुपयोग है। स्वय भूखा रहकर दूसरों को भोजन कराने मे आत्मतोष का अनुभव करता है। इसी प्रकार केशव भी आदर्शवादी पात्र है। वह आज की कुण्ठाओ और मिथ्या धारणाओ की ग्रन्थियो से ग्रसित आधुनिकताओ के प्रति घृणा करता है। उसके निम्न कथन मे आक्रोश है, भूल के लिए पश्चात्ताप है— "जीवन केवल प्रेम-सौन्दर्य के बल पर ही नही चलता, वहाँ जीवन की गाडी को सुन्दर ढग से चलाने के लिए तत्परता, सहयोग, सदाशयता की भी आवश्यकता होती है। तुम्हारे (सुधी के) भीतर मनुष्य के प्रति अहकार, ज्ञान के प्रति जागरूकता का भाव कभी उभरकर तुम्हे विद्रोही बना सकता है। यह मेरी भूल थी जो मैने केवल सौन्दर्य और ज्ञान के सहारे तुमसे जीवन की भिक्षा माँगी थी। वह भूल थी सुधी। विवाह विनिमय नही चाहता। वह जीवन की नाव चलाने मे एक-दूसरे की सहायता चाहता है।"[2]

भट्टजी के सामाजिक पात्र समाज की व्यवस्था एवं उसकी कमजोरियों को चित्रित करते है। इनमे आधुनिक कार्यकर्त्ताओ की पोल खोली गई है। सर्वोदय समाज, देशभक्ति, स्वदेशी प्रचार आदि आज के चन्दा एकत्र करने के साधन मात्र रह गए है। उनमे वास्तविकता का अभाव और ढोग का

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० १४

२. वही, पृ० ६५

प्राधान्य है। पूँजीपति सेठ की निम्न उक्ति मे कटु सत्य और व्यग्य का प्राधान्य है—

"ये काग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाठ है—मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर। फिर मजा यह कि काम कुछ भी नही करते। व्यापार कुछ भी नही करते, तो क्या रुपया आकाश मे फट पड़ता है''' ''मै आज ही खद्दर खरीदकर कपड़े बनवा लूँगा''''''पहिनने होगे। यही युग के समय का तकाजा है।"[1]

इसके साथ-साथ सामाजिक एकाकियो के पात्रों मे यथार्थ एव ठोस वस्तु-वादी सामग्री का बाहुल्य है। कुछ पात्र वर्गों का प्रतिनिधित्व करते है। जसे 'गिरती दीवारो' मे रायसाहब प्राचीन रूढ़िवादिता का और पद्मकुमार नई रोशनी का। 'आत्मदान' मे सरला स्वच्छन्दताप्रिय आधुनिक नारी का तथा सुषमा प्राचीन विचारो एव पतिव्रता नारी का। प्राय सभी पात्र सजीव और जीवन के सन्निकट है जोकि वर्तमान समाज की अनेक समस्याओं मे लिपटे हुए है।

इन एकाकियो के पात्रो के मानसिक सघर्ष को भट्टजी ने अत्यन्त सफलता के साथ अकित किया है। 'दस हजार' नामक एकाकी मे भट्टजी ने बडी कुशलता से नाटक के नायक बिशाखाराम के मन की दो प्रधान वृत्तियो के बीच संघर्ष का चित्रण किया है। बिशाखाराम के हृदय मे दो विरोधी भावनाओ—पुत्र-प्रेम तथा धन-लोभ के बीच सघर्ष होता है और अन्त मे धन-लोभ पुत्र-प्रेम की भावना को परास्त कर देता हे। वात्सल्य के ऊपर लोभ की विजय दिखाकर भट्टजी ने यथार्थवादी प्रवृत्ति का पालन किया है। इसी प्रकार 'धूम-शिखा', 'अन्धकार' और 'नया नाटक' में पात्रो का मनो-विज्ञान हमें विशेष रूप से आकृष्ट करता हे। इनकी समस्याएँ नवीनतम, संघर्षपूर्ण और यथार्थवादी है।

इन एकांकी पात्रों में भट्टजी के प्रमुख पात्र स्त्री ही है। उन्होंने आज की नारी की स्वच्छन्दता, विषयलोलुपता, विवाह-विषयक धारणाएँ आदि अनेक

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० १८६

भावनाओ का सफल चित्रण किया है। आधुनिक नारी को नारी-सुलभ मधुर वृत्तियो, सेवा, सहयोग इत्यादि के स्थान पर पुरुष की भाँति स्वच्छन्दता रुचिकर लगती है जिससे उच्छृखलता बढती जाती है। 'स्वतन्त्रता का युग' मे मीना इसी प्रकार की नारी वर्ग की प्रतिनिधि है। वह अपने अस्वस्थ शिशु को, जो उसके ममत्व को प्राप्त करने के लिए आकुल है, रोता ही छोड जाती है। उसे पति का कोई ध्यान नही। वह पुत्र और पति के प्रति अपने कर्तव्य को भुलाकर मित्रो और चाहनेवालो के उपहार ले लेती है। अपने पुत्र को बीमार छोडकर मसूरी जाना अधिक पसन्द करती है—

"मै तो फेमिली प्लेनिग के पक्ष मे हूँ। मुझे नहीं चाहिए यह चिल-पिल तुम्हारी! हाँ नही तो अरे! तुम चुप हो गये? गम्भीर हो गये। क्या बात है? तुम चिन्ता मत करो। मै रेस से जीतकर सरला का रुपया चुका दूँगी……। मै खुद घोड़े रखूँगी और रेस मे दौडाऊँगी। इधर मेरा ख्याल है ब्यूटी कन्टैस्ट मे भी चुन ली जाऊँगी। मैने तुम्हे बताया नही कि ब्यूटी एशोसियेशन वाले मेरे पीछे पड रहे हैं।"[१]

मीना के उपर्युक्त कथन मे पाश्चात्य जगत् मे व्याप्त उन्मुक्त प्रेम, सौन्दय प्रतियोगिता, फेमिली-प्लेनिग, रेस-कोर्स आदि मे दिलचस्पी रखनेवाली एक आधुनिका का जीवन-चित्र है। वह विवाह को एक साधारण सामाजिक सम्बन्ध समझती है, और पुराने मूल्यों को धिक्कारती है—

"क्या घर मे पिसते रहना जिन्दगी है………आज नारी का दृष्टिकोण बदल गया है। वह शादी को एक कन्ट्रैक्ट मानती है जब तक भी निभे।"[२]

किन्तु दूसरी ओर मधु एक गौरवशालिनी, पति मे आस्था रखनेवाली पत्नी है। एक भारतीय पतिव्रता नारी की भाँति उसके विचार मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध द्वारा ही एक-दूसरे की उन्नति सम्भव है—

"स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध निश्चल भाव से एक-दूसरे को देने के लिए है।

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ६९-७०

२. वही, पृ० ७०

जो कुछ स्त्री के पास है यदि वह पुरुष को दे डाले तो कोई कारण नहीं कि पुरुष से वह उतना या उससे अधिक न प्राप्त कर सके।"[१] सक्षेप मे भट्टजी एक व्यापक दृष्टिकोण से समाज, व्यक्ति और साहित्य को पात्रो के माध्यम से विनाशकारी कीटाणुओं से मुक्त कराना चाहते है। उनका सन्देश द्रष्टव्य है—

"चलो अन्धानुकरण मत करो सोचो और प्रयोग करो।"

सम्वाद—भट्टजी कथोपकथन लिखने मे कुशल है। उनके एकांकियों के कथोपकथन सरल, स्वाभाविक, सक्षिप्त, पात्रानुकूल तो है ही साथ ही उनमे नाटकीयता की सुरक्षा भी की गई है। उदाहरण के लिए—

"रमा—(सकपकाई हुई) क्या है भैया ?

महेन्द्र—(उसकी तरफ देखता रहकर) गोविन्द तुम्हारे साथ मजाक करता था न, कुदृष्टि से तुम्हे देखता था ?

रमा—नही तो, तुमसे किसने कहा ?

महेन्द्र—मैंने स्वय अपनी आँखो मे देखा है कि वह तुम्हारे साथ हँसता था।

रमा—तो हँसना क्या बुरी बात है ? वे तो बहुत अच्छे आदमी है। मैने उनमे कोई ऐसी बात नही देखी।

महेन्द्र—हँसना कोई बुरी बात नही है दुष्टे, मे तुझे मार डालूंगा।"[२]

उनके एकांकियो के कथोपकथन बहुत ही चुस्त, सरल, विचारानुकूल और संक्षिप्त है। पात्रो के चरित्र, विचार और दृढता के प्रतीक ये कथोपकथन दर्शनीय है—

"महेन्द्र—पर दीवान साहब यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है।

ललित—इस बारे मे मैंने खूब सोच लिया है। (कडककर) यदि तुम बिना मौत मर अपने घर को बरबाद करना नही चाहते, तो तुम्हे जैसा कहता हूँ, करना होगा। तुम शायद मुझे अच्छी तरह नही जानते।

महेन्द्र—(काँपते हुए हाथो से चाबी निकालकर देता है) यह लीजिए।

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ८६

२. 'धूमशिखा', पृ० ११७

ललित—हाँ लाओ और (जेब से सौ-सौ के चार नोट निकालकर) यह लो तुम्हारा इनाम।

महेन्द्र—(आँखें नीची कर जाते हुए) नही, बस माफ कीजिएगा। मुझे ऐसा रुपया नही चाहिए। मैने सारी जिन्दगी ईमानदारी से काम किया है। अब इस समय मै अपना धर्म नही बेचूँगा दीवान साहब।"[1]

उनके सामाजिक एकाकियो के कथोपकथन अपनी व्यजना और तीखी चोट के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इन, कथोपकथनो मे वर्तमान कुरीतियो, धर्माडम्बरो, अन्धविश्वास, आर्थिक असमानता आदि पर सर्वत्र कठोर व्यग्य है। उदाहरण के लिए 'नई बात' नामक एकाकी मे पूजीवादी मनोवृत्ति पर भूषण द्वारा कठोर व्यग्य उसके सम्वादो मे स्पष्ट झलकता है—

"अर्थ सदा प्रत्यक्ष के विनिमय मे रहता है लौकिक रूप मे, क्योकि उसकी दृष्टि स्वय लौकिक है। आप मन्दिर मे मूर्ति को एक-दो पैसा चढाते है यद्यपि वह भगवान है, जिस मोटर या ताँगे मे बैठकर मन्दिर जाते है उसको रुपया या उससे अधिक देते है··· ··ऐसा क्यो? इसलिए कि अर्थ का विनिमय प्रत्यक्ष लाभ के बल पर निर्धारित होता है। हम तो उन लोगो मे से है जो भूखे रहकर, दरिद्रता मे पलकर ससार के कल्याण की कामना करते है। ससार के दु.ख कष्ट, व्यथा को दृष्टि देते है, वाणी देते है।"[2]

भूषण के उपर्युक्त कथन मे नाटककार ने एक दरिद्र कवि और धनी व्यक्ति की दिनचर्या मे बहुत अन्तर दिखाया है। दोनो का उद्देश्य भिन्न है। अन्य एकाकियो के सवादो का चुटीलापन, तीव्रता की लक्ष्य के प्रति अन्विति मे एकाकी अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते है।

अपने एकाकियो मे कथोपकथन से पूर्व भट्टजी पूर्वकथा और परिस्थिति का चित्रण कर देते है, जिससे आपके कथोपकथन अत्यन्त स्पष्ट व सजीव हो गये हैं। एकाकियो में उन्होने स्वगत-कथन का प्रयोग नगण्यमात्र किया है।

---

१. 'धूमशिखा', पृ० १४७
२. 'पर्दे के पीछे', पृ० २०-२१

इन एकांकियों के संवादों की मुख्य विशेषता है मनोवैज्ञानिकता। इनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता हुआ स्वाभाविक ढंग भी मिलता है। काव्यात्मकता के साथ-साथ एक वेदना और प्रोत्साहन दोनों को साथ-साथ रख देना इन एकांकियों के संवादों का गुण है—

"मंदाकिनी—(चित्र देखती हुई) कौन कह सकता है, चित्र का जीवन एकांकी नाटक की तरह अपने ध्येय के प्रति तीव्र नहीं होता, साधना। (फिर रिकार्ड बज उठता है)

मंदाकिनी—नहीं, नहीं, यह मेरे हृदय का गीत नहीं है मेरे श्वासों की धूमशिखा है। मैं नहीं सुनना चाहती, नहीं सुनना चाहती। (तकिए से कान बन्द कर लेती है। रिकार्ड बजना बन्द हो जाता है। वह उठकर बैठ जाती है और सामने की तस्वीर देखने लगती है।)"[१]

इस प्रकार भट्टजी के कथोपकथन सरल, भावानुकूल, मनोभावों के उद्घाटनकर्ता और तीखे है।

दृश्यविधान—अभिनेयता की दृष्टि से भट्टजी के एकांकी सर्वथा मौलिक है। एकांकी के अभिनय के लिए सम्यक वातावरण का होना अत्यावश्यक है। भट्टजी के एकांकी दृश्यविधान की दृष्टि से पूर्णत सफल है। अभिनय ही उनकी दृष्टि मे मूल तत्व है, जिससे देश की उन्नति हो सकती है। भट्टजी के शब्दों मे—

"अभिनेयता एकांकी का आवश्यक गुण है। खेले जाने पर नाटक पढ़-अपढ सभी पर अपना प्रभाव डालता है। रंगमंच की सफलता उसका सार्वजनिक होना है। मेरा विश्वास है कि सोवियत संघ की तरह हमारे देश मे भी समाज से रूढियों, दुराग्रहों, मूढताओं को दूर करने का एकमात्र साधन रंगमंच ही होगा।"[२]

धूमशिखा, परदे के पीछे, आज का आदमी आदि एकांकी नाटक अभिनय

---

१. 'धूमशिखा', पृ० ५

२. 'समस्या का अन्त'—भूमिका, पृ० २०

की दृष्टि से नवीन और सफल है। सफल अभिनय के उपयुक्त उनके एकाकियों मे गतिमान कथानक और जीवित कथोपकथन है। कुछ एकाकियों को छोड़कर प्रायः सभी एकाकी एक लम्बे दृश्य मे ही पूर्ण हो जाते है। कुछ मे पूर्व कथा दी हुई है तथा प्रारम्भिक विकास-सघर्ष को पार कर वे तीव्रता से चरमोत्कर्ष की ओर बढते है। प्रत्येक एकाकी मे समाज के विभिन्न रूपो का चित्रण है। घरेलू जीवन के वातावरण आदि से पूर्ण दृश्य है। नाटको की अपेक्षा दृश्य-विधान की दृष्टि से उनके एकाकी कही अधिक उत्तम है।

कलेवर की दृष्टि से भी पात्र, घटना आदि से युक्त एकांकी कम समय मे सरलतापूर्वक अभिनीत किए जा सकते है।

भट्टजी के एकाकियो मे रगमच निर्देश अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है जिसके फलस्वरूप रगमंच की व्यवस्था परिस्थिति एव पात्रो की रूप कल्पना अधिक सरल व स्पष्ट हो गई है। यथा—

"तुलसी आगन मे बुहारी लगा रही है। क्रोध मे भरी कभी-कभी बुहारी लगाते इतनी बेचैन हो उठती है कि झाड़ू जोर से उठाकर जमीन पर गिराती है। तुलसी अधेड अवस्था की साधारण औरत है। इसी समय नशे मे उसका पति कुन्दन प्रवेश करता है। कुन्दन सिर पर बेढगी पगडी, मैला कुरता, घुटनो तक धोती और मुजशाही जूता पहने है, हाथ मे लाठी है। पीछे से घर मे घुसते ही लाठी कोने में रख देता है और पास पडी खाट पर बैठने लगता है कि उसकी पत्नी उसे देखती है। वह तुलसी का रूप देखकर चौंक पड़ता है। यह तुलसी का नियम है कि पति के घर मे घुसते ही एक-न-एक बखेड़ा कर देती है।"[1]

नाटकीयता के साथ-साथ रंग सकेत उनके एकाकियो को और भी सजीवता प्रदान करते है। दृश्य को सजाकर सामने प्रस्तुत कर देते है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—"अंग्रेजी ढग से सजा हुआ कमरा। जिसमे कालीन, सोफासेट, छोटी मेज, गुलदस्ता पीतल के गमले मे, कुछ चित्र पाश्चात्य देशो के है।

---

१. 'आज का आदमी', पृ० १३१

कार्निश पर ताँबे की नग्न मूर्तियाँ। कमरा बहुत बडा नहीं है उसे छोटा भी नही कहा जा सकता……। कमरे से सटा हुआ एक और कमरा जो किशोरी लाल की पत्नी का ड्राइग रूम है। कमरे मे एक युवती बैठी हुई है—बाईस वर्ष की उम्र, चेहरा सुन्दर पर मुरझाया हुआ। सौन्दर्य-प्रिय, दिखावा पसन्द करनेवाली किन्तु चचल। इस समय उदास, पुरानी साडी, पैर मे चप्पल नाम कुन्तल…आदि।"[1]

इस प्रकार दृश्य का सम्पूर्ण चित्र रंग सकेत के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। पाठकों व दर्शकों के लिए वातावरण तैयार हो जाता है।

भट्टजी के एकाकियो के कुछ रगमंच निर्देश केवल प्रभाव-व्यंजना के लिए ही प्रयुक्त हुए है।—धूमशिखा—"दिखाई देता है कि प्यालों की चाय मे नरेश के पत्र की प्रत्येक पक्ति और सम्पादक का विश्लेषण धुएँ के साथ प्रत्येक सदस्य के मस्तिष्क के रूढिवादी कीडों को सतर्क कर रहा है—।"

इस प्रकार देखते है कि भट्टजी के एकाकियों में अभिनयशीलता की कमी नही। उनके एकाकियो के रग-सकेत अभिनय और भाव प्रकाशन मे अत्यधिक सहायक सिद्ध होते है, फिर भी रगमंच के लिए जो निर्देश अपने नाटको के प्रारम्भ मे दिए है उनमें कही-कहीं ऐसी बातें भी आ गई है जिनका रगशाला के दर्शको से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए—'पर्दे के पीछे' नामक एकाकी संग्रह मे २८ साल का गेहुआं रंग, आकर्षक रूप, जार्जट की साड़ी, माथे पर बिन्दी, कानो मे डायमण्डक्रास इयरिंग, मुंह पर पाउडर, लाल आँखे लाल रंग की चप्पल, मुँह पर स्नो आदि से दर्शकों को कोई सम्बन्ध नही। 'स्वतन्त्रता का युग' नामक एकांकी मे एक आगन्तुक के आ जाने पर जिसका कि जयचन्द से पूर्व परिचय नही है—सहसा—"यह ब्यूटी कटेस्ट क्या है।" पूछना और उसके बाद फिर ब्यूटी कन्टेस्ट पर सहसा बातचीत का आरम्भ होना दर्शको को समुचित प्रतीत नहीं होता। इस सकलन मे 'बाबूजी', 'अपनी-अपनी खाट पर' नामक एकाकी अभिनय और प्रभाव

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ३

की दृष्टि से अत्यधिक सफल है। भट्टजी ने रङ्ग सकेतो द्वारा अभिनेयता को पूर्णता दी है।

स्थल, समय, कार्य की एकता की दृष्टि से भी उनके एकाकी अत्यन्त सफल है। भट्टजी ने एकाकियो की रचना किसी-न-किसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर की है। समाज की रूढियो, दुर्बलताओ की स्वाभाविक किन्तु तीखी आलोचना की गई है। 'धूमशिखा' नामक एकाकी सग्रह मे विशेष रूप से नाटककार की आत्मानुभूति की पुकार है। उनके पात्रो के रूप मे भट्टजी ने कुछ नये अभीष्ट चित्र उपस्थित किये है।

भाषा की दृष्टि से भी भट्टजी के एकांकी अत्यन्त समृद्ध है। उनके एकांकियो की भाषा नाटकोचित पात्र के अनुकूल है और परिस्थिति के अनुकूल है। यथा—

"मधु—(उठते हुए) आप इनकी बातों मे न आइए, अच्छा जाती हूँ।···

श्यामसुन्दर—सचमुच पहली बार मधु के उन चित्रो को देखकर मै अवाक् रह गया। मैने निश्चय किया है कि इन्हे चित्रकला मे उन्नति के लिए सब प्रकार की सुविधा दूँगा। अभी पिछले दिनो डेढ सौ मे इसी सम्बन्ध का सामान खरीदा है।

मधु—(आते हुए)······देखिए आप लोग मेरा मजाक न उडाइएगा।

श्यामसुन्दर—हनुमान को अपने बल का ज्ञान नही है तारक।

तारक—यदि जामवान् रहे तो हनुमान को मालूम हो जाएगा कि वे समुद्र पार कर सकते है।

मधु—यह ताजमहल है।"[1]

भट्टजी के एकाकियो की भाषा स्वच्छ, प्रभावशाली, चलती हुई, चुस्त और चुभती हुई है। वह सर्वथा अभिनय के अनुकूल है। उसमें स्वाभाविकता, दैनिक जीवन जैसी गतिशीलता और प्रवाह है—

"यह हृदय का गीत नहीं है। (खांसना) मैंने कल्पना के पंखों पर उड़कर

---

१. 'पर्दे के पीछे', पृ० ८७

जीवन के ताजमहल का चित्र बनाया, प्राणों का विश्वास होमकर (खाँसना) जीवन की सुरभि भीनी उषा मे हृदय मन्दिर की लालसा देवी की प्रतिष्ठा की। (रुककर) हारिल पक्षी की तरह अनन्त आशा के व्योम मे उडी, किन्तु ……किन्तु मेघो मे चमचमाती विद्युत की तरह मेरा उल्लास, मेरी कामनाएँ, मेरे जीवन के स्वप्न लुप्त हो गए।"

अन्त मे कहा जा सकता है कि आधुनिक एकाकीकारों मे भट्टजी ही ऐसे प्रतिभाशाली कलाकार है जिन्होने राष्ट्रीय भावनाओ के साथ-साथ गाधीवाद से प्रेरित होते हुए भी सामाजिक आचार-विचार, रूढिवादी रीतिरिवाजो का खण्डन, समाज के कृत्रिम रहन-सहन का उथलापन, समाज की जीर्णता, दकियानूसीपन, समाज के दुराग्रह आदि अनेक समस्याओ को अपने एकाकियो का प्रतिपाद्य बनाया। मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन पर एक तीखा व्यग्य आपकी अनेक रचनाओ मे मिलता है। 'पर्दे के पीछे' आदि अन्य एकाकी सग्रहो के एकाकी व्यग्य-प्रधान है। इस सम्बन्ध मे डा० नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य है—"चिन्तन या अनुभव से परिपुष्ट भट्टजी की जीवन दृष्टि अब प्राचीन और नवीन, प्रवृत्ति और निवृत्ति, अनुशासन और स्वच्छन्दता मे सहज ही सतुलन कर लेती है और इस युग की समस्याओं के मर्म तक पहुँचकर व्यग्य के द्वारा उनके समाधान की ओर सकेत करती है। उनका व्यग्य केवल काटकर ही नही रह जाता, उसमे जोडने की भी क्षमता है। दूसरे शब्दो मे वह केवल निषेधात्मक ही नही है रचनात्मक भी है। उसमे केवल भर्त्सना-मात्र नही है, सहानुभूति भी है।"[१]

प्रतिपाद्य के साथ-साथ भट्टजी ने पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण मे सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है। 'स्त्री का हृदय' नामक एकाकी में एक ओर रजना भावावेश मे अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर उसे पुत्र व भाई की सहायता से कारागार मे भिजवा देती है, किन्तु दूसरी ओर जब जेलर के यहाँ अपने पुत्र की भावी वधू को देखने जाती है और वहाँ पर पति को पिटता हुआ

१. 'पर्दे के पीछे', भूमिका

देखती है। पति की उस स्थिति को देखकर रंजना की वेदना अत्यन्त तीव्र हो-जाती है।

एकाकीकार भट्टजी की शैली में पश्चिम के साथ-साथ भारतीयता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उनकी भाषा सहज प्रवाहयुक्त है और सवाद स्वाभाविक। जब आप प्राचीन भारतीय सस्कृति के धूमिल चित्रो को अनावरण करते है तो भाषा शुद्ध सस्कृत तत्सम शब्दो मे पूर्ण प्राजल रहती है और उसके ठीक विपरीत जब भट्टजी आधुनिक परिवार की समस्या का चित्रण करते है तो भाषा मे अग्रेजी शब्दो और वाक्यो की भरमार होती है। विशेषरूप से आपने जन-प्रचलित भाषा का ही व्यवहार किया है। बोलचाल का रूप देने के लिए मिठाई-विठाई, हिन्दी-विन्दी, चाय-वाय, ठाट-बाट, दवा-दारू, रुपये-पैसे आदि सार्थक व निरर्थक सामासिक पद सहज ही प्रयुक्त हुए है। भाषा के अतिरिक्त छोटे-छोटे सवादो के बीच पात्रो के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विकास उनके एकाकियो की विशेषता है। दु.खान्त घटना मे भट्टजी एक-न-एक ऐसा मर्म-स्पर्शी स्थल लाकर जुटा देते है जो दु.ख के समय अत्यधिक दु खद होता है। फलस्वरूप दु खान्तक दृश्य और भी करुण हो जाता है। 'विष की पुडिया' नामक एकाकी में बहिन अपने मरनेवाले साँतेले भाई के लिए बिल्ली का बच्चा लाकर घटना को और भी करुणामय बना देती है। अत' भट्टजी ने दु खान्त एकाकियों को सफलता से अपनाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टजी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही दु ख और विषादमय है। समाज की कुरूपता और कुरुचि को एकाकीकार की लेखनी कोमल बनाकर प्रस्तुत करती है, जिसके परिणामस्वरूप रसात्मकता का हनन नही होता। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "भट्टजी करुण परिस्थितियो के कलाकार है।"

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी के प्राय' सभी एकाकी प्रगतिशील विचारो से युक्त है। 'नई बात' मे अर्थ-महत्त्व के मापदण्ड पर विचार किया गया है। जिसमे आर्थिक दशा ही आज किसी सामाजिक महत्त्व को कम या अधिक बना देती है। नई बात' का नायक कवि जीवन मे केवल अर्थ हीनता के कारण ही सम्मान नही पा सका। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर तीखी चोट भी भट्टजी

के एकांकियों की अपनी विशेषता है।

भट्टजी के प्रायः सभी एकाकी रंगमंच पर अभिनीत किए जा चुके है क्योकि रगमच के लिए आवश्यक निर्देश पर्याप्त मात्रा मे देते है। स्टेज का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही एकाकियो की रचना करते है जिसके फलस्वरूप अभिनय सुविधापूर्वक किया जा सके—उदाहरण के लिए—'बाबूजी' नामक एकाकी से—

"एक चौकोर रग-बिरगी टाइल्स का सजा हुआ बडा कमरा। सामने दीवार पर मकान मालिक का लाइफ साइज का फोटो। दक्षिण की तरफ कार्निस्स पर कुछ बस्ट। उसके ऊपर आदमकद शीशा जिससे कमरे के सामने का भाग दिखाई दे रहा है। एक तरफ पश्चिम मे सोफासेट, कुछ कुर्सियाँ।"

पात्रो के मनोगत भावो के लिए भी निर्देश देना उनकी प्रतिभा का द्योतक है। यथा—

"उसकी आँखों मे बेचैनी है, चेहरा पिचका हुआ, रग गोरा, बाल बिखरे हुए, मालूम होता है बडी चिन्ता मे है।" (दस हजार)

भट्टजी के एकाकियो मे दृश्य परिवर्तन बार-बार नही होता। कम-से-कम दृश्यो मे आपके एकाकी अभिनीत किये जा सकते है।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्टजी के एकाकी तत्त्वों के आधार पर पूर्णतः सफल है। वे सरलता से अभिनीत किये जा सकते है।

प्रस्तुत अध्याय का सार

आधुनिक युग में साहित्य केवलमात्र मनोरंजन का साधन नही है, प्रत्युत वह जीवन मे नई चेतना देने का सबल अस्त्र है। अवकाश के सीमित क्षणो मे कम-से-कम साधनो के बीच, अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता एव अपनी अभिव्यजना की शक्ति लिए हुए इस दिशा मे एकाकी का जन्म हुआ।

आधुनिक एकांकी पश्चिम की कला से बहुत प्रभावित है अतः एकाकी कला में अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओ का घात-प्रतिघात सबसे प्रधान तत्त्व स्वीकार किया गया है। एकांकी में एक निश्चित समस्या की तीव्रता, उसके द्रुत विकास, आवेग और चरम-सीमा पर उस समस्या की चरम अन्विति आदि एकांकी

कला की मूल विशेषताएँ हैं।

भट्टजी का एकांकी साहित्य सामाजिक आलोचना, राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। विषय-वैविध्य की दृष्टि से इनके एकांकियों का विस्तार व्यापक, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, सामाजिक चेतना के प्रति जागरूकता, व्यंग्यात्मकता, जन-जीवन का यथार्थ चित्रण, प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की झाँकी और इतिहास का समीकरण महान है।

एकांकी के तत्त्वों के आधार पर भट्टजी के एकांकियों को सफल कहा जा सकता है। समस्या का अन्त, पर्दे के पीछे, धूमशिखा, आज का आदमी आदि एकांकी संग्रहों की समस्या आज के समाज की प्रमुख समस्या है, जिनको भट्टजी ने अपने एकांकियों में बड़ी सफलता से चित्रित किया है।

एकांकियों की कथावस्तु का स्वाभाविक विकास होता है और मुख्य पात्रों में परस्पर विरोधी भावनाओं में संघर्ष के माध्यम से एकांकी चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है। चरम सीमा के पश्चात् किसी प्रकार की घटना न देकर एकांकी-कला की रक्षा की गई है। सभी का अन्त विस्मय-बोधक होता है जोकि पाश्चात्य नाट्यकारों की विशेषता है। भट्टजी के एकांकियों की कथावस्तु में तीव्रानुभूति है। संक्षिप्त कथानक में आरम्भ से ही कौतूहल, जिज्ञासा मिश्रित-विस्मय, आकस्मिकता आदि का प्राधान्य है।

भट्टजी के एकांकियों के कथानक के सदृश पात्र भी उत्कृष्ट हैं। आदर्श की अपेक्षा वे यथार्थ की ओर अधिक झुके हुए हैं। उनमें यथार्थ और ठोस वस्तुवादी का प्राधान्य है। एकांकियों के कथोपकथन अपनी व्यंजना और तीखी चोट के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। इन कथोपकथनों में वर्तमान कुरीतियों, धर्माडम्बरों, अन्धविश्वास, आर्थिक असमानता आदि पर सर्वत्र कठोर व्यंग्य है। कथोपकथन द्वारा पूर्वकथा और परिस्थिति का चित्र अंकित हो जाता है।

रंग निर्देश व्यापक और विस्तृत है। अभिनय ही भट्टजी की दृष्टि में सब कुछ है।

एकांकियों की भाषा नाटकोचित, पात्रानुकूल तथा परिस्थिति के अनुकूल है।

५ | भट्टजी के नाटकीय गीतों का सौष्ठव

नाटक में गीतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीतों के द्वारा ही मानव अपने हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है, क्योंकि उसके हृदय में जिस प्रकार की भावनाओं का उद्रेक होता है उसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति गीत में होती है—"गीत मानव हृदय का एक राग है जो आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा देता है।"[१] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जब वेदना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब ही गीत गाया जाता है। महादेवी वर्मा के शब्दों में कह सकते हैं कि सुख-दु:ख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है, वह सहज प्राप्य नहीं। कारण हम भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरान्त संस्कार मात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है'''वास्तव में गीत के कवि को आर्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए, दु:खातिरेक के पीछे दीर्घ निश्वास में छिपे हुए भावों को संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल होगा। अस्तु।

नाटक में गीतों का होना अनिवार्य है क्योंकि रंगमंच पर मनोरंजन का सबसे सुन्दर साधन है गीत। अन्तःकरण के सूक्ष्म भावों का व्यक्तीकरण गीतों के द्वारा ही होता है। परिस्थिति के अनुसार मानव की अन्तरात्मा जिस प्रकार की भावनाओं से उत्प्रेरित है, उसी का सजीव चित्रण गीत में होता है। गीत के अभाव में नाटक अपूर्ण है क्योंकि नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्य की सन्धि का नाम ही नाटक है। यही गीतों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

१. 'साहित्य सन्देश', सितम्बर १९४८

नाटक मे गीतों का शास्त्रीय महत्त्व भी है। नाटक मे गद्यमय संवादो के रहने से जो शिथिलता छाई रहती है उससे पाठक या दर्शक का मन ऊब जाता है। अत. नाटको मे गीतो का रहना अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये गीत चरित्र मे भी सहायक है क्योकि वह पात्रो की प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन कराता है। इसके अतिरिक्त गीत रस के उद्रेक और परिणाम की परिणति मे भी सहायक होते है। गीतो की स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक दृश्यो को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। सक्षेप मे नाटक में गीत-योजना के निम्न कारण है—

१ दर्शको के मनोरंजन के लिए।
२. रस-परिपाक-योजना मे सहायता के लिए।
३. परिस्थिति का विधान करने के लिए।
४. मनोविज्ञान की सहायता के लिए।
५. पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए, आदि।

भट्टजी के नाटकों में गीत

भट्टजी के नाटको मे गीतों का सफल समावेश हुआ है। नाटकों मे गीतों की सफलता के कारण वे गीतो के अधिनायक कहे जा सकते हैं। भट्टजी भावावेश के कारण कल्पना लोक तक जाते हुए भी ससार की यथार्थ भूमि को नही त्याग पाए। उनके गीत दार्शनिकता के असह्य भार से भी मुक्त हैं। उनके गीतो मे नाटकीय उपयुक्तता सफलता से अंकित हुई है। चाहे उनके नाटकीय गीतों की स्वतन्त्र सत्ता न हो परन्तु वे वातावरण और प्रसग से, पात्र के चरित्र और मनोदशा से, पूर्णत: सम्बन्धित है। नाटककार ने अत्यन्त संयम से काम लिया है। कवि हृदय की भावुकता के पीछे भट्टजी नहीं भागे है। भावों की सरलता और भाषा की प्रासादिकता के कारण कथानक को सजीवता देने वाले उनके गीत अनायास ही अन्य नाटककारो से अधिक नाटकोचित हैं। उनके गीत कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, समय और देशानुकूल तो हैं ही, वे सामाजिको की भावनाओं के साथ भी बँधे हुए है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से भट्टजी के नाटकीय गीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. राष्ट्रप्रेम या देश-भक्ति सम्बन्धी गीत
२. एकता के प्रचारक गीत
३. विरह-गीत
४. मिलन-गीत
५. प्रणय-सूचक गीत
६. प्रयाण-गीत
७. मन की विवशता के द्योतक
८. चरित्र के प्रकाशक
९. राजनीति सम्बन्धी
१०. दार्शनिक और प्रकृति-सम्बन्धी।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों के गीतों में देश-प्रेम और राष्ट्रीय गीतों की अधिकता है। उनके राष्ट्रीय गीत उदासीन और सुप्त जनता को जगानेवाले, देश का महत्त्व बतानेवाले दृढ़ विचारों के सूचक हैं। कर्त्तव्य की पुकार और आह्वान ने गीतों को ओजगुण दिया है। इन गीतों में प्रेरकता के साथ-साथ उद्बोधकता भी है—

"उठो वीर भारत माता के, माँ ने तुम्हें बुलाया है
कस कर कमर अमर बनने का, सुन्दर अवसर आया है
शत्रु उठा आता आँधी सा करने को यह देश विनाश
पीस डालना उसे कुचलकर, रखना भारत मा की आस
रण में जीवन देना डटकर सम्मुख यह सिखलाता है
उठो वीर भारत माता के, माँ ने तुम्हें······।"[1]

इसी प्रकार अन्य अनेक गीत निर्जीव शरीर में प्राणों का संचार करनेवाले हैं। अपनी आन के लिए युद्ध करने की ललकार उनके गीतों में विद्यमान है। जैसे मधुआ का गीत

[1] 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ९५-९६

"घनघोर युद्ध घिर आते हैं, जब दाएं-बाए दलवल से
तब वीरों के मन हँसते है, उठते है शस्त्र अकथ बल से
निर्भर से झरने झरते हे जब रुधिर धार से भूतल पर
उद्दण्ड प्रचण्ड बने योधा तब हँसते निखिल धरातल पर

× × ×

वह आज समय फिर आया है, रुद्राट्टहास का सगर में
कण-कण कर अरि दल देंगे रक्तो के न्हाकर सागर मे ।"[1]

स्त्रियों को उत्साहित करता हुआ देवकी गाता है—

"धमक जायगी धरा कँपेगी भूधर माला
कड़केगी जब स्त्रियाँ प्रखर बन विद्युज्ज्वाला
रुधिर धार नन सिन्धु शत्रु मज्जित कर देगा
पल-पल शतदल काट रुधिर सागर भर देगा
बिन्दु बनाकर उदधि, उदधि को कण कर दगी
शक्ति समुद्र नसो मे जग की फिर भर देगी ।"[2]

उनके ऐतिहासिक नाटकों के अनेक गीत राष्ट्र-प्रेम को जागृत करते हैं। 'शक-विजय' मे भारतीय सेना का विजय-प्रवेश के उपलक्ष्य मे गाया हुआ गीत प्रत्येक सैनिक की राष्ट्र-भक्ति का परिचायक है—

"आओ जय-जय गान करें
चिर विजयी चिर वीर देश का प्राणो से सम्मान करें
भारतीय हम धर्म-कर्म से भारतीयता की जय हो
रामकृष्ण की महावीर की बुद्ध-भूमि महिमामय हो

× × ×

कौन रोक सकता जय रथ को जब हम मिल प्रस्थान करें
कौन रोक सकता जयपथ जब खरतर शर संधान करें
इस सस्कृतिमय महाउदधि में कौन बचा शक हूण यहाँ

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ६१–६२
२. वही, पृ० ६८

भारतीय विज्ञान-अग्नि ने किसको दिया न भूग यहाँ
शत्रुंजय मृत्युंजय विजयी भारत का आह्वान करे,
आओ जय-जय गान करे......।"[१]

देश-विजय के हेतु सम्मिलित गान भी उत्कृष्ट है—

"जय हो जय हो देश की
उषा-स्नात संस्कृति से शीतल निर्मल छबि विश्वेश की
सागर चुम्बित जन पूजित पद
हिम मणि मुकुट छटा भ्राजित पद
महिमा मण्डित ज्ञान अखण्डित भारत भूमि स्वदेश की
जय हो जय हो देश की।"[२]

कुछ राष्ट्रीय गान बहुत उत्तेजक है। विक्रमादित्य का निगम गीत राष्ट्र प्रेम के वीरों का जय गान करता है। विक्रमादित्य की विजय पर नर्तकियाँ गाती है—

"जय-जय जीवन नभ उजियारे, जय विक्रम महाराज
जय विभूति भावों के प्यारे, जय जीवन अधिराज
चंचल राज्य-श्री के अचल
भू रक्षक ध्रुव धीर सुनिर्मल
एक छत्र मणि नृप मणि मण्डल
काम कला चख तारे।"

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों का लक्ष्य सामुदायिक भावना है। उनके गानरा मे एकता की भावना निरन्तर जाग्रत रहती है—

"काश्मीर से अन्तरीप तक एक शक्ति संस्कृतिमय हो
काबोज से कामरूप तक भूगतिमतिमय अक्षय हो

१. 'शक विजय', पृ० १२३
२. वही, पृ० १२८
३. विक्रमादित्य, पृ०

उस वरदायक विघ्न विनायक भारत पर अभिमान करें।"[1]

युद्ध के प्रसंग में जो राष्ट्र गीत है वे प्रयाण गीत का अच्छा उदाहरण है, किन्तु प्रसाद के गीतों के सदृश प्रवाहमय, परिमार्जित और प्रभावशाली रूप भट्टजी के गीतों में नहीं मिलता। युद्ध के आह्वान के अवसर पर दरबारी-कवि मुहम्मद-बिन-कासिम को आशीर्वाद देता हुआ गाता है—

"हे अरब दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ
निज देश धर्म की रक्षा करना बढ बढ कर लड़ना
मत पीछे कदम हटाना मत दाएँ बाएँ जाना
दुनिया को रंग दिखाना, अपना सब देश बनाना
हे अरब दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ।"[2]

आपके गीत राष्ट्रीय भावना एवं देश-प्रेम की भावना से ओत प्रोत है। एक गीत में आदि से अन्त तक एक ही भावना रहती है जोकि गीतों के आवश्यक तत्त्व की पूर्ति करती है।

पात्रों के व्यक्तित्व का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन गीतों के माध्यम से पाया जाता है। उनके नाटकीय पात्रों के हृदय में प्रेम का अजस्र स्रोत बहता है। प्रेम के विरह और मिलन दो तत्त्व है। दोनों की ही सुन्दर अभिव्यक्ति भट्टजी के नाटकों में मिलती है—विरह की व्यंजना देखिए—"कृष्ण के विरह में राधा उन्मत्त हो जाती है। वह प्रतीक्षा में कभी राह देखती है, कभी चित्त के उद्वेग को दूर करने के लिए उठकर इधर-उधर घूमती है। पत्तों के खड़कने से कभी चौकन्नी हो जाती है किन्तु गाय देखकर हताश हो बैठ जाती है......अन्त में गाने लगती है—

'कौन युग से पथ निरखती
हृदय में अंगार भरकर श्वास से पीड़ा छिपाए
प्राण का उपहार लेकर साधना में स्वर सजाए

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ८६
२. वही, पृ० ८७

चल रही हूं मैं युगों से
युगों के पल पल परखती
× × ×
फूल सा हँस झड चुका है हृदय का उल्लास मेरा
सतत पतझर से घिरा सा, अभा सा आकाश मेरा
कहीं भी तुमको न पाकर—
आँसुओं मे छवि पुलकती
कौन युग से पथ निरखती ।"[1]

गोपा की विरह व्यथा भी दर्शनीय है। वह अपने व्यथित हृदय को इन शब्दों मे सान्त्वना देती है—

"दु:ख हम किससे कहें—सुने कोई
याद हम किसकी करें—सुने कोई
× × ×
डूब रही नाव कही दीखता सहारा नही
क्या हमारा मन कही पायगा किनारा नही,
प्रेम हम किससे करें—न है कोई ।"[2]

गोपा के गीत की ध्वनि से सर्वत्र सन्नाटा छा जाता है। पशु-पक्षी भी मूक हो जाते है।

मिलन गीत भी उत्कृष्ट कोटि के है, उनमे वासनात्मक उद्‌गार कही नहीं मिलता। कृष्ण-मिलन के उपरान्त राधा गाती है—वह कृष्ण से पागल-सी होकर लिपट जाती है और प्रसन्नता के अतिरेक से उठकर नाचने लगती है—

"मै स्वर्ग लूट कर लाई—
जो उफन रहे थे बादल

---

१. 'विश्वामित्र और दो भाव नाट्य', पृ० १३८
२. 'मुक्तिदूत'

इन पलकों पर खाते बल,
बिजली को हृदय लगाकर
उडते थे ले नव संबल,
उन कंपित लहरो पर चढ
शशि सागरिका मे न्हाई।"[1]

भट्टजी के पात्रो की व्यक्तिगत भावनाएँ गीतो के माध्यम से मुखरित होती हे। प्रमाग के लिए मुक्तिपथ की नर्तकी द्वारा गाया हुआ गीत शृङ्गार भावना से पूरित है। इस प्रकार के गीत उद्दीपन रूप को उकसाते है; उनमें मादकता और माधुर्य है, आशा और उल्लास है और नर्तकी के गीतो मे उन्मुक्त वासना का प्राधान्य है। मुक्तिदूत मे कुमार के मन को परिवर्तित करने के लिए नृत्य के साथ गीत गाती है—

"हास भीने स्मृति सजल दृग स्वप्न आलिंगन भिगोये
यह मिली क्यो मधुर सिहरन प्यास साँसो मे पिरोये
मै मधुरतम स्वप्न सुख पी
भूल अपना मन चुकी हूँ।
डूब छवि की सरित मे सब
भूल अपना पन चुकी हूँ।
कौन तुम गुपचुप हृदय में आज बन अनजान सोये
हास भीने स्मृति सजल दृग प्राण मे पुलकन सँजोये।"[2]

प्रणय और सौन्दर्य के गीतो में अतिरम्य शब्द-चित्रो की रचना की है और साथ ही भारतीय परम्परा की मर्यादा भी है। गोपा हाथ मे वीणा लिये विवाह के पश्चात् गाती है—

"प्रिय पग चढाती चल—
स्नेह जीवन, पुलक के सन,

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाएँ', पृ० १४७
२. 'मुक्तिदूत'

साधना के सफल नर्तन
कुसुम के उल्लास से मधुमास के उच्छ्वास सबल।
धड़कन जगाती चल,
प्रिय पग बढ़ाती चल।
विरह गीले-स्वर सजीले
बिन्दु में सागर समीले,
रोम वीणा पर पुलक के स्वर सजाती चल।"[1]

भट्टजी ने पात्रों के व्यक्तित्व का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन गीतों के माध्यम से किया है। जीवन की आशा-निराशा आदि आपके गीतों की विशेषता है। दाहर अपने पिता की भूल पर पश्चात्ताप करता हुआ गाता है—

"यह भूल अज्ञात का फल है, जो जीवन के तरु पर फूली
वह सदा चुभी काँटा बनकर वे भूले आजीवन भूली
उनकी न विषमता नष्ट हुई, उनकी सत्ता न विलीन हुई
वे उभर-उभरकर चमकी है, वे फल देकर ही क्षीण हुई।"[2]

यह गीत समयानुकूल है साथ ही पाठक वर्णनात्मक वातावरण की नीरसता का अनुभव करने से बच जाता है। इसी प्रकार 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' की परमार देश की पराजय के उपरान्त निराश होकर गाती है—

"दुःख स्वप्न अनिल से काँप रहे कण आशा के पथ हीन हुए,
स्मृति सुख का रो मन्थन करते सब साधन बिगड़े दीन हुए
दुःख के तालों पर थिरक-थिरक जब सुख मदमाती लहर चली
वह साथिन लहरों से हँसकर हा! क्रमशः वही गई निगली
किसने परिणामों में पाया संचित आशा का सिंगार
मैं संसार विहार-स्थल पर निरख रही बारम्बार।"[3]

---

१. 'मुक्तिदूत'
२. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० २६
३. वही, पृ० ६२

भट्टजी के नाटकों में मन की विवशता के गीत बहुत उच्च कोटि के हैं। इन गीतों को वेदना-गीत की संज्ञा भी दी जा सकती है। मत्स्यगंधा नारी की सामाजिक स्थिति से परिचित है, वह सामाजिक बन्धन में भयभीत होती हुई भी मन की सुलभ भावना से पराजित हो जाती है। निरंतर यौवन के वशीभूत उसकी आकुल आत्मा तड़प उठती है—

"अपने को चीन्हती स्वधर्म को भी चीन्हती
नारी के स्वरूप सुख शोभा में छिपे हैं देव
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना।
× × ×
अपयश अपलाप दोनों ही कन्धों पर जमे
जीवित ही नारी का मरण कर डालते
कैसे तोड़ बन्धनों को, जो अनादि काल से हैं
आज मैं अबन्ध हो चलूँ क्यों अविधेय पथ है।"[1]

मुक्तिपथ की चन्द्रलेखा और दाहर की परमाल के गीतों में मनोदशा के अच्छे चित्र हैं। हृदय का यथार्थ चित्र उनके गीतों में है। मत्स्यगंधा के गीतों में मानसिक वेदना का निवास-स्थल है। राधा की विशाखा का प्राणधन उसे बन्धन में बांधकर उसके प्राण लिये लेता है, विवश हृदय का इतना मार्मिक चित्रण अन्यत्र नहीं मिलेगा।

भट्टजी के नाटकीय गीत पात्रों के चरित्र के प्रकाशक भी हैं। सगर-विजय की बर्हि में प्रतिहिंसा, षड्यन्त्र और प्रलय की अग्नि है। इन गीतों के द्वारा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण है। बर्हि का चरित्र एवं उसके मन का संघर्ष निम्न गीत द्वारा स्पष्ट हो जाता है—

"तरल गरल पीयूष बनाकर अरिदल पर बरसाना होगा
मैं खंजर हूँ, मुझे शत्रु का तिल-तिलकर तरसाना होगा
× × ×

---

१. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य', पृ० ७४

खेल-खेल मे मुझे मृत्यु का जीवन-रास रचाना होगा ।"[१]

बर्हि का चरित्र कठोर, प्रताड़ित एवं ईर्ष्या और प्रतिशोध की अग्नि में जल रहा है, किन्तु विशालाक्षी आदि भावुक और सरलहृदया है । वह ममत्व की प्रतिमा है । बर्हि द्वारा पुत्र का हरण किये जाने के उपरान्त वह विक्षिप्त-सी हो जाती है, उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग शिथिल है, एकाएक गाने लगती है—

"मै उखड़ती हुई साँसों-सी उजड़कर जा रही हूँ ।
याद करने के लिए कुछ श्वास छोड़े जा रही हूँ ॥
उठ रही चिनगारियाँ इन आँसुओ के बादलो मे ।
बीन कर टुकड़े व्यथा के प्राण तोडे जा रही हूँ ।"[२]

उपर्युक्त पंक्तियों मे माँ की ममता का प्रदर्शन भट्टजी ने अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल शब्दों मे व्यक्त किया है ।

भट्टजी के अधिकाश नाटकीय गीतो मे विश्व-प्रेम, मानवता की पुकार, कोमल हृदय की अनुभूति और शान्ति का प्राधान्य है । कुछ गीतो मे पात्रों के आहत हृदय की उदारता और व्यथा को अभिव्यक्त किया गया है । 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' में युवराज जयशाह की क्षत-विक्षत अवस्था को देखकर जीवक का हृदय व्यथा से भर जाता है । वह गाता है—

"गीतों में स्वर भंग, हृदय मे भय किसने भर डाला
भव्य-भवित मे द्रोह, राग मे निर्विषयों की ज्वाला
× × ×
सब कुछ छिपा नाश की तह मे, दुःख क्यों टीस रहा है ।"[३]

सुखात्मक और दुखात्मक दोनो प्रकार की अभिव्यक्ति करनेवाले गीत भी भट्टजी के नाटको मे है । इनसे नाटकों में संवेदनात्मकता और भावप्रवणता की वृद्धि हुई है । करुणा-प्रधान होने के कारण रस-संचार में भी ये गीत सहायक हुए

१. 'सगर-विजय', पृ० २७
२. वही, पृ० ५२
३. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० ३४

है। विशालाक्षी का निम्न गीत रस-संचार की दृष्टि से उत्कृष्ट है—

"आशाओं का पुंज अँधेरा बनकर आँखों में आता है
फिर रोने के लिए हंसी को कोई यहाँ बुला लाता है।
× × ×
क्षण भर भी न हाय वे सपने मधुर जागरण ही बन पाये
बुझा दिए झप से झंझा ने स्नेह दीप सब जले जलाए।"[१]

वातावरण को प्रस्तुत करनेवाले गीत तो भट्टजी की मुख्य विशेषता हैं। भट्टजी के गीत युद्ध के वातावरण को विशेष रूप में चित्रित करते हैं। अनेक पात्र—परमाल, सूर्य, चन्द्रलेखा आदि पुरुष पात्र भी ऐसे हैं जो अपने राष्ट्रीय गीतों से ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जो युद्ध का सन्देश और जनता को स्फूर्ति प्रदान करता है, जहाँ-जहाँ नृत्यगान के द्वारा विलासमय वातावरण प्रस्तुत किया गया है वहाँ गीतों ने उस वातावरण को और भी रंगीन बना दिया है। 'शक-विजय' नाटक में वरद के आगमन के स्वागत में सारे यौधेय नर-नारी बालक-वृद्ध एकत्र होकर नृत्य कर रहे हैं। कुछ लोग नृत्य के साथ गा रहे हैं—

"छलक छलक चले,
सुरा भरे मधुर-मधुर चषक ढलक चले
× × ×
सुरा भरे मधुर मदिर चषक ढलक चले।"[२]

अन्य नृत्य-गीत यौवन और विलास मदिरा को विकीर्ण करते हैं। नाटककार ने संगीतात्मकता का पूर्णतः ध्यान रखा है।

भट्टजी सरलता और स्पष्टता के समर्थक हैं अतः उनके नाटकों में विचारों की गहनता, अस्पष्टता का पूर्णतया अभाव है। इसीलिए उनके नाटकीय गीतों में गहनता और दार्शनिकता का प्राधान्य नहीं है। जहाँ कहीं दार्शनिकता को लेकर गीत लिखे गए हैं वहाँ वे एक प्रेरणा का ही काम करते हैं—विक्रमा-

१. 'सगर-विजय', पृ० ७७
२. 'शक-विजय', पृ० ११८

दित्य का गीत उसकी दार्शनिक प्रवृत्ति का द्योतक है—

"निशा वक्ष मे उषा-काल की मद वाली उठ जागी
उन्मादिनि सी दृष्टि तारिका मुकलित हो छिप भागी।'[1]

यद्यपि विस्तार की दृष्टि से यह गीत बडा है जो कि नाटकीयता की दृष्टि से उचित प्रतीत नही होता, फिर भी पात्र के मनोभावों को व्यक्त करने के कारण ही यह विस्तृत हो गया है।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको मे कठोर राजनीति के दाव-पेचों को भी गीतो के माध्यम से व्यक्त किया गया है। विक्रमादित्य मे योगेश्वर राजनीति की सफलता का रहस्य उद्घाटन करता हुआ गाता है—

"अनोखा भेद-नीति-विस्तार
अस्त्र का व्यर्थ जहाँ व्यापार
मानव हृदयो मे जगाता है जब तृष्णा का दीप
उसी नीति की पूजा करके बनता रक महीप।"[2]

और भी—इसी प्रकार चन्द्रलेखा विजय के लिए कर्त्तव्य भावना को व्यक्त करती हुई गाती है—

"बनो मायावी कपटी संग
अन्यथा अविजय है प्रसग
× ×
लक्ष्य भेद चिन्ता मे डूबे बाहर सुन्दर रग।"[3]

प्रकृति सम्बन्धी गीतो की ओर भी भट्टजी का झुकाव है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नही। मन की अभिव्यक्ति, अनुभूति की गहराई और जीवन को सन्देश-वाहकबन कर ही प्रकृति भट्टजी के गीतो मे आई है। 'विश्वामित्र और दो भाव नाट्य'—मत्स्यगधा और राधा मे प्रकृति के सुन्दर चित्र गीतो के माध्यम

१. 'विक्रमादित्य', पृ० १६
२. वही, पृ० १५
३. वही, पृ० ३६

है। साधारण सामाजिक भी उनसे प्रभावित हो सकते हैं।

पात्रो के गहन सुख-दु.ख की विभिन्न परिस्थितियों ने गीतों को जन्म दिया है जो संगीतात्मकता से परिपूर्ण है। उनके गीतों में आदि से अन्त तक एक ही भाव रहता है जो पूर्णतः स्पष्ट है। छायावादी युग के लेखक होने पर भी आपके नाटकीय गीतों मे छायावाद की अस्पष्टता नही आने पाई है। गीतों मे परिव्याप्त प्रत्येक भाव का चित्रण सफलतापूर्वक अंकित हुआ है।

भट्टजी के गीतों ने ही उनके नाटकों को वास्तविक दृश्यकाव्य का रूप दिया है। अनेक दृश्य जो रंगमंच पर प्रदर्शित नही किए जा सकते, उनकी प्रतीति भट्टजी ने संवादों के साथ गीतों द्वारा भी कराई है। गीतों की शैली सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए। यह विशेषता भट्टजी के गीतों मे पूर्णतया पाई जाती है। आपके गीतों की भाषा मे दुरूहता का पूर्णतया अभाव है। आपके गीतों की भाषा मे प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है—

"जागो राजदुलारे
स्मय बिखेरती, अचल हेरती,
खिला-खिला कलि हँसा-हँसा अलि
धीरे-धीरे मन्द समीरे
आती ऊषा ले मंजूषा
गीतों के तव द्वारे
जागो राजदुलारे।"[1]

कुमारसम्भव के गीत भाव-पूर्ण और मृदु है। राधा में नारद द्वारा गीत-गोविन्द के कुछ पद कहलवाये है जो मार्मिक और अवसरानुकूल हैं। मत्स्यगंधा के गीतों मे क्षिप्रगति है, नाट्य छटा है—

"मदिर-मदिर यौवन उभार चल
मधुर-मधुर मेरे सिंगार पल।"[2]

१. 'मुक्तिदूत', पृ० ७५-७६
२. 'शक विजय', पृ० ११८

में यौवन का मदिर चित्र है। तीनों भावनाट्यों के गीतो मे भावोद्रेक की अधिकता है, भाषा की माधुरी है।

भावानुकूल भाषा के द्वारा गीतों को प्रभावशाली रूप दिया गया है। राष्ट्रीय और देश भक्तिप्रधान गीतों की भाषा में ओज गुण है तो प्रेम और विरह-मिलन के गीतो मे माधुर्य। कुछ गीतो में ध्वनि-साम्य और शब्द-साम्य का चमत्कार दर्शनीय है—

"छलक-छलककर, ललक-ललककर"[1]

और भी—"शत-शत उद्गार, शत-शत हा हा कार"—में तो चित्रोपमता का भी समावेश हुआ है। संगीतात्मकता के लिए शब्द-चयन के साथ लय, सुर, ताल तथा राग-रागिनी का ध्यान भी आवश्यक है। भट्टजी के नाटकों को संगीतात्मकता की दृष्टि से हम सफल कह सकते हैं। यथा—

"सजा कर सुख-स्वप्नों का साज।
भेट्टगी प्रियतम से जीभर बुझा विरह विष आज
मद के मधुर झकोरो से धीमे सरूर म भरके
सौन्दर्य की सागरिका मे न्हावे सुख, प्रियवर के
वायु विलोडित जल बुद-बुद पर नाचूँ उन्हे रिझाऊं
मधुर कुन्द मकरन्द सार से प्रियतम को निहलाऊं"[2]

अन्ततः भट्टजी के गीत विविधता लिए हुये है और वातावरण को गति-प्रदान करने मे सहायक है। उनके गीतो का सम्बन्ध वीर, शृंगार, करुण और शान्त तथा वात्सल्य व प्रकृति-चित्रण से रहा है। उनके नाटकीय गीतो में भावना और विचार का अद्भुत सामंजस्य है। संक्षिप्तता, सहजता, सरलता और प्रवहमानता आदि उनके गीतो की प्रमुख विशेषताएँ है। भट्टजी के गीत शिल्प विधि की दृष्टि से भी सफल कहे जा सकते है। उन्होने तुक-निर्वाह का उचित ध्यान रखा है। उनके नाटकीय गीत पात्रो की अनुभूतियो से पूर्णतः समृद्ध रहे

---

१. 'मुक्तिदूत', पृ० ७६
२. 'विक्रमादित्य', पृ० २३

है। व्यर्थ का वाग्विस्तार का उनमे पूर्णरूपेण अभाव है।

यद्यपि भट्टजी सफल गीतकार है; तथापि वे सर्वथा निर्दोष नही कहे जा सकते—

१. अनेक गीतों का आकार आवश्यकता से अधिक बड़ा है।

२. अनेक गीतों मे पुनरावृत्ति का दोष भी आ गया है।

३. आरम्भिक नाटको मे गीतो की सख्या का समुचित ध्यान नही रखा है।

४. आरम्भिक नाटकों में एक-एक दृश्य मे ही दो-तीन गीत आ गये है।

५. अनेक स्थलो पर सयुक्ताक्षरों की भरमार है जिसके परिणामस्वरूप नाटकोचित प्रासादिकता और माधुर्य को आघात पहुँचा है।

आरम्भिक नाटको के गीतो का आकार आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। विक्रमादित्य मे सोमेश्वर और विक्रमादित्य द्वारा गाए हुए गीत अत्यन्त विस्तृत हो गये है। सगर-विजय मे गीतों की सख्या यद्यपि कम है, किंतु आकार की दृष्टि से वे बहुत बडे है जिसके कारण नाटकीयता मे बाधा पड़ती है। कई गीतों मे पुनरावृत्ति का दोष आ गया है। यदि नाटककार पुनरावृत्ति को बचा सकता तो गीत लघु आकार का होकर अधिक प्रभाव डालता, किन्तु अब गीत इतना प्रभावशाली नहीं हो पाया।

अपने आरम्भिक नाटकों मे भट्टजी ने पर्याप्त सख्या में गीत रखे है, किन्तु धीरे-धीरे कम करने की प्रवृत्ति आती गई है। विक्रमादित्य मे १० गाने हैं और दाहर अथवा सिन्ध-पतन मे १३ पद्य और गीत है। विक्रमादित्य में सोमेश्वर, विक्रमादित्य, चन्द्रलेखा, चन्द्रकेतु और दाहर मे दाहर, परमाल, समुद्र, मधुआ, देवकी, सूर्य-देवी, ज्ञानबुद्ध, जयशाह सभी को गाने का रोग है। कुछ गीत केवल पद्य रूप मे ही है। यथा—

> "यह भूल अज्ञात का फल है, जो अवसर के तरु पर फूली
> वह सदा चुभी काँटा बनकर, वे भूलें आजीवन भूली।"[1]

---

१. 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन', पृ० २६

दाहर के पहले अंक के दूसरे दृश्य के अन्त में दाहर दो पृष्ठो का स्वगत-भाषण करके उपर्युक्त पद्य बोलता है। सगर-विजय मे यह प्रवृत्ति (गीतो की सख्या) कम हो गई है—केवल चार गीत है। मुक्तिपथ मे सात गीत हैं, जो अधिक नही कहे जा सकते। शक-विजय मे दो ही गीत रह गये है। गीत-योजना की दृष्टि से कमला श्रेष्ठ नाटक है। अन्त मे केवल एक गीत दिया गया है, जो वातावरण और सगीतात्मकता की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

कमला मे भट्टजी ने अस्वाभाविकता और उद्देश्यहीनता को अनुभव किया और अन्त मे केवल एक गीत रखा। वह गीत—सगीत, वातावरण, भाषा की स्वच्छता, राग की तन्मयता से पूर्ण है। उदाहरणतया—

चल तू अपनी राह पथिक चल, तुझको विजय-पराजय से क्या
भँवर उठ रहे सागर में
मेघ घुमडते है अम्बर मे
आँधी औ' तूफान डगर मे
तुझको तो केवल चलना है, चलना ही है फिर हो भय क्या।"[1]

भट्टजी ने अनेक स्थानो पर पात्रो से जल्दी-जल्दी गीत गवाए है। कही-कही प्रथम दृश्य का आरम्भ और अन्त गीतों द्वारा ही होता है। विक्रमादित्य मे पहले अंक के दूसरे दृश्य मे सोमेश्वर डेढ़ पृष्ठ का स्वगत-भाषण करके एक गीत गाता है, और दृश्य के अन्त मे भी अकेला रह जाने पर एक और गीत अलाप देता है। विक्रमादित्य का तीसरा दृश्य भी विक्रमादित्य के गीत से आरम्भ होता है, और कुछ स्वगत-भाषण करने के उपरान्त वही एक गीत पुनः गा देता है, परन्तु दूसरे अंक मे चन्द्रलेखा का गीत—चरित्र, पात्र, स्थिति और अनुरोध की बहुत बडी माँग पूरी करता है। बार-बार गीतों के आने के फल-स्वरूप नाटकीयता मे बाधा पडती है, और साथ ही कथानक की गतिशीलता मे भी बाधा पडती है।

कहीं-कही संयुक्ताक्षरो ने भी गीतो का माधुर्य बिगाड दिया है। पंक्ति के

---

१ 'कमला', पृ० ११५

आरम्भ में स्मय, स्मृति, क्षितिज और विह्वल, निश्चिन्तता, स्वप्न, मत्त आदि शब्द और—

१. तजता ग्रीष्माकुल समुच्छ्वास
२. विश्व में स्वार्थ-सिद्धि सद्भाव

आदि अनेक पंक्तियां लय इत्यादि में विघ्न उत्पन्न करती है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि भट्टजी ने अपने नाटकों में उचित स्थल पर उचित गीतों का समावेश किया है। स्थल और संगति के आधार पर साभिप्राय है। भट्टजी ने संगीतात्मकता और स्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। भट्टजी के गीत पात्रों के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही व्यक्तित्व को स्पष्ट करते है और कहीं-कहीं कथा में अपूर्व संयोग देते हैं। वातावरण का चित्र भी इन्हीं गीतों के द्वारा चित्रित किया गया है। इस प्रकार नाटकीयता की दृष्टि से भट्टजी के गीत अत्यन्त सफल हुए हैं।

प्रस्तुत अध्याय का सार

नाटक में गीतों का ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। कवि-हृदय होने के कारण भट्टजी गीतों के अतिरेक से नहीं बच सके है। परन्तु प्रसादजी की भाँति भट्टजी के गीत अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते है। भावों में सारल्य और भाषा तथा कथानक को सजीवता प्रदान करनेवाले भट्टजी के गीत अनायास ही प्रसादजी के नाटकीय गीतों से अधिक नाटकीय है। भट्टजी के गीत—नाटकों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण में ऐसे सम्बद्ध है कि वे पूर्णरूप से नाटक में ही मिल गए है। गीतों में सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा की जटिलता ने कहीं भी उनकी गति में बाधा नहीं डाली है। पात्रों के तीव्र दुःख-सुख की विभिन्न परिस्थितियों ने गीतों की सृष्टि की है। भट्टजी ने गीतों को यथास्थान व परिस्थिति के अनुकूल रखा है, जो कथा को गतिशील बनाने में सहायक है। सुख-दुःखात्मक भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने गीतों की सर्जना की है।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भट्टजी के नाटको को निम्न वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—

१. राष्ट्रप्रेम या देशभक्ति-सम्बन्धी गीत
२. एकता के प्रचारक गीत
३ विरह-गीत
४. मिलन-गीत
५. प्रणयसूचक-गीत
६. प्रयाण-गीत
७. मन की विवशता के द्योतक
८. चरित्र के प्रकाशक
९. राजनीति सम्बन्धी
१०. दार्शनिक और प्रकृति सम्बन्धी।

संक्षेप में कह सकते है कि भट्टजी ने नाटकों में गीतों का समावेश उचित स्थान पर किया है। भट्टजी के गीत पात्रो के बाह्य व आन्तरिक सघर्ष को व्यक्त करते है। यद्यपि भट्टजी सफल गीतकार कहे जा सकते है, फिर भी गीतों में कुछ त्रुटियाँ अवश्य है कि वे कही-कही पर आवश्यकता से अधिक बड़े हो गए है। आरम्भिक नाटको मे अधिक गीत आ गए है, जो कथा की गति में बाधक होते है।

अन्त मे कहा जा सकता है कि भट्टजी के नाटको मे गीतों का समावेश उचित रूप से हुआ है।

६ | हिन्दी नाटक का विकास

हिन्दी साहित्य में नाटकों का विकास गद्य-साहित्य के कहानी उपान्यास, निबन्ध आदि अन्य रूपों के साथ आधुनिक-काल मे ही हुआ। सस्कृत साहित्य मे नाटकों का विकास बहुत प्राचीन काल में हो चुका था। भास, कालिदास, भवभूति आदि नाटककारों ने सस्कृत मे अनुपम, कलापूर्ण नाटकों की रचना द्वारा नाटकीय क्षेत्र की समृद्धि की। नाटको की विकास-परम्परा हिन्दी को पैतृक सम्पत्ति के रूप में सस्कृत से ही प्राप्त हुई, किन्तु अनेक कारणो से हिन्दी मे नाटको का समुचित विकास भारतेन्दु-काल से पूर्व न हो सका। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी मे जिन नाटकों की रचना हुई, उनका नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्व नही है। इन प्राचीन नाटकों मे प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', बनारसीदास का 'समयसार नाटक', देवकवि का 'देवमाया प्रपच नाटक' और महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' उल्लेखनीय हं। इन प्राचीन नाटको मे नाटकीय नियमों का पालन नही के बराबर है। इस प्रकार कतिपय नाटको के अस्तित्व में भी भारतेन्दु से पूर्व का नाटकीय क्षेत्र प्राय: सूना ही दिखाई देता है। भारतेन्दु के पिता गिरधरदास द्वारा रचित 'नहुप' नाटक हिंदी का पहला नाटक माना जाता है, इसकी रचना सन् १८५६ मे हुई। कुछ विद्वान् महाराज विश्वनाथ द्वारा रचित 'आनन्द रघुनन्दन' को हिंदी का प्रथम नाटक स्वीकार करते है, इसकी रचना सन् १८५० के लगभग मानी जाती है। इन दिनो नाटकों के नाटकीय नियमों का पालन अपेक्षाकृत अच्छा हुआ है। इन दोनों नाटकों में ब्रजभापा को ही स्थान मिला है। सन् १८६३ में राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'शकुन्तला नाटक' का हिन्दी मे अनुवाद किया। मौलिक रचना न होने पर भी राजा लक्ष्मणसिंह के शकुन्तला नाटक ने भावी लेखकों का ध्यान

उत्कृष्ट नाटकों की रचना की ओर आकृष्ट करने मे पर्याप्त सफलता पाई। राजा लक्ष्मणसिंह ने मूल भावो की रक्षा का यथेष्ट प्रयत्न करते हुए सरस, कोमल और परिष्कृत भाषा में यह अनुवाद प्रस्तुत किया।

वस्तुतः हिंदी नाटको का समुचित विकास भारतेन्दु के साहित्य-क्षेत्र मे आने के अनन्तर ही हुआ। भारतेन्दु का समय राष्ट्रीय जागरण का उषाकाल था। उन्होंने जन-जीवन मे नवचेतना के सचार के निमित्त नाटको को एक शक्तिशाली माध्यम के रूप मे अपनाया। तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक अन्ध-विश्वासो, रूढ़ियो, कुरीतियो तथा राजनीतिक शोषण के विरुद्ध और अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रति सजग चेतना उत्पन्न करने के लिए भारतेन्दु तथा उनके समकालीन साहित्यकारो ने जन-जीवन का यथार्थ चित्र जनता की आँखो के सामने प्रस्तुत करने के लिए नाटको की रचना तथा रगमच पर उनके अभिनय की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। भारतेन्दु ने कुल चौदह नाटको की रचना की जिनमे कुछ तो बगला, सस्कृत और प्राकृत से अनूदित है और शेष मौलिक। विद्यासुन्दर का बगला से, मुद्राराक्षस का सस्कृत से और कर्पूर-मंजरी का प्राकृत से अनुवाद किया गया है। मौलिक नाटको मे सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अन्धेर नगरी, विषस्य विषमौषधम्, भारत-जननी आदि प्रमुख है। लेखक ने युग की नवीन विचार-धाराओ तथा समस्याओ को इनमे पर्याप्त स्थान दिया है। इन नाटको मे देश और समाज की तत्कालीन दशा के यथार्थ चित्र अंकित किए गये है। देश-प्रेम, स्त्री-शिक्षा, धार्मिक तथा सामाजिक कुप्रथाओं से सम्बन्धित विविध विषयो को लेकर भारतेन्दु ने अपने नाटको की रचना की है। देशभक्ति और समाज-सुधार के अतिरिक्त भारतेन्दु ने पौराणिक और ऐतिहासिक विषयो को लेकर भी नाटको की रचना की। सत्य हरिश्चन्द्र एक पौराणिक नाटक है और नीलदेवी का कथानक ऐतिहासिक आधार को लिये हुए है। भारत-दुर्दशा और अन्धेर नगरी मे तत्कालीन राजनीतिक दशा के चित्रण के साथ-साथ जाति वर्णगत भेदभाव, बाल-विवाह, बहु-विवाह-विरोध, बहु-देवोपासना आदि सामाजिक तथा धार्मिक कुप्रथाओ के भी सजीव चित्र अंकित किए गए है।

चन्द्रावली नाटिका में भारतेन्दु के हृदय की कृष्ण-भक्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। शृङ्गार और भक्ति का सुन्दर सम्मिश्रण इस नाटिका में दृष्टिगत होता है। वैदिकी हिंसा में मांस-भक्षियों पर तथा अन्धेर नगरी में आधुनिक नरेशों के राजनीतिक जीवन पर चुभता हुआ व्यंग्य किया गया है।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में मुख्यतया संस्कृत-नाटकों की शैली का ही अनुसरण किया है। संस्कृत के नाटकों का आरम्भ 'नान्दीपाठ' से और अन्त 'भरत-वाक्य' से होता था। भारतेन्दु ने अपने प्रारम्भिक नाटकों में नान्दी और भरत वाक्य दोनों को स्थान दिया है। कुछ नाटकों में अंकावतार और विष्कम्भक की योजना भी की गई है। संस्कृत के नाटकों का-सा स्वगत भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी भारतेन्दु के नाटकों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार नाटकों की परम्परागत शैली को अपनाते हुए भी भारतेन्दु अपने समय के एक सजग कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके नाटक युगचेतना से पूर्णतया अनुप्राणित हैं। देश की आशा-आकांक्षाओं एवं विविध सामाजिक समस्याओं को उन्होंने अच्छी तरह मुखरित किया है। उनके समय में पारसी कम्पनियाँ विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से आदर्शहीन नाटकों का अभिनय करके जनता के हृदय में असांस्कृतिक कुरुचि बढ़ा रही थीं। भारतेन्दु, पारसी कम्पनियों की इस प्रवृत्ति के बुरे परिणाम के प्रति जागरूक थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों की रचना द्वारा जनता की रुचि परिष्कार करने का भी प्रयत्न किया। नाट्यकला की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों में अनेक त्रुटियाँ भी विद्यमान हैं, किन्तु नाटकों के विकास की प्रारम्भिक परिस्थितियों में इन त्रुटियों की उपेक्षा की जा सकती है। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण में उनके नाटकों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भारतेन्दु ने केवल नाटक रचना ही नहीं की अपितु नाटकों को रंगमंच पर लाने का भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। भारतेन्दु-नाटक-मण्डली की स्थापना द्वारा नाटकों के अभिनय की व्यवस्था करके हिन्दी नाटकों को लोकप्रिय बनाने में उन्होंने पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

भारतेन्दु के समय में अन्य लेखकों ने भी हिंदी में नाटक रचना की ओर ध्यान दिया। भारतेन्दु ने जिन विषयों को लेकर नाटक लिखना आरम्भ किया

था, उन सभी विषयो पर उस काल के लेखको ने नाटक लिखने का प्रयत्न किया। पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक आदि सभी प्रकार के नाटक इस युग मे लिखे गये। भारतेन्दु के समकालीन नाटककारो मे श्रीनिवासदास, देवकीनन्दन त्रिपाठी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र आदि उल्लेखनीय है। श्रीनिवासदास ने तप्ता-संवरण, प्रह्लाद चरित्र, रणधीर, प्रेममोहिनी और सयोगिता-स्वयवर की रचना की। देवकीनन्दन त्रिपाठी के सीताहरण, रुक्मिणीहरण, रामलीला, कस-वध जैसे पौराणिक नाटक प्रसिद्ध हैं। काशीनाथ खत्री ने ऐतिहासिक कथानक को लेकर सिन्धुदेश की राजकुमारियाँ और लवजी का स्वप्न जैसे नाटको और सामाजिक विषयो को लेकर बाल-विधवा-सन्ताप और विधवा-विवाह जैसे नाटको की रचना की। राधाकृष्णदास ने दु खिनीबाला, पद्मावती और महाराणा प्रताप नाटक लिखे। बालकृष्ण भट्ट के बाल-विवाह और चन्द्रसेन तथा अम्बिकादत्त व्यास के गो-सकट और भारत-सौभाग्य नाटक विशेष महत्त्व रखते है। राधाचरण गोस्वामी ने सुदामा, सती चन्द्रावली, अमरसिंह राठौर आदि नाटक लिखे। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के प्रयाग रामगमन, भरत-सौभाग्य और वीरागना-रहस्य ये तीन नाटक प्रसिद्ध है। प्रतापनारायण मिश्र ने संगीत-शाकुन्तल, भारत-दुर्दशा और कलि-कौतुक आदि नाटको की रचना की। इस प्रकार भारतेन्दु-काल मे अनेक नाटकों की रचना हुई, पर उनमे कला का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर नही होता। इन नाटको के अस्तित्व से भी भारतेन्दु-काल में उच्चकोटि के नाटकों की कमी बनी ही रही। इन नाटको मे अनेक दोष विद्यमान है। इनकी भाषा अधिक परिष्कृत और प्रौढ नही है। कतिपय लेखको ने ब्रजभाषा के शब्दो और ग्रामीण प्रयोगो को भी अपने नाटको मे स्थान दिया है। अनेक नाटको मे कथावस्तु के विकास मे स्वाभाविकता नही दिखाई देती है। चरित्र-चित्रण की ओर भी इस काल के लेखकों का ध्यान कम गया है। विविध पात्रो के व्यक्तित्व को उभारने मे वे सफल नही हुए है। काव्यतत्त्व की प्रचुरता इस काल के प्राय: सभी नाटकों मे

पाई जाती है। इस प्रकार भारतेन्दु काल के नाटकों मे अनेक त्रुटियाँ पाई जाती है, पर उनके अस्तित्व मे इन सभी नाटको का ऐतिहासिक महत्व अस्वीकार नही किया जा सकता।

भारतेन्दु काल के अनन्तर मौलिक नाटको की रचना कुछ समय तक अधिक बल न पकड सकी। मौलिक नाटक लिखने की ओर बहुत कम लेखको का ध्यान गया। कुछ लेखकों ने सस्कृत, बगला आदि से नाटको का अनुवाद करना उचित समझा। राजा लक्ष्मणसिंह पहले ही सस्कृत के शकुन्तला नाटक का सुन्दर अनुवाद कर चुके थे। अब लाला सीताराम बी० ए० ने मृच्छकटिक तथा कविरत्न सत्यनारायण ने मालती-माधव और उत्तर-रामचरित का अनुवाद प्रस्तुत किया। श्री रामकृष्ण वर्मा ने बंगला के वीर-नारी, कृष्णाकुमारी और पद्मावती जैसे नाटकों का अनुवाद किया। तदनन्तर बंगला के अनेक उच्चकोटि के नाटको का अनुवाद करके हिन्दी नाटक-साहित्य को समृद्ध करने का सबसे अधिक श्रेय रूपनारायण पाण्डेय को है। उन्होंने बंगला के प्रायः सभी प्रमुख नाटककारो के नाटको के अनुवाद प्रस्तुत किए। इन अनूदित नाटकों मे द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए। अंग्रेजी नाटको के अनुवाद की ओर भी कुछ लेखकों ने ध्यान दिया। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद पुरोहित गोपीनाथ तथा मथुराप्रसाद चौधरी ने प्रस्तुत किए। इन अनूदित नाटको की धारा के साथ-साथ पारसी नाटक कम्पनियो के लिए लिखे गये नाटकों की धारा भी उस समय मे प्रवाहित हुई। नारायण प्रसाद 'बेताब', राधेश्याम 'कथावाचक' और हरिकृष्ण 'जौहर' ऐसे नाटक लिखनेवालों मे प्रमुख है। इन नाटककारो ने विभिन्न कम्पनियो की माँग के अनुरूप अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एव प्रेमप्रधान काल्पनिक नाटक लिखे किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इन नाटको का कोई महत्त्व नही है। राधेश्याम 'कथावाचक' के 'वीर अभिमन्यु' जैसे कतिपय नाटको को छोडकर इस धारा के प्रायः सभी नाटक जनता की कुरुचि एव वासनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने मे सहायक सिद्ध होते है। उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों मे उनको स्थान नहीं दिया जा सकता। भारतेन्दु-युग के पश्चात् कुछ वर्षों तक अनूदित

नाटकों तथा पारसी कम्पनियों की दूषित मनोवृत्ति के अनुकूल मनोरंजन-प्रधान नाटकों की धूम मची रही। उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों का समुचित विकास इस काल में सम्भव न हुआ। इस काल के नाटककारों में केवल बदरीनाथ भट्ट ही ऐसे नाटककार है, जिनके नाटक उत्कृष्ट नाटकों में स्थान पा सकते है। भट्टजी के कुरुवनदहन, चन्द्रगुप्त, तुलसीदास और दुर्गावती, ये चार नाटक प्रसिद्ध है। कथानक के विकास, कथोपकथन की सजीवता, चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और रंगमंच की उपयोगिता की दृष्टि से भट्टजी के नाटक पूर्णतया सफल कहे जा सकते हैं। उनमें नाटक-कला का सुन्दर रूप वर्तमान है।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी-नाटकों का पुनरुत्थान जयशंकर प्रसाद की लेखनी से हुआ। भारतेन्दु काल हिन्दी-नाटकों का शैशव काल था, किन्तु प्रसादजी का समय उनका यौवन-काल सिद्ध हुआ। प्रसाद ने राज्यश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना द्वारा नाटकों के स्तर को ऊपर उठाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। प्रसादजी भारतीय-संस्कृति और सभ्यता के परम उपासक थे। उन्होंने अपने नाटकों के कथानक भारतीय इतिहास के स्वर्णमय अतीत से लिये है। भारतीय इतिहास के अन्तस में प्रवेश करके प्रसादजी ने भारतीय-संस्कृति की विभूतियों पर परमोज्ज्वल प्रकाश डाला है। उन्होंने अपनी अन्वेषिणी प्रतिभा और भावुकतामयी कल्पना द्वारा महाभारत-काल से लेकर हर्षवर्द्धन तक के इतिहास के धुंधले पृष्ठों पर प्रकाश डालते हुए इस युग में बिखरी हुई भारतीय-संस्कृति के हृदयग्राही सजीव चित्र अंकित किए है। उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का सुन्दर सामंजस्य वर्तमान है। उनमें ऐतिहासिक तत्त्वों की रक्षा भलीभांति हुई है। इतिहास की विशृंखल कड़ियों को जोड़ने के लिए प्रसादजी ने कल्पना का भी प्रयोग किया है और यत्र-तत्र कल्पित पात्रों एवं घटनाओं को भी अपने नाटकों में स्थान दिया है, पर इन कल्पित पात्रों तथा घटनाओं की योजना से ऐतिहासिक तत्त्वों को कहीं भी आघात नहीं पहुँचने पाया है। प्रसादजी के नाटकों के कथानक ओजपूर्ण है और नाटकीय वेग को लिए हुए हैं। चरित्र-चित्रण

स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है; विशेषकर स्त्री पात्रों के चरित्रांकन मे उनको आशातीत सफलता मिली है। उनके पात्रों के चरित्र मे अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति सुन्दर ढग से हुई है। अपने पात्रों के हृदय का मन्थन करके प्रसादजी ने उनकी विविध मनोदशाओ की व्यजना मनोवैज्ञानिक ढग से की है। भावपूर्ण गीतो का प्रयोग उन्होने समय और परिस्थिति के अनुसार सफलतापूर्वक किया है। उनके नाटको मे प्राचीन भारतीय शैली और नवीन पाश्चात्य शैली का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। उनके नाटको का आरम्भ पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार सघर्ष से हुआ है, किन्तु उनका अन्त भारतीय परिपाटी के अनुसार शान्ति मे दिखाया गया है। भारतीय नाट्यकला के अनुसार प्रसाद के नाटको मे रस को प्रमुख स्थान मिला है, किन्तु साथ ही उसमे पाश्चात्य नाटको की तरह चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व को भी पर्याप्त मात्रा मे स्थान मिला है। प्रसादजी मूलतः कवि और दार्शनिक है। इसलिए उनके नाटकों मे भी कवित्व और दार्शनिकता का प्रचुर परिमाण मे समावेश दृष्टिगत होता है। पात्रो के संवादों तथा स्वगत-भाषणो मे यत्र-तत्र दार्शनिकता और कवित्व की गहरी छाप दिखाई देती है। उनके नाटक आदर्श प्रेम और सौन्दर्य की भावना से ओत-प्रोत है। उन्होंने सौन्दर्य और प्रेम के जो चित्र अंकित किए है, वे मादक एवं वासनामय नही; अपितु पावन, गम्भीर और त्यागपूर्ण है। उनके नाटको मे शृगार और वीर मे सुन्दर सामजस्य दिखाई देता है। उनमें वीरता, प्रेम से प्रेरणा पाकर मनोरम रूप धारण कर लेती है, प्रसाद के नाटकों का अभिनय सरलता से नही किया जा सकता। भाषा-शैली की दुरूहता, घटना-विस्तार लम्बे, दार्शनिक विचार, भाषण विस्तृत और जटिल दृश्यों की अवतारणा, स्वगत कथनो की अनुपयुक्तता आदि अनेक बाते उनके नाटको की अभिनेयता मे बाधक सिद्ध होती है। वस्तुतः प्रसाद ने अपने नाटको की रचना साधारण दर्शकों और साधारण रगमच की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर नही की है, अपितु परिष्कृत रुचि-सम्पन्न शिक्षित दर्शको के समक्ष विकसित रंगमच पर उनका अभिनय सफलता के साथ किया जा सकता है। इस प्रकार प्रसादजी के नाटको मे नाट्यकला का निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है।

हिन्दी नाटको के इतिहास मे उनके नाटको का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रसाद के पश्चात् हिन्दी मे नाटको की रचना निरन्तर होती रही। उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक नाटककारो ने अपनी कृतियो द्वारा हिन्दी नाटक-साहित्य को समृद्ध बनाने मे योग दिया। ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक कथानकों को लेकर हिन्दी मे अनेक नाटको की सृष्टि हुई। प्रसाद के पश्चात् ऐतिहासिक नाटककारो मे हरिकृष्ण 'प्रेमी' का प्रमुख स्थान है। उन्होंने रक्षाबन्धन, शिवसाधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्नभग, विषपान आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटक लिखे है। पाताल-विजय उनका पौराणिक नाटक है और बन्धन तथा छाया ये दो सामाजिक है। प्रेमीजी ने भारतीय इतिहास के मुस्लिम-युग को अपने ऐतिहासिक नाटको का विषय बनाया है। उनके नाटक हिन्दू-मुस्लिम एकता का सदेश देते है। प्रेमीजी के नाटको मे साहित्यिकता और रगमच का सुन्दर सामजस्य दिखाई देता है। उनके प्राय सभी नाटक संस्कृत की नाट्य-परम्परा से मुक्त है। प्रस्तावना, नान्दीपाठ और भरत-वाक्य का उनमे अभाव है। उनकी वस्तु-योजना पाश्चात्य नाट्यकला के अनुसार अको और दृश्यों मे हुई है। दृश्यविधान मे रंगमच की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है। अको और दृश्यो की योजना मे घटना-कार्य और प्रभाव की एकता का निर्वाह सुन्दर ढग से हुआ है। स्वगत-कथन का प्रयोग उनके नाटको मे अत्यन्त कम मात्रा मे हुआ, है और उनमे अस्वाभाविकता नही आने पाई है। चरित्र चित्रण मे प्रसादजी की तरह पात्रों के आन्तरिक भावों तथा अन्तर्द्वन्द्व के विश्लेषण की ओर प्रेमीजी का ध्यान नही गया है, परन्तु पात्रो की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति मे उनको अच्छी सफलता मिली है। उनके नाटको की भाषा सजीव, प्रवाहमयी और प्रसगानुकूल है। मुहावरों का सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग उनके नाटको मे पाया जाता है। सवादो मे सजीवता और नाटकीय वेग विद्यमान है।

हिन्दी के आधुनिक नाटककारो मे गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। पन्त ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक तीनो प्रकार के

नाटक लिखे है। राजमुकट और अन्त:पुर का छिद्र ऐतिहासिक नाटक है। वरमाला और ययाति की गणना पौराणिक नाटको मे की जाती है। अगूर की बेटी पतजी का सामाजिक नाटक है। उनके नाटकों मे भी भारतीय और पाश्चात्य कला का सामजस्य प्रस्तुत किया गया है। पंतजी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको पर संस्कृत नाट्यकला का विशेष प्रभाव पड़ा है, किन्तु सामाजिक नाटक पाश्चात्य नाट्यकला से अधिक प्रभावित है। उनके अधिकाश नाटको मे संस्कृत के नाटको की भाँति नान्दीपाठ, भरत-वाक्य और स्वगत-कथन को स्थान दिया गया है। कथावस्तु की योजना उनके प्राय: सभी नाटकों मे पाश्चात्य शैली के अनुसार हुई है; पर चरित्र-चित्रण मे अन्तर्द्वन्द्व का प्राय: अभाव ही दिखाई देता है। उनके नाटको मे रंगमंचोपयोगिता अधिक है। पंत की कला मे सरलता और स्वाभाविकता वर्तमान है। उनके नाटकों मे दर्शको के हृदय मे कौतूहल और जिज्ञासा की सृष्टि करने की अद्भुत क्षमता है। उनकी नाट्यकला मे कथावस्तु और चरित्र सभी मे रहस्य ग्रन्थी का समावेश दिखाई देता है। रहस्यमयता उनकी कला की निजी विशेषता है। सवादों मे सजीवता और नाटकीयता पाई जाती है। उनकी भाषा संयत, सरल और प्रवाहमयी है। सस्कृत की तत्सम पदावली का प्रयोग पतजी ने प्रचुर मात्रा में किया है, पर भाषा मे क्लिष्टता नही आने पाई है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने मुख्यतया समस्या-प्रधान नाटको की रचना की है। मिश्रजी के सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, आधीरात, अशोक, वत्सराज आदि अनेक नाटक उल्लेखनीय है। उन्होने सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है। उन्होने अतीत के आदर्श को नही, वर्तमान के यथार्थ को अपनाया है। उन्होने सामाजिक और राजनीतिक विषयो को समस्या का रूप देकर अपने नाटकों मे स्थान दिया है। उनकी नाट्कला पर पाश्चात्य का गहरा प्रभाव है। उन्होंने इब्सन और बर्नाडशॉ जैसे पाश्चात्य नाटककारों की शिल्पविधि को अपनाया है। पाश्चात्य नाटककारों की रचनाओं की तरह मिश्रजी के नाटकों मे तीन अक पाये जाते है। गीतो का प्राय: उनमे

अभाव ही है। उनकी सभी घटनाएँ एक ही स्थान से सम्बन्ध रखती हैं। उनके संवादों में नाटकीय वेग और प्रवाह वर्तमान है। समस्त नाटककारों में मिश्रजी का स्थान सर्वोपरि है।

उदयशंकर भट्ट आधुनिक प्रभृति नाटककारों में से हैं। उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की। भट्टजी की नाटकीय प्रतिभा का विवेचन प्रस्तुत अध्याय के अगले खण्ड में किया जायेगा।

नाटककार गोविन्ददास का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कर्त्तव्य, विकास, हर्ष, कुलीनता, सेवापथ, दुःख क्यों, दलित कुसुम आदि अनेक नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों का क्षेत्र बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। उन्होंने ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक विषयों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। पूर्ण नाटक, एकांकी भावनाट्य, गीतिनाट्य आदि नाटक के विविध रूपों का सफलता के साथ प्रयोग किया गया है। जीवन के यथासाध्य, यथार्थ और स्वाभाविक चित्र उनके नाटकों में चित्रित हैं। उनकी नाट्यकला में स्वाभाविकता है। उनके नाटकों का रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय हो सकता है। कथावस्तु की योजना और विकास स्वाभाविक व चतुराई के साथ किया गया है। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का द्वन्द्व उनमें पाया जाता है। पात्रों के चरित्र की विशेषताओं की अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है। सेठजी की भाषा, पात्रों की शिक्षा, संस्कृति आदि के अनुरूप बदलती हुई दिखाई देती है। उनके कथोपकथन सजीव और रोचक हैं। एकांकी नाटकों की रचना में सेठजी को पर्याप्त सफलता मिली है। सप्त-रश्मि, एकादशी आदि आपके अनेक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी जय-पराजय, स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, कैद, उड़ान आदि अनेक पूर्ण नाटक तथा लक्ष्मी का स्वागत, अधिकार का रक्षक, पापी, वेश्या, तौलिये आदि एकांकी नाटकों की रचना की है। उनके अधिकांश नाटक सामाजिक विषय को लेकर लिखे गये हैं। उनके प्रायः सभी नाटकों में कार्य-व्यापार की गतिशीलता और घटनाओं की आकस्मिकता विद्यमान है। वे दर्शकों के हृदय में कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। अश्कजी

की नाट्यकला पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हास्य और व्यंग्य की अवतारणा उनके नाटकों मे सुन्दर ढंग से हुई है।

उपर्युक्त नाटककारो के अतिरिक्त हिन्दी मे अन्य कई नाटककार दिखाई देते है जिनमे रामकुमार वर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव, विष्णु प्रभाकर, पृथ्वीनाथ शर्मा के नाम उल्लेखनीय है। पूर्ण नाटको के साथ-साथ एकाकी नाटको का भी आधुनिक युग मे विकास हो रहा है। एकाकी नाटको के क्षेत्र मे एकपात्री नाटक, रेडियो नाटक, छाया नाटक आदि अनेक शैलियो का प्रयोग चल रहा है। इस प्रकार हिन्दी मे नाटक-साहित्य उन्नति के पथ पर आगे बढ रहा है। नाटको की वर्तमान प्रगति को देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है।

भट्टजी का स्थान

हिन्दी-नाट्य साहित्य मे भट्टजी का विशिष्ट स्थान है। उनका नाट्य-साहित्य अत्यन्त उच्चकोटि का और महत्वपूर्ण है। उन्होने प्रसादजी की भाँति कवि की आत्मा पाई है जो उनके नाटको मे यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुई है। भट्टजी के नाटकों का विषय-क्षेत्र पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक रहा है। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको के द्वारा उन्होने भारतीय जनता को देश प्रेम, सगठन, एकता, उदाराशयता, मानवता, त्याग, विवेक, शौर्य, सस्कार, आत्मबल दिया है। ऐतिहासिक कथाओ के माध्यम से वर्तमान जीवन की व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ से सघर्ष की प्रेरणा का चित्रण है। सामाजिक नाटको मे समाज मे उत्पन्न नवीन समस्याओ और उनसे सघर्ष की नई भावनाओं, जीवन की जटिलताओ, मानव के व्यक्ति और समाजगत सघर्षों का चित्रण है। उनके पौराणिक नाटको मे अम्बा और सगर-विजय का प्रमुख स्थान है। अम्बा मे भीष्म पर लुब्ध काशीराज की कन्या अम्बा का कथानक है। इसमे अपमानित नारी के क्षुब्ध हृदय की फुफकार, प्रतिहिंसा तथा करुणा आदि प्रवृत्तियो का अत्यधिक मार्मिक वर्णन हुआ है। सगर-विजय भी प्राचीन पौराणिक कथा पर आधारित है।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटको मे दाहर अथवा सिन्ध-पतन, विक्रमादित्य, मुक्तिदूत और शक-विजय का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि भट्टजी के अनेक नाटक इतिहास, प्रसिद्ध चरित्रों के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओ पर आधारित है, किन्तु अधिकाश नाटक अप्रसिद्ध घटनाओ और चरित्रों पर आधारित है। प्रसाद आदि नाटककारों ने भारतीय सस्कृति और जीवन के गौरव को उद्घाटित करनेवाली कथाओ को ही अधिकतर अपने नाटको का प्रतिपाद्य बनाया है, परन्तु भट्टजी ने उन कथाओं को अपने नाटको का प्रतिपाद्य चुना है, जो राष्ट्रीय पतन के मूल कारणो पर प्रकाश डालता है। दाहर की कथा सिन्ध-पतन की इतिहास-विश्रुत घटना है, जिसमे भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के पारस्परिक द्वन्द्व तथा वैवाहिक प्रत्याघातो का चित्रण है। यह वीररस प्रधान दुःखान्त नाटक है। मुक्ति-पथ की कथा सरल है, जिसका सबध बुद्ध के जीवन से है। शक-विजय की मुख्य घटना अवन्ती के राजा गन्धर्वसेन द्वारा सरस्वती साध्वी के अपहरण से सम्बन्ध रखती है। उनके ऐतिहासिक नाटको मे धार्मिक सघर्षों का विशेष चित्रण है तो कमला, अन्तहीन अन्त, नया समाज, पार्वती आदि सामाजिक नाटको मे लेखक ने मध्यवर्गीय परिवार के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। कमला मे किसान-आन्दोलन तथा सामाजिक विषमता का मार्मिक चित्र अकित किया गया है।

भट्टजी ने सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक सामग्री को कथानक का रूप देकर एकांकी नाटको की रचना की जिनमे से कुछ सुखान्त है और कुछ दु.खान्त। इन्हीं एकाकियों मे 'जवानी' शीर्षक एक नाट्यरूपक भी है। इसके विविध पात्र विविध अपदार्थ जगत् के तत्त्वो के रूपक है। 'आगन्तुक' विचार का रूपक है, 'स्त्री' स्मृति का रूपक और 'युवती' जवानी का रूपक है। इस प्रकार के एकांकी हिन्दी को भट्टजी की प्रथमदेन हैं।

भट्टजी का नाट्य-साहित्य भावगत और शैलीगत दोनो ही दृष्टियों से सफल है। नाट्यशिल्प मे भारतीय और पाश्चात्य दोनो शैलियों का समन्वय किया है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य सभी दृष्टियो से

उनके नाटक उत्कृष्ट हैं। भट्टजी की नाट्यकला बहुत मँजी हुई है। प्रसादजी के पश्चात् उन्होने ही नाट्यकला को बडी सावधानी और कुशलता से आगे बढाया है। उनके नाटकों पर काव्यमय व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। उनकी कला का पूर्ण विकास उनके पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों मे मिलता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों मे—

"पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वह ऐसे पात्र खोज कर लाए है, जिनके चारो ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बडी गहरी छाया डालती हुई आती है। ऐसी विषमताएँ जो वर्तमान समाज को भी क्षुब्ध करती है।"[1]

यही बात उनके ऐतिहासिक कथानकों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। उन्होने अपने आस-पास के जीवन से जिस प्रकार के वस्तु सगठन का संविधान किया है, उनमें भी एक व्यथा है। वही व्यथा उनके नाटकों की व्याख्या है। अपने नाटकों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे कहते है—

"वस्तुतः नाटक चरित्र का परिवर्तनशील एव क्रियात्मक अभिव्यक्तिकरण है। घटना, संवाद, गीत उनके साधन है, साध्य नहीं। घटना-वैचित्र्य जो नाटक को रोचक बना सकता है, स्वय नाटक नही है। इसी प्रकार संवाद से पात्रों का रूप निखरता है, सवाद स्वय नाटक नही है, नाटक तो केवल पात्र है।'

उन्होने अपने नाटकों मे इसी दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है: उनके नाटकों मे उनकी प्रतिभा दुःखान्त और वियोगान्त की ओर ही अधिक झुकी है। इस सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है।"

भट्टजी ने शैली की प्राचीनता के जर्जर कण को उच्छिन्न कर पाश्चात्य टैकनीक में मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं को अभिव्यक्त किया है। उनकी आरम्भिक रचनाओं में जीवन के दुःख और विषाद, वेदना और अश्रु-सिक्त भावपक्ष को ही वाणी मिल सकी किन्तु बाद की रचनाओं में कलाकार यथार्थ जीवन के चित्रों का अंकन करता है। इस प्रकार यशस्वी कलाकार की

---

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६६६

कला प्राचीन और अर्वाचीन दोनो छोरो का स्पर्श करती है। एक ओर वह, वैवस्वत मनु को भारतीय आर्य-सभ्यता का प्रतिनिधि मानकर वर्णन करते हैं; दूसरी ओर आधुनिक जीवन के कुकर्मों पर भी प्रकाश डालते है। भट्टजी की आदर्शवादिता कल्पना के स्वर्णिम पंखो पर भ्रमण कर लोक और जीवन की वृत्तियों से परे देव-चरित्रो की उद्भावना नही करती है, वरन् उस आदर्श का व्यावहारिक और उपयोगी पक्ष भी है। वह आदर्श अस्वाभाविक चरित्रो का सृजन न करके जन-जीवनमय नवभावनाओं का उन्मेष करता है। उन्होंने सामन्ती युग की खोज कर अपनी कल्पना के द्वारा परिस्थितियो का निर्माण किया और तत्कालीन युग के प्रतिनिधि व्यक्तियो को लेकर अपने नाटको की कथावस्तु का आधार बनाया। उनके नाटको मे तिक्त व्यंग्य समाज की स्थिति का परिष्कार करने मे सहायक होता है। अतः भट्टजी के एकांकियों की भाषा मुहावरेदार, प्रवाहयुक्त तथा व्यंग्यात्मक है। उनके एकांकियो के सवाद प्रायः कथा के विकास मे सहायक होते हे, तथा चरित्र को स्पष्ट करने की क्षमता रखते हे। इसके अतिरिक्त वे सजीव, सशक्त, पात्रानुकूल, अवसरानुकूल, सरल तथा स्वाभाविक हैं।

भट्टजी ने अपनी प्रतिभा, कल्पना एव भाषा के द्वारा नाटको मे नया परिवर्तन किया है। यद्यपि भट्टजी से पूर्व प्रसाद ही ऐसे नाटककार थे जिन्होने चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु जैसे मौलिक नाटक देकर नाटकीय क्षेत्र को समृद्ध बनाया। भट्टजी के नाटक विकसित कला की एक देन है। अपने नाटको के सम्बन्ध में भट्टजी की सम्मति इस प्रकार है—

"कुछ आलोचकों का मत है कि आधुनिक नाटककार प्रसाद की नाटक-मर्यादा से आगे नही बढा है। प्रसादजी ने नाटकीय उत्कृष्टता की जो सीमा-रेखा बाँध दी है वह अभी तक वहीं है······किन्तु जैसे काव्य का क्षेत्र उनके बाद अपनी दिशा में निरपेक्ष होकर आगे बढ़ा है, उसी तरह नाटक भी प्रसाद के माइल-स्टोन से कहीं आगे बढ गया है······मेरा नाटक साहित्य स्वयं अपनी एक दिशा है, एक प्रकाश है जो अपने पात्रों के जीवन में आलोकित है।"[१]

१. 'विद्रोहिणी अम्बा', पृ० १५

इससे प्रतीत होता है कि जीवन का भट्टजी को अत्यधिक अनुभव है। यही कारण है कि उन्होने जीवन की उलझनो को सुलझाने का अधिक प्रयत्न किया है। उन्होने जन-जीवन के संघर्षों, राष्ट्रीय जागरण तथा सामाजिक गतिविधि को मुखरित करने में सतत प्रयत्न किया है। उनका नाट्यसाहित्य समाज को समुन्नत करने की ओर एक प्रयोग है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—

"वे प्राचीन सस्कारो का आदर्श लेकर नवीन यथार्थ के प्रति चिर जागरूक रहे है। उनमे मानव के प्रति सहज निष्ठा, जीवन के प्रति सच्चा अनुराग और इस निष्ठा और अनुराग को मूर्त रूप देने की लगन है.... 'आपकी कला कला के लिए नही वरन् जीवन के विकास और परिष्कार के लिए है। संकेतात्मकता तथा प्रतीक आपकी शैली की विशेषताएँ है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के ऐतिहासिक-पौराणिक नाटको की परम्परा भारतेन्दुजी से आरम्भ होती है। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए, भविष्य के उज्ज्वल निर्माण के लिए, भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए, देश के गौरवमय अतीत का चित्रण हुआ। परन्तु भारतेन्दुकालीन नाटको मे कलात्मकता का अभाव था और उनमे न तो पर्याप्त नाटकीय तथ्य ही थे, न रंगमचीयता ही। प्रसादजी ने कलात्मकता लाने का सफल प्रयास किया है, किन्तु वे उन्हें पूर्णतः रंगमच के अनुकूल न बना सके। कवित्व आदि के भार से लदे उनके नाटक वर्ग विशेष तक ही सीमित रह गए। वर्तमान नाटककारो मे प्रेमीजी, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, अश्क, मिश्रजी आदि की अपेक्षाकृत भट्टजी के नाटक एवं एकांकी रंगमंच और नाटकीय तत्त्वो की दृष्टि से अधिक सफल हैं। उन्होंने रगमच का पूर्णतः ध्यान रखा है। कार्य-व्यापार एव वातावरण सम्बन्धी समुचित दृश्यावली का प्रयोग किया है।

भट्टजी के नाटको की सबसे बडी विशेषता है कि वे जन-साधारण का प्रतिनिधित्व भी करते है और साहित्यिक तत्त्वो का सरक्षण भी। नाटक

---

१. 'पर्दे के पीछे', भूमिका, पृ० ७

साधारण समाज की वस्तु है। इस दृष्टि से जन-नाटक लिखनेवाले भट्टजी अपने नाटको की विषय-वस्तु और उसकी टेकनीक दोनों मे ही अपना निश्चित आदर्श, अपनी निश्चित मान्यताएँ लेकर चले है।

लोकप्रियता की दृष्टि से भी भट्टजी का स्थान सर्वोच्च है। संस्थाओ, रेडियो-स्टेशनो आदि के द्वारा जितने भट्टजी के नाटक रगमंच पर अभिनीत किये गए है, उतने कदाचित् अन्य नाटककारो के नही।

भट्टजी के सामाजिक नाटको और एकाकियों मे द्वन्द्व की प्रधानता है। कमला, पार्वती, अन्तहीन अन्त और नया-समाज आदि सामाजिक नाटकों मे समाज और परिवार से सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द्व का संघर्ष है। बाह्य द्वन्द्व के साथ आन्तरिक द्वन्द्व उनकी नाट्य कुशलता का ही परिचायक है। उनकी शैली की सबसे बडी विशेषता है कि वे नाटको के आरम्भ से लेकर अन्त तक अपने प्रभाव की ओर सचेत रहे है। उनके नाटकों मे चाहे आदर्श की सृष्टि की गई हो चाहे अनेक समस्याएँ उठाई गई हो, भट्टजी निरन्तर प्रभाव की समष्टि की ओर जागरूक रहे हैं। सम्पूर्ण नाटक अन्त मे विशेष प्रभाव छोड जाता है। विचारों की विशृंखलता उनके नाटकों मे नही है। उनका एक निर्धारित लक्ष्य है, जिससे भट्टजी रचमात्र भी विचलित नही होते। यही उनकी कला का सबसे अधिक शक्तिशाली कौशल है।

शैली की दृष्टि से भट्टजी की रचनाएँ विचारात्मक और भावात्मक है। अपने भाव-नाट्य और गीति-नाट्यो मे उन्होने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली में उनके वाक्य प्रवाहपूर्ण और छोटे होते है। उनका वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुलझा हुआ, स्पष्ट और भाव-व्यजक होता है। उसमे भावो की दुरूहता के साथ-साथ एक प्रकार की तन्मयता भी रहती है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इस भाँति उनकी भावात्मक शैली मे अद्भुत प्रवाह और वेग रहता है। गागर मे सागर भरना उनकी शैली की परम विशेपता है। लम्बे सवादो मे उनकी शैली का रूप विचारात्मक है। इस शैली मे उनके वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बडे हो गए है, पर उनमें भाषा की प्राजलता और स्वाभाविकता बराबर बनी रहती है।

संक्षेप मे भट्टजी के नाटकों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है—

१. भट्टजी के नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक है।

२. प्रसाद आदि की भाँति उनके नाटक आलंकारिक बोझ से युक्त नही है।

३. उन्होने तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का निर्माण किया है, जिसके फलस्वरूप उनके नाटकों मे एक भावरचना और सम्पन्नता है।

४. ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों मे इतिहास और पुराण का बन्धन स्वीकार करते हुए भी अनैतिहासिक पात्रो की योजना की है, जो सजीव और व्यक्तित्व सम्पन्न है। चरित्रो की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। सभी पात्र अपना अलग व्यक्तित्व रखते है। देश तथा कालानुसार पात्रों का प्रयोग किया गया है।

५. तत्कालीन युगो की सामाजिक, सांस्कृतिक धाराओ के साथ उनके नाटको मे वर्तमान और भविष्य की छाया है।

६. नाटको मे एक कथा-प्रवाह है। भट्टजी के नाटक रंगमंच की यथार्थ-वादी पद्धति का अनुसरण करते है।

७. दुःखान्त, सुखान्त और प्रसादान्त शैली मे रचे गए है।

८. प्रेममूलक अभिव्यक्ति के लिए नारी-चरित्रो का निर्माण किया है।

९. उनके नाटकों के नायक भारतीय आदर्शवादी परम्परा के प्रतीक है।

१०. शैली और वस्तु, दोनो मे काव्यात्मकता है।

११. नारी की आदर्श कल्पना के अतिरिक्त उसकी आकर्षक और विकर्षक, रमणीक और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत करते है। अधिकांश नारियाँ इतिहास-प्रसिद्ध है। पुरुषो की भाँति नारी भी वर्गगत प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर आई है।

१२. वातावरण की सृष्टि सजीव रूप मे की गई है। भट्टजी के नाटको का दृश्यविधान उनके पात्रो के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल है। उनके नाटकों मे आज की समस्या प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित होती है।

१३. राजनीतिक समस्याओं के अतिरिक्त अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य सम्बन्ध विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर है। ये सभी समस्याएँ उस पुरातन वातावरण मे पूरी तरह से सँजो दी गई है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्टजी प्रतिभाशाली कलाकार हे। उनके पास सजग कला, गतिशील कल्पना और सुन्दर सुरुचिपूर्ण रचना-कौशल है। उनकी कृतियों के रचना क्रम को देखकर उनकी नाट्यकला का सहज स्वाभाविक विकास सामने आ जाता है।

परिशिष्ट

खण्ड (क)

भट्टजी के नाटकों में आई हुई सूक्तियाँ

विद्रोहिणी अम्बा

१. दुःख की छोटी बहिन का नाम चिन्ता है। पृ० २४
२. विषाद से प्रेम का दूसरा नाम है मृत्यु से प्रेम। पृ० २६
३. पुरुष और स्त्री संसार की गाडी के दो पहिये है। पृ० ३०

सगर-विजय

४. मनुष्य की आकृति अन्तर का प्रतिबिम्ब है। पृ० १२
५. शत्रुता-मित्रता आपेक्षिक गुण है। पृ० १३
६. जीवन-रथ के दो पहिये है—एक पुरानी स्मृति और दूसरा नई आशा। पृ० १४
७. मानवता का सबसे बडा लक्षण है दुःखी के ऊपर दया। पृ० १८
८. क्रूरता सौन्दर्य के अक में सोती है। पृ० १६
९. अभिमान पाप का सबसे प्रिय मित्र है। पृ० २१
१०. मद पतन की खाई की पहली सीढी है। पृ० २१
११. मनुष्यता से गिरे हुए व्यक्ति छल-छिद्र से कार्य-सिद्धि की आशा करते है। पृ० २५
१२. मनुष्य-स्वभाव कितना भयकर होता है। पृ० २८
१३. रात्रि महाकाल का कृष्ण चक्षु है, ऊषा मृत्यु का आह्वान मन्त्र है। पृ० ३७
१४. कपट से विजय पानेवाले कभी उसकी रक्षा नही कर सकते। पृ० ३९
१५. अभिमान पतन का सबसे ऊँचा शिखर और पाताल की उल्टी पीठ है। पृ० ६३

१६. सुख-दु.ख तो जीवन का लक्षण है । पृ० ७२
१७. मानसिक जगत् के दो पहलू हैं—एक सुख, दूसरा दु.ख । पृ० ७२
१८. विवेक मनुष्य के दु ख को जलानेवाला अमोघ बाण है । पृ० ७४
१९. हार्दिक पश्चात्ताप के आँसू दृढता की भूमिका है । पृ० ७४
२०. जीवन घटनाओं का प्रतिबिम्ब है जिसमे संस्कार की तहे जमकर मनुष्य को बोझिल बना देती है । पृ० ७४
२१. सुख और दुःख के छोडने का नाम समाधि है और ज्ञान-अज्ञान से निस्पृह रहने का नाम विवेक है । पृ० ७५
२२. दुःख का अन्तिम उद्‌गार रुदन है जैसे प्राणो का अन्तिम सुख हास । पृ० ८०
२३. ससार मे विवेकही ऐसा है जो शत्रु को भी मित्र बना सकता है । पृ० ८१
२४. सृष्टि बडी विचित्र है । पृ० ९१
२५. विद्रोह से जीतनेवाले कभी विजयी नही हो सकते । पृ० ९३
२६. विभूतियाँ मनुष्य की शक्ति का एक छोटा-सा प्रकाश हैं । पृ० ९६
२७. राजा विलास की वस्तु नही । पृ० ९९
२८. मनुष्य का सस्कार-जन्य स्वभाव सिर पर चढकर बोलता है । पृ० १०२
२९. जीवन एक बुलबुले की तरह, फेन की तरह है । पृ० १०३
३०. कर्त्तव्य की जागरूकता सग्राम की महत्ता है । पृ० ११०
३१. जीवन एक सग्राम है ।

विक्रमादित्य

३२. युद्ध में कूटनीति ही अधिक विश्वसनीय है । पृ० १५
३३. ससार मे कूटनीति ही सबसे बडी नीति है । पृ० १५
३४. भ्रम का फैलाव आकाश बेल के समान है जिसकी जड़ें नही होती । पृ० १८
३५. रात-दिन की चरखी पर ओटी जानेवाली जीवन की कला रूपी रुई क्षण-क्षण घटती जाती है । पृ० २०
३६. गाढ़ान्धकार मे खद्योत का क्षणिक प्रकाश ही तो जीवन है । पृ० २१

३७. तृष्णा के अन्तस्तल में बैठी हुई इच्छा से संसार की उत्पत्ति है। पृ० २१

३८. स्मृति पत्र है, संस्कार लिखावट। पृ० २१

३९. विवेक की उत्तेजना विद्या का मद है और हृदय की उत्तेजना प्रेम का मद। पृ० २९

४०. प्रेम की अन्तिम गति ही अभिलाषा है। पृ० २९

४१. अतृप्ति एक नशा है। पृ० २९

४२. अनुराग आत्मा का गुण है। पृ० ३०

४३. विश्वास पर ही संसार की स्थिति है। पृ० ३३

४४. वीरता और सशय विरोधी गुण है। पृ० ४२

४५. क्षमा एक अमूल्य अवसर है। पृ० ४२

४६. अस्थिरता जीवन की विभूति है। पृ० ४८

४७. वैभव में विष है और आडम्बर मे नीरस सुख। पृ० ५८

मुक्तिदूत

४८. विचारों से ही मनुष्य का निर्माण होता है। पृ० २३

४९. कला सचमुच जीवन के विकास में सहायक शक्ति है। पृ० २५

५०. अज्ञान ही दुःख का कारण है। पृ० ५३

५१. न्याय बड़ा कठोर है। उसके आँखें नहीं है, हृदय नहीं है। वह यन्त्र है। पृ० ५६

५२. संसार कितना कटु है, कितना मीठा। पृ० ६७

दाहर अथवा सिन्ध-पतन

५३. आर्य लोग किसी निमन्त्रण को अस्वीकार नही करते। पृ० १८

५४. कृतज्ञता बन्धन का अमोघ है। पृ० ५८

शक-विजय

५५. सैनिक का जीवन मृत्यु की भूमिका है। पृ० ६०

अन्तहीन अन्त

५६. प्रेम का दूसरा नाम जीवन है। पृ० १५

५७. पाप पाताल से भी बोलता है। पृ० ५३

नया समाज

५८. जीवन प्रयोगों की माला है। पृ० १२

५९. जिन्दगी नदी का एक मीठा बहाव है। पृ० १२

६०. जहाँ प्रेम होता है वहाँ नफरत होती है। पृ० ६०

६१. वस्तुस्थिति से मुख मोडना मूर्खता है। पृ० ६५

पार्वती

६२. गरीबी मूर्खता की जननी है। पृ० २३

६३. दरिद्रता दुर्गुणो का भण्डार है। पृ० २४

६४ कुलीनता की पहचान शील से होती है। पृ० ३२

६५. मूर्खता उपद्रवो और ससार की खराबियो की जननी है। पृ० ३४

कमला

६६ असफलता मनुष्य की कमजोरी है। पृ० ३५

६७. मानवता का विकास भावना के सचित संस्करणो का फल है। पृ० ६५

पर्दे के पीछे

६८. स्त्री को उच्छृखल होने से बचानेवाली उसकी लाज है। पृ० ९

६९. ईश्वर पराकाष्ठा का नाम है। पृ० १७

७०. बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य का मनुष्य के लिए सदा से महत्त्व रहा है। पृ० १७

७१. मनुष्य का गौरव बड़ों को बड़ा मानने मे है। पृ० १८

७२. प्रेम शारीरिक सौन्दर्य नही, आत्म-सौन्दर्य है। पृ० ६८

७३. प्रेम अन्धा है। पृ० ७४

परिशिष्ट

खण्ड (ख)

भट्टजी का नाट्य-साहित्य

नाटक

१. 'विक्रमादित्य'—'ऐतिहासिक नाटक।
२. 'दाहर अथवा सिन्ध पतन'—,, ,, ।
३. 'विद्रोहिणी अम्बा'—पौराणिक नाटक।
४. 'सगर-विजय'— ,, ,, ।
५. 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य'—,,
६. 'कमला'—सामाजिक नाटक।
७. 'अन्तहीन अन्त'—" " ।
८. 'मुक्तिदूत'—ऐतिहासिक नाटक।
९. 'शक-विजय'—" " ।
१०. 'क्रान्तिकारी'—राजनीतिक नाटक।
११. 'नया समाज'—सामाजिक नाटक।
१२. 'अशोक वन बन्दिनी'—गीतिनाट्य।
१३. 'पार्वती'—सामाजिक नाटक।
१४. 'कालिदास,—रेडियो रूपक।
१५. 'मेघदूत'—" " ।
१६. 'विक्रमोर्वशी'—,, ,, ।
१७. 'एकला चलो रे'—,, ,, ।
१८. 'नहुष-निपात'—" " ।

एकांकी-संग्रह

१. 'आदिम युग और अन्य एकांकी'
२. 'अभिनव एकांकी'
३. 'स्त्री का हृदय'
४. 'समस्या का अन्त'
५. 'धूमशिखा'
६. 'पर्दे के पीछे'
७. 'आज का आदमी'
८. 'अन्धकार और प्रकाश'
९ 'जवानी और छः एकांकी'
१०. 'रात प्रहसन'
११. 'नारी के रूप'

परिशिष्ट

खण्ड (ग)

सहायक ग्रन्थों की सूची

दशरूपक—धनंजय वर्मा

रूपक रहस्य—श्यामसुन्दरदास

हिन्दी नाट्य विमर्श—गुलाबराय

भारतीय नाट्य-साहित्य—डा० नगेन्द्र

हिन्दी नाट्य-साहित्य—ब्रजरत्नदास

आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र

हिन्दी नाटक—डा० बच्चनसिंह

हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा

हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा—रामगोपालसिंह चौहान

हिन्दी नाटक का आलोचनात्मक अध्ययन—वेदपाल खन्ना

हिन्दी एकांकी और एकांकीकार—डा० रामचरण महेन्द्र

हिन्दी एकांकी—डा० सत्येन्द्र

नाटक एकांकी—प्रो० अमरनाथ गुप्त

रेडियो नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना

रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार

हिन्दी नाट्य परम्परा—श्रीकृष्णदास

हिन्दी एकांकी नाटकों का उद्भव और विकास—डा० रामचरण महेन्द्र

फुटकर आलोचनात्मक ग्रन्थ

साहित्य-सन्देश, आजकल तथा हिन्दी की अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नाटक सम्बन्धी लेख।

रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास

आधुनिक हिन्दी का साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल

हिन्दी नाट्य-चिन्तन—शिखरचन्द जैन

हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

हिन्दी पौराणिक-नाटक—देवर्षि सनाढ्य